तत्व
चिन्तामणि
भाग ६

तत्त्व
चिन्तामणि
[भाग ६]
जयदयाल गोयन्दका

मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २००७ से २०१० तक १५,२५०
सं० २०१५ तृतीय संस्करण ३,०००
कुल १८,२५०

मूल्य १) सजिल्द १।=)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

नम्र निवेदन

वर्तमान संसारके प्राणियोंकी गति उत्तरोत्तर अधोगामिनी हो रही है। लोक-परलोकके विनाशके लक्षण प्रत्यक्ष प्रकट हो रहे हैं। भगवान्‌पर अविश्वास बढ़ रहा है। धर्मके नामपर जहाँ एक ओर घोर पापकी वृद्धि हो रही है, वहाँ दूसरी ओर सच्चे धर्मके प्रति भी घृणा फैलायी जा रही है। धर्मके नामसे ही कुछ लोग तो नाक-भौं सिकोड़ने लगे हैं। समय बहुत भयंकर है, आज ह्रासको विकासका नाम देकर अनाचारका विस्तार किया जा रहा है! इस शोचनीय स्थितिमें अपने आदर्श पूर्वजोंके पवित्र चरित्रोंका अनुशीलन करने तथा भगवान्‌के स्वरूपका कुछ परिचय प्राप्त कर भजनमें प्रवृत्त होनेके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं सूझता। किसी भी प्रकार लोग भगवत्परायण होकर भजन करें और अपने पूर्वजोंके आचरणोंको अपनाना आरम्भ करें तो आशा की जा सकती है कि इस महान् पतनके प्रवाहसे किसी अंशमें हमारी रक्षा हो सकेगी। 'तत्त्व-चिन्तामणि'के इस छठे भागमें इसीलिये हमारे कुछ आदर्श महापुरुषों और सन्नारियोंके चरित्रोंका और साथ ही भगवान्‌के स्वरूप-तत्त्व एवं साधन-भजनसम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण विवेचनोंका संग्रह किया गया

है । इसमें प्रकाशित सभी लेखोंके अधिकारी लेखक हैं—परमार्थपथके प्रकाशदीप श्रीजयदयालजी गोयन्दका । 'तत्त्व-चिन्तामणि'के पूर्व-प्रकाशित पाँचों भागोंको पढ़कर जिन लोगोंने लाभ उठाया है, उनमेंसे कुछ लोगोंको अवश्य यह अनुभव हुआ होगा कि वे एक यथार्थ अधिकारी पुरुषकी वाणीसे कृतार्थ हो रहे हैं । अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं । पहलेकी भाँति इस छठे भागसे भी भारतके नर-नारी पारमार्थिक लाभ उठावेंगे, ऐसी आशा और प्रार्थना है ।

ज्येष्ठ शुक्ल १५ । २००७ वि०
गङ्गातट, ऋषिकेश, हिमालय

हनुमानप्रसाद पोद्दार
(कल्याण-सम्पादक)

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

विनय

मेरे लेख जो 'कल्याण'में प्रकाशित होते हैं, उनको पुस्तकाकारमें छापनेका कई एक भाइयोंका आग्रह रहता है। इसी उद्देश्यसे 'तत्त्व-चिन्तामणि'के नामसे पूर्वमें पाँच भाग प्रकाशित किये जा चुके हैं, इसी प्रकार यह छठा भाग निकाला जा रहा है। ये लेख श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराण आदि शास्त्रों, ईश्वर तथा भक्तोंके चरित्रों एवं सुनी-समझी हुई बातोंके आधारपर ही लिखे गये हैं। इन लेखोंमें शास्त्रोंके वचन होनेसे मुझको विश्वास है कि इनके अनुसार अनुष्ठान करनेसे मनुष्य विशेषरूपसे आध्यात्मिक लाभ उठा सकता है। पाठकगण इनको पढ़-सुनकर इनमें लिखी बातोंको काममें लावें तो बड़े आनन्दकी बात है। इनमें जो त्रुटियाँ रही हों, पाठकगण मुझे सूचित करनेकी कृपा करेंगे।

विनीत
जयदयाल गोयन्दका
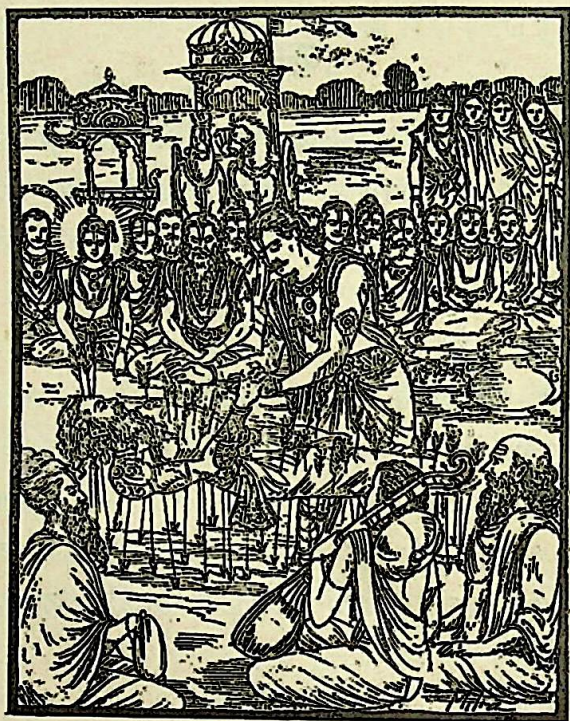
भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणा एवं शक्तिसे उन्होंने युधिष्ठिरको लगातार कई दिनोंतक वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, मोक्षधर्म, श्राद्धधर्म, दानधर्म और स्त्रीधर्म आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंपर उपदेश दिया।······उनका उपदेश सुननेके लिये व्यास आदि महर्षि भी उपस्थित हुए थे। [पृ० १६

विषय-सूची

चित्र-सूची

द्रौपदीको सान्त्वना

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

महात्मा भीष्मपितामह

महात्मा भीष्म प्रसिद्ध कुरुवंशी महाराज शान्तनुके पुत्र थे। वे गङ्गादेवीसे उत्पन्न हुए थे। वसु नामक देवताओंमें 'द्यौ' नामके वसु ही महर्षि वसिष्ठके शापसे भीष्मके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने कुमारावस्थामें ही साङ्गोपाङ्ग वेदोंका अध्ययन तथा अस्त्रोंका अभ्यास कर लिया था। अस्त्रोंका अभ्यास करते हुए उन्होंने एक बार अपने बाणोंके प्रभावसे गङ्गाकी धाराको ही रोक दिया था। उन्हें बचपनमें लोग देवव्रत कहते थे।

एक दिन राजर्षि शान्तनु वनमें विचर रहे थे। उनकी दृष्टि एक सुन्दरी कैवर्तराजकी कन्यापर पड़ी, जिसका नाम सत्यवती था और उसपर वे आसक्त हो गये। उन्होंने उससे विवाह करना चाहा। सत्यवती थी तो एक राजकन्या, परन्तु वह कैवर्तराजके घर पली थी। उसके पिता कैवर्तराजने उसके विवाहके लिये राजाके सामने यह शर्त रक्खी कि उसके गर्भसे जो पुत्र हो, वही राज्यका अधिकारी हो। राजाने उसकी यह शर्त मंजूर नहीं की। परंतु वे उस कन्याको भी

न भुला सके। वे उसीको पानेकी चिन्तामें उदास रहने लगे। देवव्रतको जब उनकी उदासीका कारण ज्ञात हुआ, तो वे स्वयं कैवर्तराजके पास गये और उससे स्वयं अपने पिताके लिये कन्याकी याचना की। उन्होंने उसकी शर्त मंजूर करते हुए सबके सामने यह प्रतिज्ञा की कि 'इसके गर्भसे जो पुत्र होगा, वही हमारा राजा होगा!' परन्तु कैवर्तराजको इतनेपर भी सन्तोष नहीं हुआ। उसने कहा—'आपका वचन तो कभी अन्यथा नहीं होनेका, परन्तु आपका पुत्र राज्यका अधिकारी हो सकता है।' इसपर देवव्रतने उसी समय यह दूसरी कठिन प्रतिज्ञा की कि 'मैं आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा।' कुमार देवव्रतकी इस भीष्म-प्रतिज्ञाको सुनकर देवताओंने पुष्पवर्षा की और तभीसे उन्हें लोग 'भीष्म' कहने लगे। भीष्मने सत्यवतीको ले जाकर अपने पिताको सौंप दिया। भीष्मका यह दुष्कर कार्य सुनकर राजा शान्तनु बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने पुत्रको इच्छा-मृत्युका वरदान दिया। इस प्रकार भीष्मने जीवनके आरम्भमें ही पिताकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये संसारके सामने अलौकिक त्यागका आदर्श उपस्थित किया। जिस राज्यके लिये उनकी दो ही पीढ़ीके बाद उन्हींके बेटों-पोतोंमें तथा उन्हींकी उपस्थितिमें भीषण संहारकारी महायुद्ध हुआ, उसी राज्यको उन्होंने बात-की-बातमें अपने पिताकी एक मामूली-सी इच्छापर न्यौछावर कर दिया। जिन कामिनी-काञ्चनके लिये संसारके इतिहासमें न जाने कितनी बार खून-खराबा हुआ है और राज्य-के-राज्य ध्वंस हो गये हैं, उनका सदाके लिये तृणवत् परित्याग कर उन्होंने एक विरक्त महात्माका-सा आचरण किया। धन्य पितृभक्ति!

सत्यवतीके गर्भसे महाराज शान्तनुके दो पुत्र हुए। बड़ेका नाम

था चित्राङ्गद और छोटेका विचित्रवीर्य। अभी चित्राङ्गद जवान नहीं हो पाये थे कि राजा शान्तनु इस लोकसे चल बसे। चित्राङ्गद राजा हुए, परन्तु वे कुछ ही दिनों बाद गन्धर्वोंके साथ युद्ध करते हुए मारे गये। विचित्रवीर्य भी अभी बालक ही थे, अतः वे भीष्मकी देख-रेखमें राज्यका शासन करने लगे। कुछ दिनों बाद भीष्मको विचित्रवीर्यके विवाहकी चिन्ता हुई। उन्हीं दिनों काशीनरेशकी तीन कन्याओंका स्वयंवर होने जा रहा था। भीष्म अकेले ही रथपर सवार हो काशी पहुँचे। उन्होंने अपने भाईके लिये बलपूर्वक कन्याओंको हरकर अपने रथपर बिठा लिया और उन्हें हस्तिनापुर ले चले। इसपर स्वयंवरके लिये एकत्र हुए सभी राजालोग उनपर टूट पड़े, परन्तु उन राजाओंकी एक भी न चली। उन्होंने अकेले ही सबको परास्त कर दिया और कन्याओंको लाकर विचित्रवीर्यके अर्पण कर दिया। उस समय संसारको उनके अलौकिक पराक्रम तथा अस्त्रकौशलका प्रथम बार परिचय मिला।

भीष्म काशिराजकी जिन तीन कन्याओंको हरकर ले आये थे, उनमें सबसे बड़ी कन्या अम्बा मन-ही-मन राजा शाल्वको वर चुकी थी। भीष्मको जब यह मालूम हुआ, तो उन्होंने अम्बाको वहाँसे विदा कर दिया और शेष दो कन्याओंका विचित्रवीर्यसे विवाह कर दिया। परन्तु विचित्रवीर्य अधिक दिन जीवित न रहे। विवाहके कुछ ही वर्षों बाद वे क्षयरोगके शिकार हो इस संसारसे चल बसे। उनके कोई सन्तान न थी। फलतः कुरुवंशके उच्छेदका प्रसङ्ग उपस्थित हो गया। भीष्म चाहते तो बड़ी आसानीसे राज्यपर अधिकार कर सकते थे। प्रजा उनके अनुकूल थी ही। वंशरक्षाके लिये विवाह करनेमें भी अब उनके सामने कोई अड़चन नहीं थी। परन्तु बड़े-से-बड़ा प्रलोभन तथा आवश्यकता भी

भीष्मको उनके वचनसे नहीं डिगा सकीं। सत्यवतीके पितासे की हुई प्रतिज्ञाको दुहराते हुए एक समय उन्होंने कहा था—'मैं त्रिलोकीका राज्य, ब्रह्माका पद और इन दोनोंसे अधिक मोक्षका भी परित्याग कर सकता हूँ, पर सत्यका त्याग नहीं कर सकता। पाँचों भूत अपने-अपने गुणोंको त्याग दें, चन्द्रमा शीतलता छोड़ दे; और तो क्या, स्वयं धर्मराज भले ही अपना धर्म छोड़ दें; परन्तु मैं अपनी सत्यप्रतिज्ञा छोड़नेका विचार भी नहीं कर सकता।' प्रतिज्ञाका पालन हो तो ऐसा हो!

इधर अम्बाको शाल्वने स्वीकार नहीं किया। वह न इधरकी रही, न उधरकी। लज्जाके मारे वह पिताके घर भी न जा सकी। अपनी इस दुर्दशाका कारण भीष्मको समझकर वह मन-ही-मन उन्हें कोसने और उनसे बदला लेनेका उपाय सोचने लगी। अपने नाना राजर्षि होत्रवाहनकी सलाहसे वह जमदग्निनन्दन परशुरामकी शरण गयी और उनसे अपने दुःखका कारण निवेदन किया। भीष्मने परशुरामसे अस्त्रविद्या सीखी थी। उन्होंने भीष्मको कुरुक्षेत्र बुलाकर कहा कि 'इस कन्याका बलपूर्वक स्पर्श करके तुमने इसे दूषित कर दिया है; इसलिये शाल्वने इसे स्वीकार नहीं किया। अतः अब तुम्हींको इसका विधिपूर्वक पाणिग्रहण करना होगा।' भीष्मने उनकी बात स्वीकार नहीं की। उन्होंने कहा कि 'इस कन्याने ही मुझसे कहा था कि मैं शाल्वकी हो चुकी हूँ। ऐसी हालतमें मैं उसे कैसे रख सकता था; जिसका दूसरे पुरुषपर प्रेम है, उसे कोई धार्मिक पुरुष कैसे रख सकता है?' अब तो परशुराम आगबबूला हो गये। उन्होंने कहा—'भीष्म! तुम जानते नहीं कि मैंने इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे हीन कर दिया था?' भीष्मने कहा—'गुरुजी! उस समय भीष्म पैदा नहीं हुए

थे।' यह सुनकर उन्होंने भीष्मको युद्धके लिये ललकारा। भीष्मने उनकी चुनौती स्वीकार कर ली। फिर तो गुरु-शिष्यमें भयङ्कर युद्ध छिड़ गया। तेईस दिनोंतक लगातार युद्ध होता रहा। परन्तु किसीने भी हार नहीं मानी। अन्तमें देवताओंने तथा मुनियोंने बीचमें पड़कर युद्ध बंद करा दिया। इस प्रकार भीष्मने परशुरामकी बात भी न मानकर अपने सत्यकी रक्षा की तथा अपने अद्भुत पराक्रमसे परशुराम-जैसे अद्वितीय धनुर्धरके भी छक्के छुड़ा दिये। सत्यप्रतिज्ञता और वीरताकी पराकाष्ठा हो गयी।

महाभारत-युद्धमें कौरवपक्षके सर्वश्रेष्ठ योद्धा भीष्म ही थे। अतएव कौरव-दलके प्रथम सेनानायक होनेका गौरव उन्हींको प्राप्त हुआ। पाण्डव एवं कौरव—दोनोंके पितामह होनेके नाते उनका दोनोंके प्रति समान प्रेम एवं सहानुभूति थी तथा दोनोंका ही समानरूपमें वे हित चाहते थे। फिर भी यह जानकर कि धर्म एवं न्याय पाण्डवोंके ही पक्षमें है, वे पाण्डवोंके साथ विशेष सहानुभूति रखते थे और हृदयसे उनकी विजय चाहते थे। परन्तु हृदयसे पाण्डवोंके पक्षपाती होनेपर भी उन्होंने युद्धमें कभी पाण्डवोंके साथ रियायत नहीं की और प्राणपणसे उन्हें जीतनेकी चेष्टा की। युद्धके अठारह दिनोंमेंसे दस दिनोंतक अकेले भीष्मने कौरवोंका सेनानायकत्व किया और इस बीच पाण्डव-पक्षकी बहुत-सी सेनाका संहार कर डाला। वृद्ध होते हुए भी युद्धमें उन्होंने ऐसा अद्भुत पराक्रम दिखाया कि दो बार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णको शस्त्र न लेनेकी प्रतिज्ञा होते हुए भी अर्जुनकी रक्षाके लिये उनके मुकाबलेमें खड़ा होना पड़ा। अर्जुनका बल क्षीण होते देख एक बार तो वे चक्र लेकर उनके सामने दौड़े और दूसरी बार

चाबुक लेकर उन्होंने भीष्मको ललकारा; और इस प्रकार एक भक्तके प्राणोंकी रक्षा करते हुए दूसरे भक्तके गौरवको बढ़ाकर अपने उभयतोमुखी भक्तवत्सलताका परिचय दिया। अन्तमें पाण्डवोंने जब देखा कि भीष्मके रहते कौरवोंपर विजय पाना असम्भव-सा है, तब उन्होंने स्वयं पितामहसे उनकी मृत्युका उपाय पूछा और उन्होंने दया करके उसे बता दिया। उन्होंने बताया कि 'द्रुपदकुमार शिखण्डी स्त्रीरूपमें जन्मा था; इसलिये यद्यपि वह अब पुरुषके रूपमें बदल गया है, फिर भी मेरी दृष्टिमें वह स्त्री ही है। ऐसी दशामें उसपर मैं शस्त्र नहीं उठा सकता। वह यदि मेरे सामने युद्ध करने आयेगा तो मैं शस्त्र नहीं चलाऊँगा। उस समय मुझे अर्जुन मार सकता है।' क्षत्रियधर्मके पालन और वीरताका उदाहरण इससे बढ़कर क्या होगा ?

जिस समय युद्धमें मर्माहत होकर भीष्म धराशायी हुए, उस समय उनका रोम-रोम बाणोंसे बिंध गया था। उन्हीं बाणोंपर वे सो गये, धरतीसे उनका स्पर्श नहीं हुआ। उस समय सूर्य दक्षिणायनमें थे। दक्षिणायनको देहत्यागके लिये उपयुक्त काल न समझकर वे अयन-परिवर्तनके समयतक उसी शरशय्यापर पड़े रहे; पिताके वरदानसे मृत्यु तो उनके अधीन थी ही। भीष्मजीके गिरते ही उस दिन युद्ध बंद हो गया। कौरव तथा पाण्डव वीर भीष्मजीको घेरकर उनके चारों ओर खड़े हो गये। भीष्मजीका सारा शरीर बाणोंसे संलग्न था, केवल उनका शिर नीचे लटक रहा था, उसके लिये उन्होंने कोई सहारा माँगा। लोगोंने उत्तमोत्तम तकिये लाकर उनके सामने रख दिये, परन्तु उन्हें वे पसंद नहीं आये। उन्होंने

अर्जुनसे कहा—'बेटा ! तुम क्षत्रियधर्मको जानते हो; इसलिये मेरे अनुरूप तकिया लगा दो ।' अर्जुन उन वीरशिरोमणिके अभिप्रायको समझ गये । वीरोंके संकेत वीर ही समझ सकते हैं । उन्होंने बाण मारकर भीष्मजीके मस्तकको ऊँचा कर दिया, उन बाणोंपर उनका मस्तक टिक गया । इधर दुर्योधनने बाण निकालनेमें कुशल वैद्योंको भीष्मजीकी चिकित्साके लिये बुलवाया, परन्तु पितामहने उन सबको सम्मानपूर्वक लौटा दिया । गौरवमयी वीरगतिको पाकर उन्होंने चिकित्सा करानेमें अपना अपमान समझा । सब लोग उनके असाधारण शौर्य, सहिष्णुता और साहसको देखकर दंग रह गये । उस समय भी युद्ध बंद कराने तथा दोनों पक्षोंमें शान्ति स्थापन करनेकी उन्होंने पूरी चेष्टा की, परन्तु उसमें वे सफल नहीं हुए । दैवका ऐसा ही विधान था, उसे कौन टाल सकता था ।

बाणोंकी असह्य वेदनासे भीष्मजीका गला सूख रहा था, उनका सारा शरीर जल रहा था । उन्होंने पीनेके लिये पानी माँगा । लोगोंने झारियोंमें भर-भरकर शीतल और सुगन्धित जल उनके सामने उपस्थित किया । भीष्मजीने उसे लौटा दिया । उन्होंने कहा कि 'पहले भोगे हुए मानवीय भोगोंको अब मैं स्वीकार नहीं कर सकता; क्योंकि इस समय मैं शरशय्यापर पड़ा हुआ हूँ ।' फिर उन्होंने अर्जुनको बुलाकर कहा—'बेटा ! तुम्हीं मुझे विधिवत् जल पिला सकते हो । अर्जुनने 'जो आज्ञा' कहकर अपने भाथेमेंसे एक दमकता हुआ बाण निकाला और उसे पर्जन्यास्त्रसे संयोजित कर भीष्मके बगलवाली जमीनपर मारा । उसी समय सबके देखते-देखते पृथ्वीमेंसे

दिव्यजलकी एक धारा निकली और वह ठीक भीष्मजीके मुखमें गिरने लगी। अमृतके समान उस जलको पीकर भीष्मजी तृप्त हो गये और अर्जुनके उस कर्मकी उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसी समयसे भीष्मने अन्न-जलका त्याग कर दिया और फिर जितने दिन वे जीवित रहे, बाणोंकी मर्मान्तक पीड़ाके साथ-साथ भूख-प्यासकी असह्य वेदना भी सहते रहे। इस प्रकार उन्होंने वीरताके साथ-साथ धैर्य एवं सहन-शक्तिकी भी पराकाष्ठा दिखा दी।

महामना भीष्म केवल आदर्श पितृभक्त, आदर्श सत्यप्रतिज्ञ एवं आदर्श वीर ही नहीं थे, वे शास्त्रोंके महान् ज्ञाता, धर्म एवं ईश्वरके तत्त्वको जाननेवाले एवं महान् भगवद्भक्त भी थे। उनके अगाध ज्ञानकी प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने यहाँतक कह दिया कि 'आपके इस लोकसे चले जानेपर सारे ज्ञान लुप्त हो जायँगे; संसारमें जो सन्देहग्रस्त विषय हैं, उनका समाधान करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है' इत्यादि। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणा एवं शक्तिसे उन्होंने युधिष्ठिरको लगातार कई दिनोंतक वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, मोक्षधर्म, श्राद्धधर्म, दानधर्म और स्त्रीधर्म आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंपर उपदेश दिया, जो महाभारतके शान्तिपर्व तथा अनुशासन-पर्वमें संगृहीत है। साक्षात् धर्मके अंशसे उत्पन्न तथा धर्मकी प्रत्यक्ष-मूर्ति महाराज युधिष्ठिरकी धर्मविषयक शङ्काओंका निवारण करना पितामह भीष्मका ही काम था। उनका उपदेश सुननेके लिये व्यास आदि महर्षि भी उपस्थित हुए थे।

भगवान् श्रीकृष्णके माहात्म्य एवं प्रभावका ज्ञान जैसा भीष्मको

था, वैसा उस समय बहुत कम लोगोंको था। धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन-को उन्होंने कई बार श्रीकृष्णकी महिमा सुनायी थी। राजसूय यज्ञमें अग्रपूजाके लिये श्रीकृष्णको ही सर्वोत्तम पात्र सिद्ध करते हुए उन्होंने भरी सभामें श्रीकृष्णकी महिमा गायी थी और उन्हें साक्षात् ईश्वर बतलाया था। श्रीकृष्ण जब अर्जुनकी ओरसे चक्र लेकर उनके सामने दौड़े तब उन्होंने उनके हाथसे मरनेमें अपना गौरव समझकर शस्त्रोंके द्वारा ही उनकी पूजा करनेके लिये उनका आवाहन किया। उन्होंने युधिष्ठिरको भगवान् विष्णुका जो सहस्रनाम-स्तोत्र सुनाया, उससे उनकी भगवद्भक्ति तथा भगवत्तत्त्व-ज्ञानका स्पष्ट परिचय मिलता है। आज भी उस विष्णुसहस्रनामका भक्तोंमें बड़ा आदर है। स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने गीता, उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्रोंकी भाँति उसपर भी विस्तृत भाष्य लिखा है। उनकी भक्तिका ही यह फल था कि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णने अन्त समयमें उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान, सदाचार—जिस ओरसे भी हम भीष्मके चरित्रपर दृष्टि डालते हैं, उसी ओरसे हम उसे आदर्श पाते हैं। भीष्मकी कोटिके महापुरुष संसारके इतिहासमें इने-गिने ही पाये जाते हैं। यद्यपि भीष्म अपुत्र ही मरे, फिर भी सारे त्रैवर्णिक हिंदू आजतक पितरोंका तर्पण करते समय उन्हें जल देते हैं। यह गौरव भारतके इतिहासमें और किसीको भी प्राप्त नहीं है। इसीलिये सारा जगत् आज भी उन्हें पितामहके नामसे पुकारता है। भीष्मकी-सी अपुत्रता बड़े-बड़े पुत्रवानोंके लिये भी ईर्ष्याकी वस्तु है।

धर्मराज युधिष्ठिर

महाराज युधिष्ठिर भी पितामह भीष्मकी ही भाँति अत्यन्त उच्च कोटिके महापुरुष थे। ये साक्षात् धर्मके अंशसे उत्पन्न हुए थे और धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप थे। इसीसे लोग इन्हें धर्मराजके नामसे पुकारते थे। इनमें सत्य, क्षमा, धैर्य, स्थिरता, सहिष्णुता, शूरवीरता, गम्भीरता, नम्रता, दयालुता और अविचल प्रेम आदि अनेकों लोकोत्तर गुण थे। ये अपने शील, सदाचार तथा विचारशीलताके कारण बचपनमें ही अत्यधिक लोकप्रिय हो गये थे। जब ये बहुत छोटे थे, तभी इनके पिता महात्मा पाण्डु स्वर्गवासी हो गये। तभीसे ये अपने ताऊ धृतराष्ट्रको ही पिताके तुल्य मानकर उनका बड़ा आदर करते थे और उनकी किसी भी आज्ञाको नहीं टालते थे। परंतु धृतराष्ट्र अपने कुटिल स्वभावके कारण इनके गुणोंकी प्रशंसा सुन-सुनकर मन-ही-मन इनसे कुढ़ने लगे। उनका पुत्र दुर्योधन चाहता था कि किसी तरह पाण्डव कुछ दिनोंके लिये हस्तिनापुरसे हट जायँ तो उनकी अनुपस्थितिमें उनके पैतृक अधिकारको छीनकर मैं स्वयं राजा बन बैठूँ। उसने अपने अंधे एवं प्रज्ञाहीन पिताको समझाकर इसके लिये राजी कर लिया। धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको बुलाकर उन्हें मेला देखनेके बहाने वारणावत जानेके लिये कहा। उन्होंने उनकी आज्ञा समझकर इसपर कोई आपत्ति नहीं की और चुपचाप अपनी माता कुन्तीके साथ पाँचों भाई वारणावत चले गये। इन्हें जला डालनेके लिये पहलेसे ही वहाँ दुर्योधनने एक

लाक्षाभवन तैयार करवा रक्खा था। उसीमें इन्हें रहनेकी आज्ञा हुई। उसमें आग लगा दी गयी, पर चाचा विदुरकी सहायतासे ये लोग पहले ही वहाँसे किसी प्रकार अपने प्राण बचाकर भाग निकले और इन्होंने जंगलकी शरण ली। पीछेसे धृतराष्ट्रके पुत्रोंने इन्हें मरा समझकर हस्तिनापुरके राज्यपर चुपचाप अधिकार कर लिया।

कुछ दिनोंके बाद द्रौपदीके स्वयंवरमें जब पाण्डवोंका रहस्य खुला, तब धृतराष्ट्रके पुत्रोंको यह पता लगा कि पाण्डव अभी जीवित हैं। तब तो धृतराष्ट्रने विदुरको भेजकर पाण्डवोंको हस्तिनापुर बुलवा लिया और अपने पुत्रोंके साथ उनका झगड़ा मिटा देनेके लिये आधा राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थमें रहनेका प्रस्ताव उनके सामने रक्खा। युधिष्ठिरने उनकी यह आज्ञा भी स्वीकार कर ली और ये अपने भाइयोंके साथ खाण्डवप्रस्थमें रहने लगे। वहाँ इन्होंने अपनी एक अलग राजधानी बसा ली, जिसका नाम इन्द्रप्रस्थ रक्खा गया। इन्द्रप्रस्थमें इन्होंने एक राजसूय यज्ञ किया, जिसमें बड़े-बड़े राजाओंने आकर इन्हें बहुमूल्य उपहार दिये और अपना सम्राट् स्वीकार किया।

परन्तु दुर्योधन इनके वैभवको देखकर जलने लगा। उसने एक विशाल सभाभवन तैयार कराकर पाण्डवोंको जुएके लिये आमन्त्रित किया। धृतराष्ट्रकी आज्ञा मानकर युधिष्ठिरने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और वहाँ दुर्योधनके मामा शकुनिकी कपटभरी चालोंसे ये अपना सर्वस्व हार बैठे। यहाँतक कि भरी सभामें राजरानी द्रौपदीका घोर अपमान किया गया। फिर भी धृतराष्ट्रके प्रति युधिष्ठिरका वही भाव बना रहा। धृतराष्ट्रने भी इनको इनका सारा धन और राज्य लौटा दिया और इन्हें पुनः इन्द्रप्रस्थके लिये विदा कर दिया।

दुर्योधनको यह बहुत बुरा लगा । उसने धृतराष्ट्रको समझा-बुझाकर इस बातके लिये सहमत कर लिया कि दूत भेजकर पाण्डवोंको फिरसे बुलाया जाय और उनसे वनवासकी शर्तपर पुनः जुआ खेला जाय । युधिष्ठिर जुएका दुष्परिणाम एक बार देख चुके थे तथा कौरवोंकी नीयतका भी पता उन्हें चल गया था, फिर भी अपने ताऊकी आज्ञाको वे टाल नहीं सके और बीचमेंसे ही लौट आये । अबकी बार भी युधिष्ठिर ही हारे और फलतः इन्हें सब कुछ छोड़कर अपने भाइयों तथा राजरानी द्रौपदीके साथ बारह वर्षके वनवास तथा एक वर्षके अज्ञातवासके लिये जाना पड़ा । पिता (ताऊ) के आज्ञापालनरूप धर्मके निर्वाहके लिये इन्होंने सब कुछ चुपचाप सह लिया । धन्य पितृभक्ति !

महाराज युधिष्ठिर बड़े ही धर्मभीरु एवं सहनशील थे । ये सब प्रकारकी हानि सह सकते थे, परंतु धर्मकी हानि इन्हें सह्य नहीं थी । प्रथम बार जुएमें जब ये अपने चारों भाइयोंको तथा अपने-आपको एवं द्रौपदीतकको हार गये और कौरवलोग भरी सभामें द्रौपदीका तिरस्कार करने लगे, उस समय भी धर्मपाशसे बँधे रहनेके कारण इन्होंने चूँतक नहीं किया और चुपचाप सब कुछ सह लिया । कोई सामान्य मनुष्य भी अपनी आँखोंके सामने अपनी पत्नीकी इस प्रकार दुर्दशा होते नहीं देख सकता । इन्हींके भयसे इनके भाई भी कुछ नहीं बोले और जी मसोसकर रह गये । ये लोग चाहते तो बलपूर्वक उस अमानुषी अत्याचारको रोक सकते थे । परंतु यही सोचकर कि धर्मराज द्रौपदीको स्वेच्छासे दाँवपर रखकर हार गये हैं, ये लोग चुप रहे । जिस द्रौपदीको इनके सामने कोई आँख उठाकर भी देख लेता

तो उसे अपने प्राणोंसे हाथ धोने पड़ते, उसी द्रौपदीकी दुर्दशा इन्होंने अपनी आँखोंसे देखकर भी उसका प्रतिकार नहीं किया। युधिष्ठिर यह भी जानते थे कि शकुनिने उन्हें कपटपूर्वक जीता है, फिर भी इन्होंने अपनी ओरसे धर्मका त्याग करना उचित नहीं समझा। इन्होंने सब कुछ सहकर भी सत्य और धर्मकी रक्षा की। धर्मप्रेम और सहनशीलताका इससे बड़ा उदाहरण जगत्में शायद ही कहीं मिले।

जब पाण्डवलोग दूसरी बार भी जुएमें हार गये और वनमें जाने लगे, उस समय हस्तिनापुरकी प्रजाको बड़ा दुःख हुआ। सब लोग कौरवोंको कोसने लगे और नगरवासी बहुत बड़ी संख्यामें अपने घर-परिवारको छोड़कर इनके साथ चलनेके लिये इनके पीछे हो लिये। उस समय भी धर्मराजने कौरवोंके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा और सब लोगोंको किसी प्रकार समझा-बुझाकर लौटाया। फिर भी बहुत-से ब्राह्मण जबरदस्ती इनके साथ हो लिये। उस समय धर्मराजको यह चिन्ता हुई कि 'इतने ब्राह्मण मेरे साथ चल रहे हैं, इनके भोजनकी क्या व्यवस्था होगी?' इन्हें अपने कष्टोंकी तनिक भी परवा नहीं थी, परंतु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकते थे। अन्तमें इन्होंने भगवान् सूर्यकी आराधना करके उनसे एक ऐसा पात्र प्राप्त किया, जिसमें पकाया हुआ थोड़ा-सा भी भोजन अक्षय हो जाता। उसीसे ये वनमें रहते हुए भी अतिथि-ब्राह्मणोंको भोजन कराकर पीछे स्वयं भोजन करते। वनवासके कष्ट भोगते हुए भी इन्होंने आतिथ्य-धर्मका यथोचित पालन किया। महाराज युधिष्ठिरके इसी धर्मप्रेमसे आकर्षित होकर बड़े-बड़े महर्षि इनके वनवासके समय इनके पास आकर रहते और यज्ञादि नाना प्रकारके धर्मानुष्ठान करते।

महाराज युधिष्ठिर अजातशत्रुके नामसे प्रसिद्ध थे । इनका वास्तवमें किसीके साथ वैर नहीं था । शत्रुओंके प्रति भी इनके हृदयमें सदा सद्भाव ही रहा करता था । शत्रु भी इनकी दृष्टिमें सेवा और सहानुभूतिके ही पात्र थे । अपकार करनेवालेका भी उपकार करना—यही तो संतका सबसे बड़ा लक्षण है । 'उमा संत कै इहइ बड़ाई । मंद करत सो करत भलाई ॥'—गोस्वामी तुलसीदासजीकी यह उक्ति महाराज युधिष्ठिरमें पूरी तरह चरितार्थ होती थी । एक बारकी बात है—जब पाण्डव द्वैतवनमें थे, घोषयात्राके बहाने राजा दुर्योधन अपने मन्त्रियों, भाइयों, रनिवासकी स्त्रियों तथा बहुत बड़ी सेनाको साथ लेकर वनवासी पाण्डवोंको अपने वैभवसे जलानेके पापपूर्ण उद्देश्यसे उस वनमें पहुँचा । वहाँ जलक्रीडाके विचारसे वह उस सरोवरके तटपर पहुँचा, जहाँ महाराज युधिष्ठिर कुटी बनाकर रहते थे । सरोवरको गन्धर्वोंने पहलेसे ही घेर रक्खा था । उनके साथ दुर्योधनकी मुठभेड़ हो गयी । बस, दोनों ओरसे बड़ा भीषण और रोमाञ्चकारी युद्ध छिड़ गया । विजय गन्धर्वोंकी ओर रही । उन लोगोंने रानियों-सहित दुर्योधनको कैद कर लिया । जब महाराज युधिष्ठिरको यह समाचार मिला तो इन्होंने अपने भाइयोंको आज्ञा दी कि 'तुम सब लोग जाकर बलपूर्वक राजा दुर्योधनको छुड़ा लाओ । माना कि वे लोग हमारे शत्रु हैं, परंतु इस समय विपत्तिमें हैं । इस समय उनके अपराधोंको भुलाकर उनकी सहायता करना ही हमारा धर्म है । शत्रुता रखते हैं तो क्या हुआ, आखिर हैं तो हमारे भाई ही । हमारे रहते दूसरे लोग इनकी दुर्दशा करें, यह हमलोग कैसे देख सकते हैं ।' बस, फिर क्या था । अर्जुनने बाणवर्षासे गन्धर्वोंके छक्के छुड़ा दिये और

दुर्योधनको भाइयों तथा रानियोंसहित उनके बन्धनसे छुड़ा लिया। दुर्योधनकी दुरभिसन्धिको जानकर देवराज इन्द्रने ही दुर्योधनको बाँध ले आनेके लिये गन्धर्वोंको भेजा था। महाराज युधिष्ठिरके विशाल हृदयको देखकर वे सब दंग रह गये। धन्य अजातशत्रुता !

एक समयकी बात है, द्रौपदीको आश्रममें अकेली छोड़कर पाण्डव वनमें चले गये थे। पीछेसे दुर्योधनका बहनोई सिन्धुराज जयद्रथ उधर आ निकला। द्रौपदीके अनुपम रूप-लावण्यको देखकर उसका मन बिगड़ गया। उसने द्रौपदीके सामने अपना पापपूर्ण प्रस्ताव रक्खा, किन्तु द्रौपदीने उसे तिरस्कारपूर्वक ठुकरा दिया। तब तो उसने द्रौपदीको खींचकर जबर्दस्ती अपने रथपर बिठा लिया और ले भागा। पीछेसे पाण्डवोंको जब जयद्रथकी इस शैतानीका पता लगा तो उन्होंने उसका पीछा किया और थोड़ी ही देरमें उसे जा दबाया। पाण्डवोंने बात-की-बातमें उसकी सारी सेनाको तहस-नहस कर डाला। पापी जयद्रथने भयभीत होकर द्रौपदीको रथसे नीचे उतार दिया और स्वयं प्राण बचाकर भागा। भीमसेनने उसका पीछा किया और थोड़ी ही देरमें उसे पकड़कर धर्मराजके सामने ला उपस्थित किया। धर्मराजने सम्बन्धी समझकर दयापूर्वक उसे छोड़ दिया और इस प्रकार अपनी अद्भुत क्षमाशीलता एवं दयालुताका परिचय दिया।

महाराज युधिष्ठिर बड़े भारी बुद्धिमान्, नीतिज्ञ और धर्मज्ञ तो थे ही; उनमें समता भी अद्भुत थी। एक समयकी बात है—जिस वनमें पाण्डव रहते थे, उसमें एक ब्राह्मणके अरणिसहित मन्थन-काष्ठसे, जो किसी वृक्षकी शाखापर टँगा हुआ था, एक हरिन अपना

सींग खुजलाने लगा। वह काष्ठ उसके सींगमें फँस गया। हरिन उसे लेकर भागा। मन्थनकाष्ठके न रहनेसे अग्निहोत्रमें बाधा आती देख ब्राह्मण पाण्डवोंके पास गया और उनसे उस मन्थनकाष्ठको ला देनेकी प्रार्थना की। धर्मराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयोंको साथ लेकर मृगके पीछे भागे, परन्तु देखते-ही-देखते वह उनकी आँखोंसे ओझल हो गया। पाण्डव बहुत थक गये थे। प्यास उन्हें अलग सता रही थी, धर्मराजकी आज्ञा पाकर नकुल पानीकी तलाशमें गये। थोड़ी ही दूरपर उन्हें एक सुन्दर जलाशय मिला। उसके समीप जाकर ज्यों ही वे जल पीनेके लिये झुके कि उन्हें यह आकाशवाणी सुनायी दी—'पहले मेरे प्रश्नका उत्तर दो, तब जल पीना।' परन्तु नकुलको बड़ी प्यास लगी थी। उन्होंने आकाशवाणीकी कोई परवा नहीं की। फलतः पानी पीते ही वे निर्जीव होकर जमीनपर लोट गये। तदनन्तर धर्मराजने क्रमशः सहदेव, अर्जुन और भीमसेनको भेजा; परन्तु उन तीनोंकी भी वही दशा हुई। अन्तमें धर्मराज स्वयं उस तालाबपर पहुँचे। इन्होंने भी वही आवाज सुनी और साथ ही अपने चारों भाइयोंको निश्चेष्ट होकर जमीनपर पड़े देखा। इतनेमें ही इन्हें एक विशालकाय यक्ष दीख पड़ा। उसने युधिष्ठिरको बतलाया कि 'मेरे प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही जल पीनेके कारण तुम्हारे भाइयोंकी यह दशा हुई है। यदि तुम भी ऐसी अनधिकार चेष्टा करोगे तो मारे जाओगे।' युधिष्ठिर उनके प्रश्नोंका उत्तर देनेको तैयार हो गये। यक्षने जो-जो प्रश्न युधिष्ठिरसे किये, सबका समुचित उत्तर देकर युधिष्ठिरने यक्षका अच्छी तरह समाधान कर दिया। इनके उत्तरोंसे प्रसन्न होकर यक्ष बोला—'राजन्! अपने भाइयोंमेंसे जिस किसी एकको

तुम जिलाना चाहो, उसे मैं जीवित कर दूँ ।' धर्मराजने नकुलको जीवित देखना चाहा । कारण पूछनेपर इन्होंने बताया कि 'मेरे पिताके दो भार्याएँ थीं—कुन्ती और माद्री । मेरी दृष्टिमें वे दोनों समान हैं । मैं चाहता हूँ कि वे दोनों पुत्रवती बनी रहें । कुन्तीका पुत्र तो मैं मौजूद हूँ ही; मैं चाहता हूँ कि मा माद्रीका भी एक पुत्र बना रहे । इसीलिये मैंने भीम और अर्जुनको छोड़कर उसे जिलानेकी प्रार्थना की है ।' युधिष्ठिरकी बुद्धिमत्ता तथा धर्मज्ञताकी परीक्षाके लिये स्वयं धर्मने ही यह लीला की थी । इनकी इस अद्भुत समताको देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना परिचय देकर चारों भाइयों-को जीवित कर दिया । धर्मने इन्हें यह भी कहा कि 'मैं ही मृग बनकर उस ब्राह्मणके मन्थनकाष्ठको ले गया था; लो, यह मन्थनकाष्ठ तुम्हारे सामने है ।' युधिष्ठिरने वह मन्थनकाष्ठ उस ब्राह्मणको ले जाकर दे दिया ।

युधिष्ठिर जैसे सदाचारसम्पन्न थे वैसे ही विनयी भी थे । ये समयोचित व्यवहारमें बड़े कुशल थे, गुरुजनोंकी मान-मर्यादाका सदा ध्यान रखते थे । कठिन-से-कठिन समयमें भी ये शिष्टाचारकी मर्यादा-को नहीं भूलते थे । महाभारत-युद्धके आरम्भमें जब दोनों ओरकी सेनाएँ युद्धके लिये सन्नद्ध खड़ी थीं उस समय इन्होंने सबसे पहले शत्रुसेनाके बीचमें जाकर पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण एवं कृप तथा मामा शल्यके चरणोंमें प्रणाम किया और आशीर्वाद माँगा । इनके इस विनयपूर्ण एवं शिष्टजनोचित व्यवहारसे वे सभी गुरुजन बड़े प्रसन्न हुए और इनकी हृदयसे विजय-कामना की । चारोंने ही

अन्यायी कौरवोंकी ओरसे लड़नेके लिये बाध्य होनेपर खेद प्रकट किया और इसे अपनी कमजोरी बतलाया। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरके इस आदर्श व्यवहारका अनुमोदन किया।

युधिष्ठिरकी सत्यवादिता तो जगद्विख्यात थी। सभी जानते थे कि युधिष्ठिर भय अथवा लोभवश कभी असत्य नहीं बोलते। इनकी सत्यवादिताका ही यह फल था कि इनके रथके पहिये सदा पृथ्वीसे चार अंगुल ऊँचे रहा करते थे। जीवनमें केवल एक बार इन्होंने असत्यभाषण किया। द्रोणाचार्यके सामने अश्वत्थामा हाथीके मारे जानेके बहाने झूठ-मूठ यह कह दिया कि 'अश्वत्थामा मारा गया।' इसी एक बारकी सत्यच्युतिके फलस्वरूप इनके रथके पहिये पृथ्वीसे सटकर चलने लगे और इन्हें मुहूर्तभरके लिये कल्पित नरकका दृश्य भी देखना पड़ा।

युधिष्ठिरकी उदारता भी अलौकिक थी। जब कौरवोंने किसी प्रकार भी इनका राज्य लौटाना स्वीकार नहीं किया तब इन्होंने केवल पाँच गाँव लेकर सन्तोष करना स्वीकार कर लिया और भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा दुर्योधनको यह कहला भेजा कि 'यदि वह हमें हमारे इच्छानुसार केवल पाँच गाँव देना स्वीकार कर ले तो हम युद्ध नहीं करेंगे।' परन्तु दुर्योधनने इन्हें सूईकी नोकके बराबर जमीन देना भी स्वीकार नहीं किया। तब इन्हें बाध्य होकर युद्ध छेड़ना पड़ा। इतना ही नहीं, जब दुर्योधनकी सारी सेना मर-खप गयी और वह स्वयं एक तालाबमें जाकर छिप रहा, उस समय इन्होंने उसके पास जाकर उसे अन्तिम बार युद्धके लिये ललकारते हुए यहाँतक कह

दिया कि 'हममेंसे जिस-किसीके साथ तुम युद्ध कर सकते हो। हममेंसे किसी एकपर भी तुम द्वन्द्वयुद्धमें विजय पा लोगे तो सारा राज्य तुम्हारा हो जायगा।' भला, इस प्रकारकी शर्त कोई दूसरा कर सकता है ? जिस दुर्योधनका गदायुद्धमें भीमसेन भी, जो पाण्डवोंमें सबसे अधिक बलवान् एवं गदायुद्धमें प्रवीण थे, मुकाबला करते हिचकते थे, उसके साथ यह शर्त कर लेना कि 'हममेंसे किसी एकको तुम हरा दोगे तो राज्य तुम्हारा हो जायगा' युधिष्ठिर-जैसे महानुभावका ही काम था। अन्तमें भीमसेनके साथ उसका युद्ध होना निश्चित हुआ और भीमसेनके द्वारा वह मारा गया।

इतना ही नहीं, युद्ध-समाप्तिके बाद जब युधिष्ठिरका राज्याभिषेक हो गया और धृतराष्ट्र-गान्धारी इन्हींके पास रहने लगे, उस समय इन्होंने दोनोंको इतना सुख पहुँचाया, जितना उन्हें अपने पुत्रोंसे भी नहीं मिला था। ये सारा राज-काज उन्हींसे पूछ-पूछकर करते थे और राज-काज करते हुए भी उनकी सेवाके लिये बराबर समय निकाला करते थे। इनकी माता कुन्ती साम्राज्ञी द्रौपदी तथा अपनी अन्य बहुओंके साथ देवी गान्धारीकी सेवा किया करती थीं। ये इस बातका सदा ध्यान रखते थे कि उनके सामने कभी कोई ऐसी बात न हो जिससे उनका पुत्र-शोक उमड़ पड़े। अन्तमें जब धृतराष्ट्र और गान्धारीने अपनी शेष आयु वनमें बितानेका निश्चय किया, उस समय युधिष्ठिरको बड़ा दुःख हुआ और ये स्वयं उनके साथ वन जानेको तैयार हो गये। बड़ी कठिनतासे व्यासजीने आकर इन्हें समझाया, तब कहीं ये धृतराष्ट्र-गान्धारीको वन भेजनेपर राजी हुए।

फिर भी कुन्तीदेवी तो अपने जेठ-जेठानीके साथ ही गयीं औ
अन्तसमयतक उनकी सेवामें रहीं एवं उनके साथ ही प्राण-त्या
भी किया। वन जानेसे पहले धृतराष्ट्रने अपने मृत पुत्रों तथा अन्
सम्बन्धियोंका विधिपूर्वक अन्तिम बार श्राद्ध करना चाहा और उन्हीं
कल्याणके लिये ब्राह्मणोंको अपरिमित दान देना चाहा। युधिष्ठिरक
जब इनकी इच्छा मालूम हुई तो इन्होंने विदुरजीके द्वारा यह कहला
कि 'अर्जुनसहित मेरा प्राणपर्यन्त सर्वस्व आपके अर्पण है।' ए
उनकी इच्छासे भी अधिक खुले-हाथों खर्च करनेका प्रबन्ध क
दिया। फिर तो धृतराष्ट्रने बड़े विधि-विधानसे अपने सम्बन्धियोंक
श्राद्ध किया और ब्राह्मणोंको भरपूर दान दिया। उस समय महारा
युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रके आज्ञानुसार धन और रत्नोंकी नदी-सी बहा दी
जिसके लिये सौकी आज्ञा हुई, उसे हजार दिया गया। जब धृतराष्ट्
गान्धारी वनको जाने लगे, उस समय पाँचों भाई अपनी रानियोंके
साथ पैदल ही बड़ी दूरतक उन्हें पहुँचाने गये। जिन धृतराष्ट्रके
कारण पाण्डवोंको भारी-भारी विपत्तियोंका सामना करना पड़ा
जिनके कारण उन्हें अपने पैतृक अधिकारसे वञ्चित रहना पड़ा औ
कितनी बार वनवासके कष्ट उठाने पड़े, जिनकी उपस्थितिमें उनके
पुत्रोंने सती-शिरोमणि द्रौपदीका भरी सभामें घोर अपमान किय
और जिन्होंने उन्हें दर-दरका भिखारी बना दिया और पाँच गाँवतक
देना स्वीकार नहीं किया—जिसके फलस्वरूप दोनों ओरसे इतन
भीषण नर-संहार हुआ—उन्हीं धृतराष्ट्रके प्रति इतना निश्छल प्रेम-
भाव रखना और अन्ततक उन्हें सुख पहुँचानेकी पूरी चेष्टा करन

युधिष्ठिर-जैसी महान् आत्माका ही काम था। वैरीके प्रति ऐसा सद्व्यवहार जगत्के इतिहासमें कम ही देखनेको मिलेगा।

महाराज युधिष्ठिरकी शरणागतवत्सलता तथा प्रेम तो और भी विलक्षण था। भगवान् श्रीकृष्णके परमधामगमन तथा यादवोंके संहारकी बात जब इन्होंने सुनी तो इन्हें बड़ा दुःख हुआ। इन्होंने सोचा कि 'जब हमारे परम आत्मीय तथा हितैषी वे श्रीकृष्ण ही इस धरातलपर न रहे, जिनकी कृपासे हमने सब कुछ पाया था, तब फिर हमारे लिये यह राज्यसुख किस कामका और इस जीवनको ही रखनेसे क्या प्रयोजन। श्रीकृष्णकी बात तो अलग रही, वे तो पाण्डवोंके जीवन-प्राण एवं सर्वस्व ही थे। उनके ऊपर तो इनका सब कुछ निर्भर था। कौरवोंके विनाशपर भी इन्हें इतना दुःख हुआ था कि विजय तथा राज्यप्राप्तिके प्रसङ्गमें हर्ष मनानेके बदले ये सब कुछ छोड़कर वन जानेको तैयार हो गये थे। बड़ी कठिनतासे भगवान् श्रीकृष्ण तथा महर्षि व्यास आदिने इन्हें समझा-बुझाकर राज्याभिषेकके लिये तैयार किया था। भीष्मपितामहने भी धर्मका उपदेश देकर इनका शोक दूर करनेकी चेष्टा की, तथा भीष्मजीकी आज्ञा मानकर इन्होंने राज्य भी किया; परन्तु स्वजनवधसे होनेवाली ग्लानि इनके चित्तसे कभी दूर नहीं हुई। अब श्रीकृष्णके परमधामगमनकी बात सुनकर तो इन्होंने वन जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया और अर्जुनके पौत्र कुमार परीक्षित्को राजगद्दीपर बिठाकर तथा कृपाचार्य एवं धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सुको उसकी देखभालमें नियुक्त कर ये अपने चारों भाई तथा द्रौपदीको साथ लेकर हस्तिनापुरसे चल पड़े। पृथ्वी-प्रदक्षिणाके उद्देश्यसे कई देशोंमें घूमते हुए ये हिमालयको पार कर

मेरुपर्वतकी ओर बढ़ रहे थे। रास्तेमें देवी द्रौपदी तथा इनके चारों भाई एक-एक करके क्रमशः गिरते गये। उनके गिरनेकी भी परवा न कर युधिष्ठिर आगे बढ़ते ही गये। इतनेमें ही स्वयं देवराज इन्द्र रथपर चढ़कर इन्हें लेनेके लिये आये और रथपर चढ़ जानेको कहा। युधिष्ठिरने अपने भाइयों तथा पतिप्राणा देवी द्रौपदीके बिना अकेले रथपर बैठना स्वीकार नहीं किया। इन्द्रके यह विश्वास दिलानेपर कि 'वे लोग तुमसे पहले ही स्वर्गमें पहुँच चुके हैं' इन्होंने रथपर चढ़ना स्वीकार किया। परन्तु इनके साथ एक कुत्ता भी था, जो आरम्भसे ही इनके साथ चल रहा था। युधिष्ठिरने चाहा कि वह कुत्ता भी उनके साथ चले। इन्द्रके आपत्ति करनेपर इन्होंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि 'इस स्वामिभक्त कुत्तेको छोड़कर मैं अकेला स्वर्ग जानेके लिये तैयार नहीं हूँ।' यह कुत्ता और कोई नहीं था, स्वयं धर्म ही युधिष्ठिरकी परीक्षाके लिये उनके साथ हो लिये थे। युधिष्ठिर-की इस अनुपम शरणागतवत्सलताको देखकर वे अपने असली रूपमें प्रकट हो गये और युधिष्ठिरको रथमें बिठाकर इन्द्र एवं अन्य देवताओं तथा देवर्षियोंके साथ उच्च लोकोंमें चले गये। उस समय देवर्षि नारदने इनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि महाराज युधिष्ठिरसे पहले कोई भौतिक शरीरसे स्वर्ग गया हो, ऐसा सुननेमें नहीं आया। फिर भी देवराज इन्द्रसे युधिष्ठिरने यही कहा कि 'जहाँ मेरे भाई-बन्धु तथा देवी द्रौपदी हों, वहीं मुझे ले चलिये; वहीं जानेपर मुझे शान्ति मिलेगी, अन्यत्र नहीं। जहाँ मेरे भाई नहीं हैं, वह स्वर्ग भी मेरे किस कामका।' धन्य बन्धुप्रेम!

इस प्रकार युधिष्ठिरकी प्रबल इच्छा जानकर देवताओंने इन्हें भाइयोंको दिखानेके लिये देवदूतको साथ भेजा। आगे जाकर जब देवराज इन्द्रकी मायासे इन्हें नरकका दृश्य दिखायी पड़ा और वहाँ इन्होंने अपने भाइयोंके कराहने एवं रोनेकी आवाज सुनी, साथ ही इन्होंने लोगोंको यह कहते भी सुना कि 'महाराज! थोड़ा रुक जाइये, आपके यहाँ रहनेसे हमें नरककी पीड़ा नहीं सताती,' तब तो ये वहीं रुक गये और जो देवदूत इन्हें वहाँ ले गया था, उससे इन्होंने कहा कि 'हम तो यहीं रहेंगे; जब हमारे रहनेसे यहाँके जीवोंको सुख मिलता है तो यह नरक ही हमारे लिये स्वर्गसे बढ़कर है।' धन्य दयालुता!

थोड़ी ही देर बाद वह दृश्य गायब हो गया और वहाँ इन्द्र, धर्म आदि देवता आ पहुँचे। वे सब इनके इस सुन्दर भावसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बतलाया कि 'तुमने छलसे गुरु द्रोणाचार्य-को उनके पुत्रकी मृत्युका विश्वास दिलाया था, इसीलिये तुम्हें छलसे नरकका दृश्य दिखाया गया था। तुम्हारे सब भाई दिव्यलोकमें पहुँच गये हैं।' इसके बाद युधिष्ठिर भगवान्के परमधाममें गये और वहाँ इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके उसी रूपमें दर्शन किये, जिस रूपमें वे पहले उन्हें मर्त्यलोकमें देखते आये थे। वहीं उन्होंने श्रीकृष्णकी परिचर्या करते हुए अर्जुनको भी देखा। देवी द्रौपदीको लक्ष्मीके रूपमें देखा तथा अपने भाइयोंको भी उन्होंने दूसरे-दूसरे स्थानोंमें देखा। अन्तमें वे अपने पिता धर्मके शरीरमें प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार युधिष्ठिरने अपने धर्मके बलसे दुर्लभ गति पायी।

युधिष्ठिरकी पवित्रताका ऐसा अद्भुत प्रभाव था कि ये जहाँ भी जाते, वहींका वातावरण अत्यन्त पवित्र हो जाता। जिस समय पाण्डव अज्ञातरूपसे राजा विराटके यहाँ रह रहे थे, उस समय कौरवोंने इनका पता लगाना चाहा। उसी प्रसङ्गमें भीष्मपितामहने, जो पाण्डवोंके प्रभावको भलीभाँति जानते थे, उन्हें बतलाया कि 'राजा युधिष्ठिर जिस नगर या राष्ट्रमें होंगे वहाँकी जनता भी दानशील, प्रियवादिनी, जितेन्द्रिय और लज्जाशील होगी। जहाँ वे रहते होंगे वहाँके लोग संयमी, सत्यपरायण तथा धर्ममें तत्पर होंगे; उनमें ईर्ष्या, अभिमान, मत्सर आदि दोष नहीं होंगे। वहाँ हर समय वेदध्वनि होती होगी, यज्ञ होते होंगे, ठीक समयपर वर्षा होती होगी, वहाँकी भूमि धन-धान्यपूर्ण तथा सब प्रकारके भयों एवं उपद्रवोंसे शून्य होगी, वहाँ गायें अधिक एवं हृष्ट-पुष्ट होंगी'—इत्यादि। यही नहीं, हम ऊपर देख ही चुके हैं कि इनकी सन्निधिसे नरकके प्राणियों-तकको सुख-शान्ति मिलती थी। राजा नहुषने, जिन्हें महर्षि अगस्त्यके शापसे अजगरकी योनि प्राप्त हुई थी और जिन्होंने उसी रूपमें भीमसेनको अपने चंगुलमें फँसा लिया था, युधिष्ठिरके दर्शन तथा उनके साथ सम्भाषण करनेमात्रसे अजगरकी योनिसे छूटकर पुनः स्वर्ग प्राप्त किया। ऐसे पुण्यश्लोक महाराज युधिष्ठिरके चरित्रका जितना भी हम मनन करेंगे, उतने ही पवित्र होंगे।

'धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन।'

वीरवर अर्जुन

अर्जुन साक्षात् नर-ऋषिके अवतार थे। ये भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त, सखा एवं प्रेमी थे तथा उनके हाथके एक उत्तम यन्त्र थे। इनको निमित्त बनाकर भगवान्ने महाभारत-युद्धमें बड़े-बड़े योद्धाओंका संहार किया और इस प्रकार अपने अवतारके एक प्रधान उद्देश्य भूभारहरणको सिद्ध किया। इस बातको स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गीताके विश्वरूपदर्शनके प्रसङ्गमें यह कहते हुए स्वीकार किया है कि 'ये सब शूरवीर पहलेहीसे मेरे द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा' (११। ३३)। इनकी भक्ति तथा मित्रताको भी भगवान्ने गीतामें ही 'भक्तोऽसि मे सखा चेति' (४। ३), 'इष्टोऽसि मे दृढमिति' (१८।६४) आदि शब्दोंमें स्वीकार किया है। जिसे स्वयं भगवान् अपना भक्त और प्यारा मानें और उद्घोषित करें, उसके भक्त होनेमें दूसरे किसी प्रमाणकी क्या आवश्यकता है? गीताके अन्तमें 'करिष्ये वचनं तव' (१८। ७३) कहकर अर्जुनने स्वयं भगवान्के हाथका यन्त्र बननेकी प्रतिज्ञा की है और महाभारतके अनुशीलनसे इस बातका पर्याप्त प्रमाण भी मिलता है कि इन्होंने अन्ततक इस प्रतिज्ञाका भलीभाँति निर्वाह किया। गीतासे

ही इस बातका भी प्रमाण मिलता है कि ये भगवान्को अपना सखा मानते थे और उनके साथ बराबरीका नाता भी रखते थे। श्रीकृष्ण और अर्जुन अनेकों बार भिन्न-भिन्न अवसरोंपर एवं भिन्न-भिन्न स्थानोंमें महीनों साथ रहे थे और ऐसे अवसरोंपर स्वाभाविक ही इनका उठना-बैठना, खाना-पीना, घूमना-फिरना, सोना-लेटना साथ ही होता था और ऐसी स्थितिमें इनमें परस्पर किसी प्रकारका संकोच नहीं रह गया था। दोनोंका एक-दूसरेके साथ खुला व्यवहार था, अभिन्नहृदयता थी। दोनोंका एक दूसरेके अन्त:पुरमें भी नि:संकोच आना-जाना, उठना-बैठना होता था। एक-दूसरेसे किसी प्रकारका पर्दा नहीं था। इन दोनोंमें कैसा प्रेम था, इसका वर्णन सञ्जयने धृतराष्ट्रको पाण्डवोंका सन्देश कहते समय सुनाया था। युद्धके पूर्व जब सञ्जय कौरवोंका सन्देश लेकर उपप्लव्यमें पाण्डवोंके पास गये, उस समय श्रीकृष्ण और अर्जुनको उन्होंने किस अवस्थामें देखा, इसका वर्णन करते हुए सञ्जय कहते हैं—'महाराज! आपका सन्देश सुनानेके लिये मैं अर्जुनके अन्त:पुरमें गया। उस स्थानमें अभिमन्यु और नकुल-सहदेव भी नहीं जा सकते थे। वहाँ पहुँचनेपर मैंने देखा कि श्रीकृष्ण अपने दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें रक्खे हुए हैं तथा अर्जुनके चरण द्रौपदी और सत्यभामाकी गोदमें हैं, इत्यादि।

× × ×

जब पाण्डव जुएकी शर्तके अनुसार वनमें चले जाते हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण उनसे मिलनेके लिये आते हैं। उस समय वे अर्जुनके साथ अपनी एकताका उल्लेख करते हुए कहते हैं—'अर्जुन! तुम एकमात्र मेरे हो और मैं एकमात्र तुम्हारा हूँ। जो मेरे हैं, वे

तुम्हारे हैं और जो तुम्हारे हैं, वे मेरे हैं। जो तुमसे द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारा प्रेमी है, वह मेरा प्रेमी है। तुम नर हो और मैं नारायण। तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे। हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है, हम दोनों एक हैं।'
अर्जुन श्रीकृष्णको कितने प्रिय थे तथा दोनोंमें कैसी एकता थी—इसका प्रमाण महाभारतकी कई घटनाओंसे मिलता है। जब अर्जुन अपने वनवासके समय तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे प्रभासक्षेत्रमें पहुँचते हैं तब भगवान् श्रीकृष्ण इनका समाचार पाते ही इनसे मिलनेके लिये द्वारकासे प्रभासक्षेत्रको जाते हैं और वहाँसे इन्हें रैवतक पर्वतपर ले आकर कई दिन इनके साथ वहीं बिताते हैं। रैवतक पर्वतसे दोनों द्वारका चले आते हैं और द्वारकामें अर्जुन श्रीकृष्णके ही महलोंमें कई दिनोंतक उनके प्रिय अतिथिके रूपमें रहते हैं और रातको दोनों साथ सोते हैं। वहाँ जब श्रीकृष्णको पता चलता है कि अर्जुन उनकी बहन सुभद्रासे विवाह करना चाहते हैं तो वे इनके बिना पूछे ही इसके लिये अनुमति दे देते हैं और उसे हरकर ले जानेकी युक्ति भी बतला देते हैं। इतना ही नहीं, अपना रथ और हथियार भी इन्हें दे देते हैं एवं सुभद्राहरण हो जानेके बाद जब बलरामजी इसका विरोध करते हैं तो वे उन्हें समझा-बुझाकर मना लेते हैं और वहीं द्वारकामें सुभद्राका पाणिग्रहण हो जाता है। यही नहीं, खाण्डवदाहके प्रसङ्गमें भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रसे यह वरदान माँगते हैं कि 'उनकी अर्जुनके साथ मित्रता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाय।' खाण्डवदाहके प्रसङ्गमें ही अर्जुन और श्रीकृष्णकी एकताका एक और प्रमाण मिलता है। खाण्डववनके भयङ्कर अग्निकाण्डमेंसे मय दानव

निकल भागनेकी चेष्टा कर रहा था। अग्निदेव उसे जला डालनेके लिये उसके पीछे दौड़ रहे थे। उनकी सहायताके लिये भगवान् श्रीकृष्ण भी अपना चक्र लिये उसे मारनेको प्रस्तुत थे। मय दानवने अपने बचनेका कोई उपाय न देखकर अर्जुनकी शरण ली और अर्जुनने उसे अभयदान दे दिया। अब तो श्रीकृष्णने भी अपना चक्र वापस ले लिया और अग्निदेवने भी उसका पीछा करना छोड़ दिया। मय दानवके प्राण बच गये। मय दानवने इस उपकारके बदलेमें अर्जुनकी कुछ सेवा करनी चाही। अर्जुनने कहा—'तुम श्रीकृष्णकी सेवा कर दो, इसीसे मेरी सेवा हो जायगी।' मय दानव बड़ा निपुण शिल्पी था। श्रीकृष्णने उससे महाराज युधिष्ठिरके लिये एक बड़ा सुन्दर सभाभवन तैयार करवाया। इस प्रकार अर्जुन और श्रीकृष्ण सदा एक दूसरेका प्रिय करते रहते थे।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुनको प्यार करते थे, उसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णको अपना परम आत्मीय एवं हितैषी समझते थे। यही कारण था कि इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी नारायणी सेनाको न लेकर अकेले और शस्त्रहीन श्रीकृष्णको ही सहायकके रूपमें वरण किया। जहाँ भगवान् एवं उनके ऐश्वर्यका मुकाबला होता है, वहाँ सच्चे भक्त ऐश्वर्यको त्यागकर भगवान्का ही वरण करते हैं। श्रीकृष्णने भी इनके प्रेमके वशीभूत होकर युद्धमें इनका सारथ्य करना स्वीकार किया। अर्जुन साथ-ही-साथ अपने जीवनरूप रथकी बागडोर भी उन्हींके हाथोंमें सौंपकर सदाके लिये निश्चिन्त हो गये। फिर तो अर्जुनकी विजय और रक्षा—योग और क्षेम—दोनोंकी चिन्ता सर्वसमर्थ श्रीकृष्णके ऊपर ही चली गयी। उनकी तो यह

प्रतिज्ञा ही ठहरी कि जो कोई अनन्यभावसे उनका चिन्तन करते हुए अपनी सारी चिन्ताएँ उन्हींपर डाल देते हैं, उनके योगक्षेमका भार वे अपने कन्धोंपर ले लेते हैं। कोई भी अपना भार उनके ऊपर डालकर देख ले।

बस, फिर क्या था। अब तो अर्जुनको जिताने और भीष्म-जैसे दुर्दान्त पराक्रमी वीरोंसे इनकी रक्षा करनेका सारा भार श्रीकृष्णपर आ गया। वैसे विजय तो पाण्डवोंकी पहलेसे ही निश्चित थी; क्योंकि धर्म उनके साथ था। जिस ओर धर्म, उसी ओर श्रीकृष्ण और जिस ओर श्रीकृष्ण, उसी ओर विजय—यह तो सदाका नियम है। फिर तो युद्धके प्रारम्भमें भगवद्गीताके उपदेश तथा विश्वरूपदर्शनके द्वारा इनके मोहका नाश करना, युद्धमें शस्त्र न लेनेकी प्रतिज्ञाकी परवा न कर भीष्मकी प्रचण्ड बाणवर्षाको रोकनेमें असमर्थ अर्जुनकी प्राण-रक्षाके लिये एक बार चक्र लेकर तथा दूसरी बार चाबुक लेकर भीष्मके सामने दौड़ना, भगदत्तके छोड़े हुए सर्वसंहारक वैष्णवास्त्रको अपनी छातीपर ले लेना, रथको पैरोंसे दबाकर कर्णके छोड़े हुए सर्पमुख बाणसे अर्जुनकी रक्षा करना तथा अस्त्रोंसे जले हुए अर्जुनके रथको अपने संकल्पके द्वारा अक्षुण्ण बनाये रखना आदि अनेकों लीलाएँ श्रीकृष्णने अर्जुनके योगक्षेमके निर्वाहके लिये कीं।

× × ×

भीष्मको पाण्डवोंसे लड़ते-लड़ते नौ दिन हो गये थे। फिर भी उनके पराक्रममें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आ पायी थी। प्रतिदिन वे पाण्डव-पक्षके हजारों वीरोंका संहार कर रहे थे। उनपर विजय पानेका पाण्डवोंको कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था, महाराज

युधिष्ठिरने बड़े ही करुणापूर्ण शब्दोंमें सारी परिस्थिति अपनी नौकाके कर्णधार श्रीकृष्णके सामने रक्खी। श्रीकृष्णने उन्हें सान्त्वना देते हुए जो कुछ कहा, उससे उनका अर्जुनके प्रति असाधारण प्रेम प्रकट होता है। साथ ही अर्जुनके सम्बन्धमें उनकी कैसी ऊँची धारणा थी, इसका भी पता लगता है। श्रीकृष्ण बोले—'धर्मराज! आप बिल्कुल चिन्ता न करें। भीष्मके मारे जानेपर ही यदि आपको विजय दिखायी देती हो तो मैं अकेले ही उन्हें मार सकता हूँ। आपके भाई अर्जुन मेरे सखा, सम्बन्धी तथा शिष्य हैं; आवश्यकता हो तो मैं इनके लिये अपने शरीरका मांस भी काटकर दे सकता हूँ और ये भी मेरे लिये प्राण त्याग सकते हैं। अर्जुनने उपप्लव्यमें सबके सामने भीष्मको मारनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसकी मुझे हर तरहसे रक्षा करनी है। जिस कामके लिये अर्जुन मुझे आज्ञा दें, उसे मुझे अवश्य करना चाहिये। अथवा भीष्मको मारना अर्जुनके लिये कौन बड़ी बात है। राजन्! यदि अर्जुन तैयार हो जायँ तो ये असम्भव कार्य भी कर सकते हैं। दैत्य एवं दानवोंके साथ सम्पूर्ण देवता भी युद्ध करने आ जायँ तो अर्जुन उन्हें भी परास्त कर सकते हैं; फिर भीष्मकी तो बात ही क्या है।' सच है, 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ भगवान् जिसके रक्षक एवं सहायक हों, वह क्या नहीं कर सकता।

× × ×

पुत्रशोकसे पीड़ित अर्जुन अभिमन्युकी मृत्युका प्रधान कारण जयद्रथको समझकर दूसरे दिन सूर्यास्तसे पहले-पहले जयद्रथको मार डालनेकी प्रतिज्ञा कर बैठते हैं और साथ ही यह भी प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि 'ऐसा न कर सका तो मैं स्वयं जलती हुई आगमें कूद पड़ूँगा।' 'योगक्षेमं

वहाम्यहम्' (९ । २२) इस वचनके अनुसार अर्जुनकी इस प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेका भार भी भगवान् श्रीकृष्णपर आ पड़ा था। अर्जुन तो उनके भरोसे निश्चिन्त थे। इधर कौरवोंकी ओरसे जयद्रथको बचानेकी पूरी चेष्टा हो रही थी। उसी दिन श्रीकृष्ण आधी रातके समय ही जाग पड़े और सारथि दारुकको बुलाकर कहने लगे—'दारुक! मेरे लिये स्त्री, मित्र अथवा भाई-बन्धु—कोई भी अर्जुनसे बढ़कर प्रिय नहीं है। इस संसारको अर्जुनके बिना मैं एक क्षण भी नहीं देख सकता। ऐसा हो नहीं सकता। कल सारी दुनिया इस बातका परिचय पा जायगी कि मैं अर्जुनका मित्र हूँ। जो इनसे द्वेष रखता है, वह मेरा भी द्वेषी है; जो इनके अनुकूल है वह मेरे भी अनुकूल है। तुम अपनी बुद्धिमें इस बातका निश्चय कर लो कि अर्जुन मेरा आधा शरीर है। मेरा विश्वास है कि अर्जुन कल जिस-जिस वीरको मारनेका प्रयत्न करेंगे, वहाँ-वहाँ अवश्य इनकी विजय होगी।' भला, ऐसे मित्रवत्सल प्रभु जिसके लिये इस प्रकार उद्यत हों उसकी विजयमें क्या संदेह हो सकता है। दूसरे दिन श्रीकृष्णकी बतायी हुई युक्तिसे जयद्रथको मारकर अर्जुनने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और सारे संसारने देखा कि श्रीकृष्णकी कृपासे अर्जुनका बाल भी बाँका नहीं हुआ।

× × ×

कर्ण अर्जुनके प्रति प्रारम्भसे ही ईर्ष्या रखता था। दोनों एक-दूसरेके प्राणोंके ग्राहक थे। भीष्मके मरणके बाद भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुनके लिये सबसे अधिक भय कर्णसे ही था। उसके पास इन्द्रकी दी हुई एक अमोघ शक्ति थी, जिसे उसने अर्जुनको मारनेके लिये ही रख छोड़ा था। उस शक्तिके बलपर वह अर्जुनको मरा

हुआ ही समझता था। उसका प्रयोग एक ही बार हो सकता था। कर्णको उस शक्तिसे हीन करनेके लिये भगवान्‌ने उसे भीमसेनके पुत्र घटोत्कचसे भिड़ा दिया। घटोत्कचने ऐसा अद्भुत पराक्रम दिखाया कि कर्णके प्राणोंपर भी बन आयी। वह उसके प्रहारोंको नहीं सह सका। उसने बाध्य होकर वह इन्द्रदत्त शक्ति घटोत्कचपर छोड़ दी और उसने घटोत्कचका काम तमाम कर दिया। घटोत्कचके मारे जानेसे पाण्डवोंके शिविरमें शोक छा गया। सबकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। परन्तु इस घटनासे श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए। वे हर्षसे झूमकर नाचने लगे। उन्होंने अर्जुनको गले लगाकर इनकी पीठ ठोंकी और बारंबार गर्जना की। अर्जुनने उनके अनवसर इस प्रकार आनन्द मनानेका रहस्य जानना चाहा; क्योंकि ये जानते थे कि भगवान्‌की कोई भी क्रिया अकारण नहीं होती। इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने जो कुछ कहा, उससे उनका अर्जुनके प्रति अगाध प्रेम झलकता है। उन्होंने कहा—'अर्जुन! आज सचमुच मेरे लिये बड़े ही आनन्दका अवसर है। कारण जानना चाहते हो? सुनो। तुम समझते हो कर्णने घटोत्कचको मारा है; पर मैं कहता हूँ कि इन्द्रकी दी हुई शक्तिको निष्फल करके घटोत्कचने ही कर्णको मार डाला है। अब तुम कर्णको मरा हुआ ही समझो। कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो कर्णके हाथमें शक्ति रहते उसके सामने ठहर सकता।' उन्होंने यह भी बतलाया कि 'मैंने तुम्हारे ही हितके लिये जरासन्ध, शिशुपाल आदिको एक-एक करके मरवा डाला। वे लोग यदि पहले न मारे गये होते, तो इस समय बड़े भयंकर सिद्ध होते। हम-लोगोंसे द्वेष रखनेके कारण वे लोग अवश्य ही कौरवोंका पक्ष लेते और

दुर्योधनका सहारा पाकर वे समस्त भूमण्डलको जीत लेते। उनके समान देव-द्रोहियोंका नाश करनेके लिये ही मेरा अवतार हुआ है।' इसी प्रसङ्गपर उन्होंने सात्यकिसे यह भी कहा कि 'कौरवपक्षके सब लोग कर्णको यही सलाह दिया करते थे कि वह अर्जुनके सिवा किसी दूसरेपर शक्तिका प्रयोग न करे, और वह भी इसी विचारमें रहता था; परन्तु मैं ही उसे मोहमें डाल देता था। यही कारण है कि उसने अर्जुनपर शक्तिका प्रहार नहीं किया। सात्यके! अर्जुनके लिये वह शक्ति मृत्युरूप है—यह सोच-सोचकर मुझे रातों नींद नहीं आती थी। आज वह घटोत्कचपर पड़नेसे व्यर्थ हो गयी—यह देखकर मैं ऐसा समझता हूँ कि अर्जुन मौतके मुँहसे छूट गये। मैं अर्जुनकी रक्षा करना जितना आवश्यक समझता हूँ, उतनी अपने माता-पिता, तुम-जैसे भाइयों तथा अपने प्राणोंकी भी रक्षा आवश्यक नहीं समझता। तीनों लोकोंके राज्यकी अपेक्षा भी यदि कोई दुर्लभ वस्तु हो, तो उसे भी मैं अर्जुनके बिना नहीं चाहता। इसीलिये आज अर्जुन मानो मरकर जी उठे हैं, ऐसा समझकर मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है। इसीलिये इस रात्रिमें मैंने राक्षस घटोत्कचको ही कर्णसे लड़नेके लिये भेजा था; उसके सिवा दूसरा कोई कर्णको नहीं दबा सकता था।' भगवान्‌के इन वाक्योंसे स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन भगवान्‌को कितने प्रिय थे और उनकी वे कितनी सँभाल रखते थे। जो अपनेको भगवान्‌के हाथका यन्त्र बना देता है, उसकी भगवान् इसी प्रकार सँभाल रखते हैं और उसका बाल भी बाँका नहीं होने देते। ऐसे भक्तवत्सल प्रभुकी शरणको छोड़कर जो और-और सहारे ढूँढ़ते रहते हैं, उनके समान मूर्ख कौन होगा।

× × ×

द्रोणाचार्यके वधसे अमर्षित होकर वीर अश्वत्थामाने पाण्डवों प्रति आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया। उसके छूटते ही आकाशसे बाणों वर्षा होने लगी और सेनामें चारों ओर आग फैल गयी। अर्जुन अ एक अक्षौहिणी सेना लेकर अश्वत्थामाका मुकाबिला कर रहे थे। उस अ के प्रभावसे उनकी सारी सेना इस प्रकार दग्ध हो गयी कि उसका ना निशानतक मिट गया; परन्तु श्रीकृष्ण और अर्जुनके शरीरपर आँच नहीं आयी। इन दोनों महापुरुषोंको अस्त्रके प्रभावसे मुक्त देख अश्वत्थामा चकित और चिन्तित हो गया। अपने हाथका धनुष फेंक वह रथसे कूद पड़ा और 'धिक्कार है, धिक्कार है' कहता हुआ रणभूमि भाग चला। इतनेमें ही उसे व्यासजी दिखायी दिये। उसने उन्हें प्रण किया और उस सर्वसंहारी अस्त्रका श्रीकृष्ण और अर्जुनपर कुछ भी प्रभ न पड़नेका कारण पूछा। तब व्यासजीने उसे बताया कि 'श्रीकृष्ण नाराय ऋषिके अवतार हैं और अर्जुन नरके अवतार हैं। इनका प्रभाव नारायणके ही समान है। ये दोनों ऋषि संसारको धर्ममर्यादामें रखने लिये प्रत्येक युगमें अवतार लेते हैं।' व्यासजीकी इन बातोंको सुन अश्वत्थामाकी शङ्का दूर हो गयी और उसकी अर्जुन तथा श्रीकृष्ण महत्त्व-बुद्धि हो गयी। व्यासजीके इन वचनोंसे भी श्रीकृष्ण और अर्जु की एकता सिद्ध होती है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके तो कृपापात्र थे ही, भगवान् शङ्कर भी इनपर बड़ी कृपा थी। युद्धमें शत्रु-सेनाका संहार करते समय देखते थे कि एक अग्निके समान तेजस्वी महापुरुष इनके आगे-आ चल रहे हैं। वे ही इनके शत्रुओंका नाश करते थे, किन्तु लोग समझ थे कि यह अर्जुनका कार्य है। वे त्रिशूल धारण किये रहते थे औ

सूर्यके समान तेजस्वी थे। वेदव्यासजीसे बात होनेपर उन्होंने अर्जुनको बताया कि वे भगवान् शङ्कर ही थे। जिसपर श्रीकृष्णकी कृपा हो, उसपर और सब लोग भी कृपा करें—इसमें आश्चर्य ही क्या है। 'जापर कृपा राम कै होई। तापर कृपा करहिं सब कोई ॥' अस्तु;

भगवान्के परम भक्त एवं कृपापात्र होनेके साथ-साथ अर्जुनमें और भी अनेक गुण थे। क्यों न हो, सूर्यके साथ सूर्यरश्मियोंकी तरह भक्तिके साथ-साथ दैवी गुण तो आनुषङ्गिकरूपसे रहते ही हैं। ये बड़े धीर, वीर, इन्द्रियजयी, दयालु, कोमलस्वभाव एवं सत्यप्रतिज्ञ थे। इनमें दैवीगुण जन्मसे ही मौजूद थे, इस बातको गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने 'सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि' कहकर स्वीकार किया है। इनके जन्मके समय आकाशवाणीने इनकी माताको सम्बोधन करके कहा था, 'कुन्ती! यह बालक कार्तवीर्य अर्जुन एवं भगवान् शंकरके समान पराक्रमी तथा इन्द्रके समान अजेय होकर तुम्हारा यश बढ़ायेगा। जैसे विष्णुने अपनी माता अदितिको प्रसन्न किया था, वैसे ही यह तुम्हें प्रसन्न करेगा।' इस आकाशवाणीको केवल कुन्तीने ही नहीं, सब लोगोंने सुना था। इससे ऋषि-मुनि, देवता और समस्त प्राणी बहुत प्रसन्न हुए। आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं, पुष्पवर्षा होने लगी। इस प्रकार इनके जन्मके समयसे ही इनकी अलौकिकता प्रकट होने लगी थी। जब ये कुछ बड़े हुए तो इनके भाइयों तथा दुर्योधनादि धृतराष्ट्रकुमारोंके साथ-साथ इनकी शिक्षा-दीक्षाका भार पहले कृपाचार्यको और पीछे द्रोणाचार्यको सौंपा गया। सूतपुत्रके नामसे प्रसिद्ध कर्ण भी इन्हींके साथ शिक्षा पाते थे। द्रोणाचार्यके सभी शिष्योंमें शिक्षा, बाहुबल और उद्योगकी दृष्टिसे तथा समस्त शस्त्रोंके

प्रयोग, फुर्ती और सफाईमें अर्जुन ही सबसे बढ़े-चढ़े थे। ये द्रोणा की सेवा भी बहुत करते थे। इनकी सेवा, लगन और बुद्धिसे प्र होकर द्रोणाचार्यने एक दिन इनसे कहा था कि 'बेटा! मैं ऐसा करूँगा कि संसारमें तुम्हारे समान और कोई धनुर्धर न हो।' द्रोणा जैसे सिद्ध गुरुकी प्रतिज्ञा क्या कभी असत्य हो सकती है। वास्तवमें संसारके अद्वितीय धनुर्धर निकले।

जब पाण्डव एवं कौरव-राजकुमार अस्त्रविद्याका अभ्यास पूरा चुके और गुरुदक्षिणा देनेका अवसर आया, उस समय गुरु द्रोणाच अपने शिष्योंसे कहा—'तुमलोग पाञ्चालराज द्रुपदको युद्धमें पक ला दो, यही मेरे लिये सबसे बड़ी गुरुदक्षिणा होगी।' सबने प्रस से गुरुदेवकी आज्ञा स्वीकार की और उनके साथ अस्त्र-शस्त्रसे सुस हो, रथपर सवार होकर द्रुपदनगरपर चढ़ाई कर दी। वहाँ पहुँच पाञ्चालराजने अपने भाइयोंके साथ इनका मुकाबिला किया। अकेले कौरवोंने ही इनपर धावा किया था। परन्तु उन्हें पाञ्चाल हारकर लौटना पड़ा। अन्तमें अर्जुनने भीम और नकुल-सहदे साथ लेकर द्रुपदपर आक्रमण किया। बात-की-बातमें अर्जुनने द्रुप धर दवाया और उन्हें पकड़कर द्रोणाचार्यके सामने खड़ा कर दि इस प्रकार अर्जुनके पराक्रमकी सर्वत्र धाक जम गयी।

× × ×

पाण्डव द्रौपदीके स्वयंवरका समाचार पाकर एकचक्रा नग द्रुपदनगरकी ओर जा रहे थे। रास्तेमें उनकी गन्धर्वोंसे मुठभेड़ गयी। अर्जुनने अपने अस्त्रकौशलसे गन्धर्वोंके छक्के छुड़ा दिये उनके राजा अङ्गारपर्ण (चित्ररथ) को पकड़ लिया। अन्तमें दो

मित्रता हो गयी। द्रौपदीके स्वयंवरमें अर्जुनने वह काम करके दिखला दिया, जिसे उपस्थित राजाओंमेंसे कोई भी नहीं कर सका था। दुर्योधन, शाल्व, शिशुपाल, जरासन्ध एवं शल्य आदि अनेकों महाबली राजाओं तथा राजकुमारोंने वहाँपर रक्खे हुए धनुषको उठाकर चढ़ानेकी चेष्टा की, परन्तु सभी असफल रहे। अर्जुनने बात-की-बातमें उसे उठाकर उसपर रौंदा चढ़ा दिया और लोगोंके देखते-देखते लक्ष्यको भी वेध दिया। उस समय अर्जुन ब्राह्मणके वेषमें अपनेको छिपाये हुए थे। अतः उन्हें ब्राह्मण समझकर समस्त राजाओंने मिलकर उनका पराभव करना चाहा। परन्तु वे अर्जुन और भीमका कुछ भी न कर सके। उस समय अर्जुन और कर्णका बाणयुद्ध और भीम एवं शल्यका गदायुद्ध हुआ। परन्तु अर्जुन और भीमके सामने उनके दोनों ही प्रतिद्वन्द्वियोंको नीचा देखना पड़ा।

खाण्डवदाहके समय भी अर्जुनने अद्भुत पराक्रम दिखलाया था। जब अग्निदेवताने श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सहायतासे खाण्डववनको जलाना प्रारम्भ किया, उस समय उसकी गर्मीसे सारे देवता त्रस्त हो देवराज इन्द्रके पास गये। तब इन्द्रकी आज्ञासे दल-के-दल मेघ उस प्रचण्ड अग्निको शान्त करनेके लिये जलकी मोटी-मोटी धाराएँ बरसाने लगे। अर्जुनने अपने अस्त्रबलसे बाणोंके द्वारा जलकी धाराओंको आकाशमें ही रोक दिया और पृथ्वीपर नहीं गिरने दिया। इन्द्रने भी अपने तीक्ष्ण अस्त्रोंकी वर्षासे अर्जुनको उत्तर दिया। दोनों ओरसे घमासान युद्ध छिड़ गया। श्रीकृष्ण और अर्जुनने मिलकर अपने चक्र और तीखे बाणोंके द्वारा देवताओंकी सारी सेनाको तहस-नहस कर डाला। भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपना कालरूप प्रकट

कर दिया था। देवता और दानव सभी उनके पौरुषको देख दंग रह गये। अन्तमें इन्द्रको सम्बोधन करके यह आकाशवाणी हु कि 'तुम अर्जुन और श्रीकृष्णको युद्धमें किसी प्रकार भी नहीं जी सकोगे। ये साक्षात् नर-नारायण हैं। इनकी शक्ति और पराक्र असीम हैं। ये सबके लिये अजेय हैं। तुम देवताओंको लेकर यहाँ चले जाओ, इसीमें तुम्हारी शोभा है।' आकाशवाणी सुनक देवराज अपनी सेनाके साथ लौट पड़े और अग्निने देखते-देखते उ विशाल वनको भस्म कर दिया। अर्जुनकी सेवासे प्रसन्न होक अग्निने उन्हें दिव्य अस्त्र दिये। इन्द्रने भी उनके अस्त्रकौशलसे प्रस होकर उन्हें समय आनेपर अस्त्र देनेकी प्रतिज्ञा की। तथा अग्नि प्रार्थनापर वरुणदेवने उन्हें अक्षय तरकस, गाण्डीव धनुष और वान चिह्नयुक्त ध्वजासे मण्डित रथ युद्धसे पहले ही दे दिया था।

जब पाण्डवलोग दूसरी बार जुएमें हारकर वनमें रहने लगे उस समय एक दिन महर्षि वेदव्यासजी उनके पास आये औ युधिष्ठिरको एकान्तमें ले जाकर उन्होंने समझाया कि 'अर्जुन नारायण का सहचर महातपस्वी नर है। इसे कोई जीत नहीं सकता, यह अच्युतस्वरूप है। यह तपस्या एवं पराक्रमके द्वारा देवताओंके दर्शन की योग्यता रखता है। इसलिये तुम इसको अस्त्रविद्या प्राप्त करनेके लिये भगवान् शङ्कर, देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर और धर्मराजके पास भेजो। यह उनसे अस्त्र प्राप्त करके बड़े पराक्रम करेगा और तुम्हार खोया हुआ राज्य वापस ला देगा।' युधिष्ठिरने वेदव्यासजीकी आज्ञा मानकर अर्जुनको उन्हीं महर्षिकी दी हुई मन्त्रविद्या सिखाकर इन्द्रके दर्शनके लिये इन्द्रकील पर्वतपर भेज दिया। वहाँ पहुँचनेपर एक

तपस्वीके रूपमें इन्हें इन्द्रके दर्शन हुए। इन्द्रने इन्हें स्वर्गके भोगों एवं ऐश्वर्यका प्रलोभन दिया, परन्तु इन्होंने सब कुछ छोड़कर उनसे अस्त्रविद्या सीखनेका ही आग्रह किया। इन्द्रने कहा—'पहले तुम तपद्वारा भगवान् शङ्करके दर्शन प्राप्त करो। उनके दर्शनसे सिद्ध होकर तुम स्वर्गमें आना, तब मैं तुम्हें सारे दिव्य अस्त्र दे दूँगा।' अर्जुन मनस्वी तो थे ही। वे तुरंत ही कठोर तपस्यामें लग गये। इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर एक भीलके रूपमें इनके सामने प्रकट हुए। एक जंगली सूअरको लेकर दोनोंमें विवाद खड़ा हो गया और फिर दोनोंमें युद्ध छिड़ गया। अर्जुनने अपने अस्त्रकौशलसे भगवान् शङ्करको प्रसन्न कर लिया। वे बोले—'अर्जुन! तुम्हारे अनुपम कर्मसे मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हारे-जैसा धीर-वीर क्षत्रिय दूसरा नहीं है। तुम तेज और बलमें मेरे ही समान हो। तुम सनातन ऋषि हो। तुम्हें मैं दिव्य ज्ञान देता हूँ, तुम देवताओंको भी जीत सकोगे।' इसके बाद भगवान् शङ्करने अर्जुनको देवी पार्वतीके सहित अपने असली रूपमें दर्शन देकर विधिपूर्वक पाशुपतास्त्रकी शिक्षा दी। इस प्रकार देवाधिदेव महादेवकी कृपा प्राप्त कर ये स्वर्ग जानेकी बात सोच रहे थे कि इतनेमें ही वरुण, कुबेर, यम एवं देवराज—ये चारों लोकपाल वहाँ आकर उपस्थित हुए। यम, वरुण और कुबेरने क्रमशः इन्हें दण्ड, पाश एवं अन्तर्धान नामक अस्त्र दिये और इन्द्र इन्हें स्वर्गमें आनेपर अस्त्र देनेको कह गये। इसके बाद इन्द्रके भेजे हुए रथपर बैठकर अर्जुन स्वर्गलोकमें गये और वहाँ पाँच वर्ष रहकर इन्होंने अस्त्रज्ञान प्राप्त किया और साथ-ही-साथ चित्रसेन गन्धर्वसे गान्धर्वविद्या सीखी। इन्द्रसे अस्त्रविद्या सीखकर जब अर्जुन सब प्रकारके अस्त्रोंके चलानेमें

निपुण हो गये, तब देवराजने इनसे निवातकवच नामक दानवोंका वध करनेके लिये कहा। वे समुद्रके भीतर एक दुर्गम स्थानमें रहते थे। उनकी संख्या तीन करोड़ बतायी जाती थी। उन्हें देवता भी नहीं जीत सकते थे। अर्जुनने अकेले ही जाकर उन सबका संहार कर डाला। इतना ही नहीं, निवातकवचोंको मारकर लौटते समय इनका कालिकेय एवं पौलोम नामक दैत्योंसे युद्ध हुआ और उनका भी अर्जुनने सफाया कर डाला। इस प्रकार इन्द्रका प्रिय कार्य करके तथा इन्द्रपुरीमें कुछ दिन और रहकर अर्जुन वापस अपने भाइयोंके पास चले आये।

स्वर्गसे लौटकर वनमें तथा एक वर्ष अज्ञातरूपसे विराटनगरमें रहते हुए भी अर्जुनने अद्भुत पराक्रम दिखाया। वनमें इन्होंने दुर्योधनादिको छुड़ानेके लिये गन्धर्वोंसे युद्ध किया, जिसका उल्लेख युधिष्ठिरके प्रसङ्गमें किया जा चुका है। इसके बाद जब वनवासके बारह वर्ष पूरे हो गये और पाण्डवलोग एक वर्षके अज्ञातवासकी शर्त पूरी करनेके लिये विराटके यहाँ रहने लगे, उस समय इन लोगोंका पता लगानेके लिये दुर्योधनने विराटनगरपर चढ़ाई की। भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप, अश्वत्थामा आदि सभी प्रधान-प्रधान वीर उनके साथ थे। ये लोग राजा विराटकी साठ हजार गौओंको घेरकर ले चले। तब विराट-कुमार उत्तर बृहन्नला बने हुए अर्जुनको सारथि बनाकर उन्हें रोकनेके लिये गये। कौरवोंकी विशाल सेनाको देखते ही उत्तरके रोंगटे खड़े हो गये, वह रथसे उतरकर भागने लगा। बृहन्नला (अर्जुन) ने उसे पकड़कर समझाया और उसे सारथि बनाकर स्वयं युद्ध करने चले। इन्होंने बारी-बारीसे कर्ण, कृप, द्रोण, अश्वत्थामा

और दुर्योधनको पराजित किया और भीष्मको भी मूर्छित कर दिया। इसके बाद भीष्म, दुर्योधन, कर्ण, दु:शासन, विविंशति, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य—ये सभी महारथी एक साथ अर्जुनपर टूट पड़े और उन्होंने इन्हें चारों ओरसे घेर लिया; परंतु अर्जुनने अपने बाणोंकी झड़ीसे सबके छक्के छुड़ा दिये। अन्तमें इन्होंने सम्मोहन नामके अस्त्रको प्रकट किया, जिससे सारे-के-सारे कौरव वीर बेहोश हो गये, उनके हाथोंसे शस्त्र गिर पड़े। उस समय अर्जुन चाहते तो इन सबको आसानीसे मार सकते थे, परंतु ये इन सब बातोंसे ऊपर थे। होशमें आनेपर भीष्मकी सलाहसे कौरवोंने गौओंको छोड़कर लौट जाना ही श्रेयस्कर समझा। अर्जुन विजयघोष करते हुए नगरमें चले आये। इस प्रकार अर्जुनने विराटकी गौओंके साथ-साथ उनकी मान-मर्यादाकी भी रक्षा करके अपने आश्रयदाताका ऋण कई गुने रूपमें चुका दिया। धन्य स्वामिभक्ति!

महाभारत-युद्धके तो अर्जुन एक प्रधान पात्र थे ही। पाण्डवोंकी सेनाके प्रधान सेनानायक यही थे। भगवान् श्रीकृष्णने इन्हींका सारथि बनना स्वीकार किया था तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा आदि अजेय योद्धाओंसे टक्कर लेना इन्हींका काम था। वे लोग सभी इनका लोहा मानते थे। इन्होंने जयद्रथ-वधके दिन जो अद्भुत पराक्रम एवं अस्त्रकौशल दिखलाया, वह तो इन्हींके योग्य था। इनकी भयंकर प्रतिज्ञाको सुनकर उस दिन कौरवोंने जयद्रथको सारी सेनाके पीछे खड़ा किया था। कई अक्षौहिणी सेनाके बीचमें रास्ता काटते हुए अर्जुन बड़ी मुस्तैदी एवं अदम्य उत्साहके साथ अपने लक्ष्यकी ओर बढ़े चले जा रहे थे। शत्रु-सेनाके हजारों वीर और

हाथी-घोड़े उनके अमोघ बाणोंके शिकार बन चुके थे। ये रथसे एक कोसतकके शत्रुओंका सफाया करते जाते थे। इतनेमें शाम होने- को आ गयी। इनके घोड़े बाणोंके लगनेसे बहुत व्यथित हो गये थे और अधिक परिश्रमके कारण थक भी गये थे। भूख-प्यास उन्हें अलग सता रही थी। अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—'आप घोड़ोंको खोलकर इनके बाण निकाल दीजिये। तबतक मैं कौरवोंकी सारी सेनाको रोके रहूँगा।' ऐसा कहकर अर्जुन रथसे उतर पड़े और बड़ी सावधानीसे धनुष लेकर अविचल भावसे खड़े हो गये। उस समय इन्हें पराजित करनेका अच्छा मौका देखकर शत्रु-सेनाके वीरोंने एक साथ इन्हें घेर लिया और तरह-तरहके बाणों एवं शस्त्रोंसे ढक दिया; किन्तु वीर अर्जुनने उनके अस्त्रोंको अपने अस्त्रोंसे रोककर बदलेमें उन सभीको बाणोंसे आच्छादित कर दिया। इधर श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि घोड़े प्याससे व्याकुल हो रहे हैं, किन्तु पासमें कोई जलाशय नहीं है। इसपर अर्जुनने तुरंत ही अस्त्रद्वारा पृथ्वीको फोड़कर घोड़ोंके पानी पीने योग्य एक सुन्दर सरोवर बना दिया। इतना ही नहीं, उस सरोवरके ऊपर इन्होंने एक बाणोंका घर बना दिया। अर्जुनका यह अभूतपूर्व पराक्रम देखकर सिद्ध, चारण और सैनिकलोग दाँतोंतले अँगुली दबाने और वाह-वाह करने लगे। सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह हुई कि बड़े-बड़े महारथी भी पैदल अर्जुनको पीछे नहीं हटा सके। इस बीचमें श्रीकृष्णने फुर्तीसे घोड़ोंके बाण निकालकर उन्हें नहलाया, मालिश की, जल पिलाया और घास खिलाकर तथा जमीनपर लिटाकर उन्हें फिरसे रथमें जोत लिया। अर्जुन जब जयद्रथके पास पहुँचे तो इनपर आठ महारथियोंने

एक साथ आक्रमण किया और दुर्योधनने अपने बहनोईकी रक्षाके उद्देश्यसे इन्हें चारों ओरसे घेर लिया; परंतु अर्जुन उन सबका मुकाबला करते हुए आगे बढ़ते ही गये। इनके वेगको कोई रोक नहीं सका। इन्होंने श्रीकृष्णकी कृपासे सूर्यास्त होते-होते जयद्रथको अपने वज्रतुल्य बाणोंका शिकार बना लिया और श्रीकृष्णके कथनानुसार इस कौशलसे उसके मस्तकको काटा कि उसका सिर कुरुक्षेत्रसे बाहर जाकर उसके पिताकी गोदमें गिरा। इस प्रकार श्रीकृष्णकी सहायतासे सूर्यास्तसे पहले-पहले अर्जुनने जयद्रथको मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

× × ×

अर्जुन जगद्विजयी वीर और अद्वितीय धनुर्धर तो थे ही; वे बड़े भारी सत्यप्रतिज्ञ, सदाचारी, धर्मात्मा एवं इन्द्रियजयी भी थे। पाण्डव जब इन्द्रप्रस्थमें राज्य करते थे, उन दिनों एक दिन लुटेरे किसी ब्राह्मणकी गौएँ लेकर भाग गये। ब्राह्मणने आकर पाण्डवके सामने पुकार की। अर्जुनने ब्राह्मणकी करुण पुकार सुनी और उन्हें गौओंको छुड़ाकर लानेका वचन दिया। परंतु इनके शस्त्र उस घरमें थे, जहाँ इनके बड़े भाई महाराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ एकान्तमें बैठे हुए थे। पाँचों भाइयोंमें पहलेसे ही यह शर्त हो चुकी थी कि जिस समय द्रौपदी एक भाईके पास एकान्तमें रहे, उस समय दूसरा कोई भाई, यदि उनके कमरेमें चला जाय तो वह बारह वर्षतक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करता हुआ वनमें रहे। अर्जुन बड़े असमंजसमें पड़ गये। यदि ब्राह्मणकी गौओंकी रक्षा नहीं की जाती तो क्षत्रिय-धर्मसे च्युत होते हैं और उसके लिये शस्त्र लेने कमरेमें

जाते हैं तो नियमभङ्ग होता है। अन्तमें अर्जुनने नियमभङ्ग करके भी ब्राह्मणकी गौओंकी रक्षा करनेका ही निश्चय किया। इन्होंने सोचा—'नियमभङ्गके कारण मुझे कितना भी कठिन प्रायश्चित्त क्यों न करना पड़े, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ, ब्राह्मणके गोधनकी रक्षा करके अपराधियोंको दण्ड देना मेरा धर्म है और वह मेरे जीवनकी रक्षासे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।' धन्य धर्मप्रेम !

अर्जुन चुपचाप युधिष्ठिरके कमरेमें जाकर शस्त्र ले आये और उसी समय लुटेरोंका पीछा करके ब्राह्मणकी गौएँ छुड़ा लाये। वहाँसे लौटकर इन्होंने अपने बड़े भाईसे नियमभङ्गके प्रायश्चित्तरूपमें वन जानेकी आज्ञा माँगी। युधिष्ठिरने इन्हें समझाया कि 'बड़ा भाई अपनी स्त्रीके पास बैठा हो उस समय छोटे भाईका उसके पास चला जाना अपराध नहीं है। यदि कोई अपराध हुआ भी हो तो वह मेरे प्रति हुआ है और मैं उसे स्वेच्छासे क्षमा करता हूँ। फिर तुमने धर्मपालनके लिये ही तो नियमभङ्ग किया है, इसलिये भी तुम्हें वन जानेकी आवश्यकता नहीं है।' अर्जुनके लिये नियमभङ्गके प्रायश्चित्त से बचनेका यह अच्छा मौका था। और कोई होता तो इस मौकेको हाथसे नहीं जाने देता। आजकल तो कानूनके फंदेसे बचनेके लिये कानूनका ही आश्रय लेना बिल्कुल न्यायसङ्गत समझा जाता है। परंतु अर्जुन बहाना लेकर दण्डसे बचना नहीं जानते थे। इन्होंने युधिष्ठिर के समझानेपर भी सत्यकी रक्षाके लिये नियमका पालन आवश्यक समझा और वनवासकी दीक्षा लेकर वहाँसे चल पड़े ! धन्य सत्यप्रतिज्ञता और नियम-पालनकी तत्परता !

× × ×

जिस समय अर्जुन इन्द्रपुरीमें रहकर अस्त्रविद्या तथा गान्धर्व-विद्या सीख रहे थे, एक दिन इन्द्रने रात्रिके समय इनकी सेवाके लिये वहाँकी सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशीको इनके पास भेजा। उस दिन सभामें इन्द्रने अर्जुनको उर्वशीकी ओर निर्निमेष नेत्रोंसे देखते हुए पाया था। उर्वशी अर्जुनके रूप और गुणोंपर पहलेसे ही मुग्ध थी। वह इन्द्रकी आज्ञासे खूब सज-धजकर अर्जुनके पास गयी। अर्जुन उर्वशीको रात्रिमें अकेले इस प्रकार निःसंकोचभावसे अपने पास आयी देख सहम गये। इन्होंने शीलवश अपने नेत्र बंद कर लिये और उर्वशीको माताकी भाँति प्रणाम किया। उर्वशी यह देखकर दंग रह गयी। उसे अर्जुनसे इस प्रकारके व्यवहारकी आशा नहीं थी। उसने खुल्लमखुल्ला अर्जुनके प्रति कामभाव प्रकट किया। अब तो अर्जुन मारे संकोचके धरतीमें गड़-से गये। इन्होंने अपने हाथोंसे दोनों कान मूँद लिये और बोले—'माता! यह क्या कह रही हो? देवि! निस्सन्देह तुम मेरी गुरुपत्नीके समान हो। देवसभामें मैंने तुम्हें निर्निमेष नेत्रोंसे देखा अवश्य था, परन्तु मेरे मनमें कोई बुरा भाव नहीं था। मैं यही सोच रहा था कि पूरुवंशकी यही माता है। इसीसे मैं तुमको देख रहा था। देवि! मेरे सम्बन्धमें और कोई बात तुम्हें सोचनी ही नहीं चाहिये। हे निष्पापा! तुम मेरे लिये बड़ोंकी बड़ी और मेरे पूर्वजोंकी जननी हो। जैसे कुन्ती, माद्री और इन्द्रपत्नी शची मेरी माताएँ हैं, वैसे ही तुम भी पूरुवंशकी जननी होनेके नाते मेरी पूजनीया माता हो। हे सुन्दर वर्णवाली देवि! मैं तुम्हारे चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ, तुम मेरे लिये माताके समान

पूज्या हो, और मैं तुम्हारे द्वारा पुत्रवत् रक्षा करने योग्य हूँ* ।' अ
तो उर्वशी क्रोधके मारे आगबबूला हो गयी । उसने अर्जुनको शा
दिया—'मैं इन्द्रकी आज्ञासे कामातुर होकर तुम्हारे पास आयी थी
परन्तु तुमने मेरे प्रेमको ठुकरा दिया । इसलिये जाओ, तुम्हें स्त्रियों
बीचमें नचनियाँ होकर रहना पड़ेगा और लोग तुम्हें हिंजड़ा कहक
पुकारेंगे ।' अर्जुनने उर्वशीके शापको सहर्ष स्वीकार कर लिया, परन्
धर्मका त्याग नहीं किया । एकान्तमें स्वेच्छासे आयी हुई उर्वशी-जैस
अनुपम सुन्दरीका परित्याग करना अर्जुनका ही काम था । धन
इन्द्रियजय ! जब इन्द्रको यह बात माल्रम हुई तो उन्होंने अर्जुनक
बुलाकर इनकी पीठ ठोंकी और कहा—'बेटा ! तुम्हारे-जैसा पु
पाकर तुम्हारी माता धन्य हुई । तुमने अपने धैर्यसे ऋषियोंको भ
जीत लिया । अब तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो । उर्वशीने ज
शाप तुम्हें दिया है, वह तुम्हारे लिये वरदानका काम करेगा, तेरह
वर्षमें जब तुम अज्ञातवास करोगे, उस समय यह शाप तुम्हा
छिपनेमें सहायक होगा । इसके बाद तुम्हें पुरुषत्वकी प्राप्ति ह
जायगी ।' सच है—'धर्मो रक्षति रक्षितः ।'

× × ×

---

* यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया ॥
(महा० वन० ४६ । ४६-४७)

विराटनगरमें अज्ञातवासकी अवधि पूरी हो जानेपर जब पाण्डवोंने अपनेको राजा विराटके सामने प्रकट किया, उस समय राजा विराटने कृतज्ञतावश अपनी कन्या उत्तराकुमारीका अर्जुनसे विवाह करना चाहा। परन्तु अर्जुनने उनके इस प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा—'राजन्! मैं बहुत कालतक आपके रनिवासमें रहा हूँ और आपकी कन्याको एकान्तमें तथा सबके सामने भी पुत्रीके रूपमें ही देखता आया हूँ। उसने भी मुझपर पिताकी भाँति ही विश्वास किया है। मैं उसके सामने नाचता था और संगीतका जानकार भी हूँ। इसलिये वह मुझसे प्रेम तो बहुत करती है परन्तु सदा मुझे गुरु ही मानती आयी है। वह वयस्का हो गयी है और उसके साथ एक वर्षतक मुझे रहना पड़ा है। अतः आपको या किसी औरको हम दोनोंके प्रति अनुचित सन्देह न हो, इसलिये उसे मैं अपनी पुत्रवधूके रूपमें ही वरण करता हूँ। ऐसा करनेसे ही हम दोनोंका चरित्र शुद्ध समझा जायगा।' अर्जुनके इस पवित्र भावकी सब लोगोंने प्रशंसा की और उत्तरा अभिमन्युको ब्याह दी गयी। अर्जुन-जैसे महान् इन्द्रियजयी ही इस प्रकार युवती कन्याके साथ एक वर्षतक घनिष्ठ सम्पर्कमें रहकर भी अपनेको अछूता रख सके और उसका भाव भी इनके प्रति बिगड़ा नहीं। वयस्क छात्रों तथा छात्राओंके शिक्षकोंको इससे शिक्षा लेनी चाहिये।

× × ×

जब अश्वत्थामा रात्रिमें सोये हुए पाण्डवोंके पुत्रों तथा धृष्टद्युम्न आदिको मारकर स्वयं गङ्गातटपर जा बैठा, तब पीछेसे उसके क्रूर कर्मका संवाद पाकर भीमसेन और अर्जुन उससे बदला लेनेके लिये

उसकी तलाशमें गये। भीम और अर्जुनको आते देख अश्वत्था[illegible] बहुत डर गया और इनके हाथोंसे बचनेका और कोई उपाय न दे[illegible] उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। देखते-देखते वहाँ प्रलयकालकी-सी अ[illegible] उत्पन्न हो गयी और वह चारों ओर फैलने लगी। उसे शान्त करने[illegible] लिये अर्जुनने भी ब्रह्मास्त्रको प्रकट किया; क्योंकि ब्रह्मास्त्र[illegible] ब्रह्मास्त्रके द्वारा ही शान्त किया जा सकता था। दोनों अस्त्रोंके आपस[illegible] टकरानेसे बड़ी भारी गर्जना होने लगी, हजारों उल्काएँ गिरने ल[illegible] और सभी प्राणियोंको बड़ा भय मालूम होने लगा। यह भयङ्क[illegible] काण्ड देखकर देवर्षि नारद और महर्षि व्यास दोनों वहाँ एक सा[illegible] पधारे और दोनों वीरोंको शान्त करने लगे। इन दोनों महापुरुषों[illegible] कहनेसे अर्जुनने तो तुरंत अपना दिव्य अस्त्र लौटा लिया। उन्हों[illegible] उसे छोड़ा ही था अश्वत्थामाके अस्त्रको शान्त करनेके लिये ही[illegible] उस अस्त्रका ऐसा प्रभाव था कि उसे एक बार छोड़ देनेपर सहसा उ[illegible] लौटाना अत्यन्त कठिन था। केवल ब्रह्मचारी ही उसे लौटा सक[illegible] था। अश्वत्थामाने भी उन दोनों महापुरुषोंको देखकर उसे लौटानेक[illegible] बहुत प्रयत्न किया, पर वह संयमी न होनेके कारण उसे लौटा न[illegible] सका। अन्तमें व्यासजीके कहनेसे उसने उस अस्त्रको उत्तराके गर्भ[illegible] पर छोड़ दिया और वह बालक मरा हुआ निकला; किन्तु भगवा[illegible] श्रीकृष्णने उसे फिरसे जिला दिया। इस प्रकार अर्जुनमें शूरवीरता[illegible] अस्त्रज्ञान और इन्द्रियजय—इन तीनों गुणोंका अद्भुत सम्मिश्रण था।

अर्जुनका जीवन एक दिव्य जीवन था। इनके चरित्रपर ह[illegible] जितना ही विचार करते हैं, उतना ही हमें वह आदर्श ए[illegible] सत्-शिक्षाओंसे पूर्ण प्रतीत होता है।

कुन्तीदेवी

कुन्तीदेवी एक आदर्श महिला थीं। ये महात्मा पाण्डवोंकी माता एवं भगवान् श्रीकृष्णकी बूआ थीं। ये वसुदेवजीकी सगी बहिन थीं तथा राजा कुन्तिभोजको गोद दी गयी थीं। जन्मसे इन्हें लोग पृथाके नामसे पुकारते थे, परन्तु राजा कुन्तिभोजके यहाँ इनका लालन-पालन होनेसे ये कुन्तीके नामसे विख्यात हुईं। ये बालकपनसे ही बड़ी सुशीला, सदाचारिणी, संयमशीला एवं भक्तिमती थीं। राजा कुन्तिभोजके यहाँ एक बार एक बड़े तेजस्वी ब्राह्मण अतिथिरूपमें आये। उनकी सेवाका कार्य बालिका कुन्तीको सौंपा गया। इसकी

ब्राह्मणोंमें बड़ी भक्ति थी और अतिथि-सेवामें बड़ी रुचि थी। राज
पृथा आलस्य और अभिमानको त्यागकर ब्राह्मणदेवताकी से
तन-मनसे संलग्न हो गयी। इसने शुद्ध मनसे सेवा करके ब्राह्म
देवताको पूर्णतया प्रसन्न कर लिया। ब्राह्मणदेवताका व्यवहार ब
अटपटा था। कभी वे अनियत समयपर आते, कभी आते ही न
और कभी ऐसी चीज खानेको माँगते, जिसका मिलना अत्य
कठिन होता; किन्तु पृथा उनके सारे काम इस प्रकार कर दे
मानो उसने उनके लिये पहलेसे ही तैयारी कर रक्खी हो। इस
शील-स्वभाव एवं संयमसे ब्राह्मणको बड़ा सन्तोष हुआ। कुन्तीकी
बचपनकी ब्राह्मण-सेवा इनके लिये बड़ी कल्याणप्रद सिद्ध हुई।
इसीसे इनके जीवनमें संयम, सदाचार, त्याग एवं सेवाभावकी न
पड़ी। आगे जाकर इन गुणोंका इनके अंदर अद्भुत विकास हुआ

कुन्तीके अंदर निष्कामभावका विकास भी बचपनसे ही
गया था। इन्हें बड़ी तत्परता एवं लगनके साथ महात्मा ब्राह्मण
सेवा करते पूरा एक वर्ष हो गया। इनके सेवामन्त्रका अनुष्ठान
हुआ। इनकी सेवामें ढूँढ़नेपर भी ब्राह्मणको कोई त्रुटि नहीं दिख
दी। तब तो वे इनपर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'बे
मैं तेरी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। मुझसे कोई वर माँग ले।' कुन्
ब्राह्मणदेवताको बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। श्रीकृष्णकी बूआ
पाण्डवोंकी भावी माताका वह उत्तर सर्वथा अनुरूप था। कुन्
कहा—'भगवन्! आप और पिताजी मुझपर प्रसन्न हैं, मेरे
कार्य तो इसीसे सफल हो गये। अब मुझे वरोंकी कोई आवश्यक
नहीं है।' एक अल्पवयस्का बालिकाके अंदर विलक्षण सेवाभा

साथ-साथ ऐसी निष्कामताका संयोग मणि-काञ्चन-संयोगके समान था। हमारे देशकी बालिकाओंको कुन्तीके इस आदर्श निष्काम सेवाभावसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अतिथि-सेवा हमारे सामाजिक जीवनका प्राण रही है और उसकी शिक्षा भारतवासियोंको बचपनसे ही मिल जाया करती थी। सच्ची एवं सात्त्विक सेवा वही है, जो प्रसन्नतापूर्वक की जाय—जिसमें भार अथवा उकताहट न प्रतीत हो, और जिसके बदलेमें कुछ न चाहा जाय। आजकलकी सेवामें प्रायः इन दोनों बातोंका अभाव देखा जाता है। प्रसन्नतापूर्वक निष्कामभावसे की हुई सेवा कल्याणका परम साधन बन जाती है। अस्तु,

जब कुन्तीने ब्राह्मणसे कोई वर नहीं माँगा, तब उन्होंने इससे देवताओंके आवाहनका मन्त्र ग्रहण करनेके लिये कहा। वे कुछ न-कुछ कुन्तीको देकर जाना चाहते थे। अबकी बार ब्राह्मणके अपमानके भयसे कुन्ती इनकार न कर सकी। तब उन्होंने इसे अथर्ववेदके शिरोभागमें आये हुए मन्त्रोंका उपदेश दिया और कहा कि 'इन मन्त्रोंके बलसे तू जिस-जिस देवताका आवाहन करेगी, वही तेरे अधीन हो जायगा।' यों कहकर वे ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गये। वे ब्राह्मण और कोई नहीं, उग्रतपा महर्षि दुर्वासा थे। उनके दिये हुए मन्त्रोंके प्रभावसे कुन्ती आगे चलकर धर्म आदि देवताओंसे युधिष्ठिर आदिको पुत्ररूपमें प्राप्त कर सकी।

कुन्तीका विवाह महाराज पाण्डुसे हुआ था। महाराज पाण्डु बड़े ही धर्मात्मा थे। उनके द्वारा एक बार भूलसे मृगरूपधारी किन्दम मुनिकी हिंसा हो गयी। इस घटनासे उनके मनमें बड़ी ग्लानि और निर्वेद हुआ और उन्होंने सब कुछ त्यागकर वनमें रहनेका निश्चय

कर लिया । देवी कुन्ती बड़ी पतिभक्ता थीं । ये भी अपने पति
साथ इन्द्रियोंको वशमें करके तथा कामजन्य सुखको तिलाञ्जलि दे
वनमें रहनेके लिये तैयार हो गयीं । तबसे इन्होंने जीवनपर्य
नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया और संयमपूर्वक रहीं
पतिका स्वर्गवास होनेपर इन्होंने अपने बच्चोंकी रक्षाका भार अप
छोटी सौत माद्रीको सौंपकर अपने पतिका अनुगमन करनेका विच
किया । परन्तु माद्रीने इसका विरोध किया । उसने कहा—'बहिन
मैं अभी युवती हूँ, अतः मैं ही पतिदेवका अनुगमन करूँगी । तु
मेरे बच्चोंकी सँभाल रखना ।' कुन्तीने माद्रीकी बात मान ली
अन्ततक उसके पुत्रोंको अपने पुत्रोंसे बढ़कर समझा । सपत्नी
उसके पुत्रोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसकी शिक्षा
हमारी माता-बहिनोंको कुन्तीके जीवनसे लेनी चाहिये । पति
जीवनकालमें इन्होंने माद्रीके साथ छोटी बहिनका-सा बर्ताव कि
और उसके सती होनेके बाद उसके पुत्रोंके प्रति वही भाव रख
जो एक साध्वी स्त्रीको रखना चाहिये । सहदेवके प्रति तो इनक
विशेष ममता थी और वह भी इन्हें बहुत अधिक प्यार करता था

पतिकी मृत्युके बादसे कुन्तीदेवीका जीवन बराबर कष्टमें बीता
परन्तु ये बड़ी ही विचारशीला एवं धैर्यवती थीं । अतः इन्होंने कष्टे
की कुछ भी परवा नहीं की और अन्ततक धर्मपर आरूढ़ रहीं
दुर्योधनके अत्याचारोंको भी ये चुपचाप सहती रहीं । इनका स्वभा
बड़ा ही कोमल और दयालु था । इन्हें अपने कष्टोंकी कोई परव
नहीं थी, परन्तु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकती थीं । लाक्षाभवनसे
निकलकर जब ये अपने पुत्रोंके साथ एकचक्रा नगरीमें रहने लगीं

थीं, उन दिनों वहाँकी प्रजापर एक बड़ा भारी संकट था। उस नगरीके पास ही एक बकासुर नामका राक्षस रहता था। उस राक्षसके लिये नगरवासियोंको प्रतिदिन एक गाड़ी अन्न तथा दो भैंसे पहुँचाने पड़ते थे। जो मनुष्य इन्हें लेकर जाता, उसे भी वह राक्षस खा जाता। वहाँके निवासियोंको बारी-बारीसे यह काम करना पड़ता था। पाण्डवलोग जिस ब्राह्मणके घरमें भिक्षुकोंके रूपमें रहते थे, एक दिन उसके घरसे राक्षसके लिये आदमी भेजनेकी बारी आयी। ब्राह्मणपरिवारमें कुहराम मच गया। कुन्तीको इस बातका पता लगा, तब इनका हृदय दयासे भर आया। उन्होंने सोचा—'हमलोगोंके रहते ब्राह्मण-परिवारको कष्ट भोगना पड़े, यह हमारे लिये बड़ी लज्जाकी बात होगी। फिर हमारे तो ये आश्रयदाता हैं, इनका प्रत्युपकार हमें किसी-न-किसी रूपमें करना ही चाहिये। अवसर आनेपर उपकारीका प्रत्युपकार न करना धर्मसे च्युत होना है। जब इनके घरमें हमलोग रह रहे हैं तो इनका दुःख बँटाना हमारा कर्तव्य हो जाता है।' यों विचारकर कुन्ती ब्राह्मणके घर गयीं। इन्होंने देखा कि ब्राह्मण अपनी पत्नी और पुत्रके साथ बैठे हैं। वे अपनी स्त्रीसे कह रहे हैं कि 'तुम कुलीन, शीलवती और बच्चोंकी माँ हो। मैं राक्षससे अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें उसके पास नहीं भेज सकता।' पतिकी बात सुनकर ब्राह्मणीने कहा—'नहीं, मैं स्वयं उसके पास जाऊँगी। पत्नीके लिये सबसे बढ़कर सनातन कर्तव्य यही है कि वह अपने प्राणोंको निछावर करके पतिकी भलाई करे। स्त्रियोंके लिये यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि वे अपने पतिसे पहले ही परलोकवासिनी हो जायँ। यह भी

सम्भव है कि स्त्रीको अवध्य समझकर वह राक्षस मुझे न मारे
पुरुषका वध निर्विवाद है और स्त्रीका सन्देहग्रस्त, इसलिये मुझे
उसके पास भेजिये ।' माँ-बापकी दुःखभरी बात सुनकर कन्या
बोली—'आप क्यों रो रहे हैं ? देखिये, धर्मके अनुसार आप दोनों
मुझे एक-न-एक दिन छोड़ देंगे । इसलिये आज ही मुझे छोड़कर
अपनी रक्षा क्यों नहीं कर लेते ? लोग सन्तान इसीलिये चाहते
कि वह हमें दुःखसे बचाये ।' यह सुनकर माँ-बाप दोनों रोने लगे
कन्या भी रोये बिना न रह सकी । सबको रोते देखकर नन्हा-सा
ब्राह्मण-बालक कहने लगा—'पिताजी ! माताजी ! बहिन ! मत
रोओ !' फिर उसने एक तिनका उठाकर हँसते हुए कहा—'मैं
इसीसे राक्षसको मार डालूँगा ।' तब सब लोग हँस पड़े । कुन्ती
यह सब देख-सुन रही थीं । वे आगे बढ़कर उनसे बोलीं—
'महाराज ! आपके तो एक पुत्र और एक ही कन्या है । मेरे
आपकी दयासे पाँच पुत्र हैं । राक्षसको भोजन पहुँचानेके लिये मैं
उनमेंसे किसीको भेज दूँगी, आप घबरायें नहीं ।' ब्राह्मणदेवता
कुन्तीदेवीके इस प्रस्तावको सुनकर नट गये । उन्होंने कहा—
'देवि ! आपका इस प्रकार कहना आपके अनुरूप ही है; परन्तु
मैं तो अपने लिये अपने अतिथिकी हत्या नहीं करा सकता।'
कुन्तीने उन्हें बतलाया कि 'मैं अपने जिस पुत्रको राक्षसके पास
भेजूँगी, वह बड़ा बलवान्, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है; उसका कोई
बाल भी बाँका नहीं कर सकता ।' इसपर ब्राह्मण राजी हो गये । तब
कुन्तीने भीमसेनको उस कामके लिये राक्षसके पास भेज दिया।
भला, दूसरोंकी प्राण-रक्षाके लिये इस प्रकार अपने हृदयके टुकड़ेको

जान-बूझकर कोई माता बलिदान कर सकती है ! कहना न होगा कि कुन्तीके इस आदर्श त्यागके प्रभावसे संसारपर बहुत ही अच्छा असर पड़ा । अतएव सभीको इससे शिक्षा लेनी चाहिये ।

कुन्तीदेवीका सत्यप्रेम भी आदर्श था । ये विनोदमें भी कभी झूठ नहीं बोलती थीं ! भूलसे भी इनके मुँहसे जो बात निकल जाती थी, उसका ये जी-जानसे पालन करती थीं । इस प्रकारकी सत्यनिष्ठा इतिहास-के पन्ने उलटनेपर भी दूसरी जगह प्राय: नहीं देखनेमें आती । अर्जुन और भीम स्वयंवरमें द्रौपदीको जीतकर जब माताके पास लाये और कहा कि 'माता ! आज हम यह भिक्षा लाये हैं' तो इन्होंने उन्हें बिना देखे ही कह दिया कि 'बेटा ! पाँचों भाई मिलकर इसका उपयोग करो ।' जब इन्हें मालूम हुआ कि ये एक कन्या लाये हैं, तब तो ये बड़े असमञ्जसमें पड़ गयीं । इन्होंने सोचा—'यदि मैं अपनी बात वापस लेती हूँ तो असत्यका दोष लगता है; और यदि अपने पुत्रोंको उसीके अनुसार चलनेके लिये कहती हूँ तो सनातन मर्यादाका लोप होता है ।' पाँच भाइयोंका एक स्त्रीसे विवाह हो—यह पहले कभी नहीं देखा-सुना गया था । ऐसी स्थितिमें कुन्तीदेवी कुछ भी निश्चय न कर सकीं; वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयीं । अन्तमें उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिरकी सम्मति पूछी और उन्होंने सत्यपर क़ायम रहनेकी ही सलाह दी । पीछे राजा द्रुपदकी ओरसे आपत्ति होनेपर वेदव्यासजीने द्रौपदीके पूर्वजन्मोंकी कथा कहते हुए उन्हें समझाया कि शङ्करजीके वरदानसे ये पाँचों ही द्रुपदकुमारीका पाणिग्रहण करेंगे । इस प्रकार पाँचोंके साथ द्रुपदकुमारी विधिपूर्वक ब्याह दी गयीं । कुन्तीदेवीकी सत्यनिष्ठाकी विजय हुई । उनके मुखसे हठात् ऐसी ही बात निकली, जो होनेवाली

थी । सत्यका दृढ़तापूर्वक आश्रय लेनेपर ऐसा होना किसीके लि
भी असम्भव नहीं है । अस्तु,

कुन्तीदेवीका जीवन शुरूसे अन्ततक बड़ा ही त्यागपूर्ण, तपस्
मय और अनासक्त था । पाण्डवोंके वनवास एवं अज्ञातवासके सम
ये उनसे अलग हस्तिनापुरमें ही रहीं और वहींसे इन्होंने अ
पुत्रोंके लिये अपने भतीजे भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा क्षत्रियधर्मपर
रहनेका सन्देश भेजा । इन्होंने विदुला और सञ्जयका दृष्टान्त दे
बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें उन्हें कहला भेजा कि 'पुत्रो ! जिस कार्य
लिये क्षत्राणी पुत्र उत्पन्न करती है, उस कार्यके करनेका समय
गया है ।'* महाभारतयुद्धके समय भी ये वहीं रहीं और युद्ध-समाप्ति
बाद जब धर्मराज युधिष्ठिर सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुए और इ
राजमाता बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, उस समय इन्होंने पुत्रवियोग
दुखी अपने जेठ-जेठानीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया औ
द्वेष एवं अभिमानरहित होकर उनकी सेवामें अपना समय बिता
लगीं । यहाँतक कि जब वे दोनों युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर व
जाने लगे, उस समय ये चुपचाप उनके संग हो लीं और युधिष्ठि
आदिके समझानेपर भी अपने दृढ़ निश्चयसे विचलित नहीं हुईं।
जीवनभर दुःख और क्लेश भोगनेके बाद जब सुखके दिन आये, उ
समय भी सांसारिक सुख-भोगको ठुकराकर स्वेच्छासे त्याग, तपस्
एवं सेवामय जीवन स्वीकार करना कुन्तीदेवी-जैसी पवित्र आत्माका ह
काम था । जिन जेठ-जेठानीसे इन्हें तथा इनके पुत्रों एवं पुत्रवधुओंको

---

* यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ॥
(महा० उद्योग० १३७ । १०)

कष्ट, अपमान एवं अत्याचारके अतिरिक्त कुछ नहीं मिला, उन जेठ-जेठानीके लिये इतना त्याग संसारमें कहाँ देखनेको मिलता है ? हमारी माताओं एवं बहिनोंको कुन्तीदेवीके इस अनुपम त्यागसे शिक्षा लेनी चाहिये ।

कुन्तीदेवीको वन जाते समय भीमसेनने समझाया कि 'माता! यदि तुम्हें अन्तमें यही करना था तो फिर व्यर्थ हमलोगोंके द्वारा इतना नर-संहार क्यों करवाया ? हमारे वनवासी पिताकी मृत्युके बाद हमें वनसे नगरमें क्यों लायीं ?' उस समय कुन्तीदेवीने उन्हें जो उत्तर दिया, वह हृदयमें अङ्कित करने योग्य है । वे बोलीं—'बेटा ! तुमलोग कायर बनकर हाथ-पर-हाथ रखकर न बैठे रहो, क्षत्रियोचित पुरुषार्थको त्यागकर अपमानपूर्ण जीवन न व्यतीत करो, शक्ति रहते अपने न्यायोचित अधिकारसे सदाके लिये हाथ न धो बैठो—इसीलिये मैंने तुमलोगोंको युद्धके लिये उकसाया था, अपने सुखकी इच्छासे ऐसा नहीं किया था । मुझे राज्य-सुख भोगनेकी इच्छा नहीं है । मैं तो अब तपके द्वारा पतिलोकमें जाना चाहती हूँ । इसलिये अपने वनवासी जेठ-जेठानीकी सेवामें रहकर मैं अपना शेष जीवन तपमें ही बिताऊँगी । तुमलोग सुखपूर्वक घर लौट जाओ और धर्म-पूर्वक प्रजाका पालन करते हुए अपने परिजनोंको सुख दो ।' इस प्रकार अपने पुत्रोंको समझा-बुझाकर कुन्तीदेवी अपने जेठ-जेठानीके साथ वनमें चली गयीं और अन्त समयतक उनकी सेवामें रहकर इस देवीने उन्हींके साथ दावाग्निमें जलकर योगियोंकी भाँति शरीर छोड़ दिया । कुन्तीदेवी-जैसी आदर्श महिलाएँ संसारके इतिहासमें बहुत कम मिलेंगी ।

देवी द्रौपदी

देवी द्रौपदी पाञ्चालनरेश राजा द्रुपदकी अयोनिजा पुत्री थ
इनकी उत्पत्ति यज्ञवेदीसे हुई थी । इनका रूप-लावण्य अनुपम थ
इनके-जैसी सुन्दरी उस समय पृथ्वीभरमें कोई न थी । इनके शरी
तुरंतके खिले कमलकी-सी गन्ध निकलकर एक कोसतक फैल ज
थी । इनके जन्मके समय आकाशवाणीने कहा था—'देवताओं
कार्य सिद्ध करनेके लिये क्षत्रियोंके संहारके उद्देश्यसे इस रमणी
का जन्म हुआ है । इसकें कारण कौरवोंको बड़ा भय होग
कृष्णवर्ण होनेके कारण लोग इन्हें कृष्णा कहते थे । पूर्वजन्ममें
हुए भगवान् शङ्करके वरदानसे इन्हें इस जन्ममें पाँच पति प्राप्त हु
अकेले अर्जुनके द्वारा स्वयंवरमें जीती जानेपर भी माता कुन्ती
आज्ञासे इन्हें पाँचों भाइयोंने ब्याहा था ।

द्रौपदी उच्चकोटिकी पतिव्रता एवं भगवद्भक्ता थीं। इनकी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अविचल प्रीति थी। ये उन्हें अपना रक्षक, हितैषी एवं परम आत्मीय तो मानती ही थीं; उनकी सर्व-व्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्तामें भी इनका पूर्ण विश्वास था। जब कौरवोंकी सभामें दुष्ट दुःशासनने इन्हें नंगी करना चाहा और सभा-सदोंमेंसे किसीकी हिम्मत न हुई कि इस अमानुषी अत्याचारको रोके, उस समय अपनी लाज बचानेका कोई दूसरा उपाय न देख इन्होंने अत्यन्त आतुर होकर भगवान् श्रीकृष्णको पुकारा—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्त्तिनाशन ॥
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन।
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ॥
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्।*

(महा० सभा० ६८। ४१—४४)

*'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी! हे सच्चिदानन्दस्वरूप प्रेमधन! हे गोपीजनवल्लभ! हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! कौरव मुझे अपमानित कर रहे हैं। क्या यह बात आपको मालूम नहीं है? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे आर्तिनाशन जनार्दन! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूब रही हूँ। आप मेरा उद्धार कीजिये। हे कृष्ण! आप सच्चिदानन्दस्वरूप महायोगी हैं! आप सर्वस्वरूप एवं सबके जीवनदाता हैं! हे गोविन्द! मैं कौरवोंसे घिरकर बड़े सङ्कटमें पड़ गयी हूँ। आपकी शरणमें हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।'

सच्चे हृदयकी करुण पुकार भगवान् बहुत जल्दी सुनते श्रीकृष्ण उस समय द्वारकामें थे। वहाँसे वे तुरंत दौड़े आये धर्मरूपसे द्रौपदीके वस्त्रोंमें छिपकर उनकी लाज बचायी। भगवान् कृपासे द्रौपदीकी साड़ी अनन्तगुना बढ़ गयी। दुःशासन उसे जित ही खींचता था, उतना ही वह बढ़ती जाती थी। देखते-देखते वहाँ का ढेर लग गया। महाबली दुःशासनकी प्रचण्ड भुजाएँ थक परन्तु साड़ीका छोर हाथ नहीं आया। उपस्थित सारे समा भगवद्भक्ति एवं पातिव्रत्यका अद्भुत चमत्कार देखा। अन्तमें दुःशा हारकर लज्जित हो बैठ गया। भक्तवत्सल प्रभुने अपने भक्तकी ल रख ली। धन्य भक्तवत्सलता!

एक दिनकी बात है—जब पाण्डवलोग द्रौपदीके साथ काम्य वनमें रह रहे थे, दुर्योधनके भेजे हुए महर्षि दुर्वासा अपने द हजार शिष्योंको साथ लेकर पाण्डवोंके पास आये। दुर्योधनने जा बूझकर उन्हें ऐसे समयमें भेजा जब कि सब लोग भोजन क विश्राम कर रहे थे। महाराज युधिष्ठिरने अतिथिसेवाके उद्देश्यसे भगवान् सूर्यदेवसे एक ऐसा चमत्कारी बर्तन प्राप्त किया था, जिस पकाया हुआ थोड़ा-सा भी भोजन अक्षय हो जाता था। लेकिन उस शर्त यही थी कि जबतक द्रौपदी भोजन न करके अन्न परोसती तभीतक उस बर्तनसे यथेष्ट अन्न प्राप्त हो सकता था। युधिष्ठि महर्षिको शिष्यमण्डलीके सहित भोजनके लिये आमन्त्रित किया औ दुर्वासाजी मध्याह्नकालीन स्नान-सन्ध्यादि नित्यकर्मसे निवृत्त होने लिये सबके साथ गङ्गातटपर चले गये।

दुर्वासाजीके साथ दस हजार शिष्योंका एक पूरा-का-पूरा विश्वविद्यालय-सा चला करता था। धर्मराजने उन सबको भोजनका निमन्त्रण तो दे दिया और ऋषिने उसे स्वीकार भी कर लिया; परन्तु किसीने भी इसका विचार नहीं किया कि द्रौपदी भोजन कर चुकी है, इसलिये सूर्यके दिये हुए वर्तनसे तो उन लोगोंके भोजनकी व्यवस्था हो नहीं सकती थी। द्रौपदी बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं। उन्होंने सोचा—'ऋषि यदि बिना भोजन किये वापस लौट जाते हैं तो वे बिना शाप दिये नहीं रहेंगे।' उनका क्रोधी स्वभाव जगद्विख्यात था। द्रौपदीको और कोई उपाय नहीं सूझा। तब इन्होंने मन-ही-मन भक्तभयभञ्जन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया और इस आपत्तिसे उबारनेकी उनसे इस प्रकार प्रार्थना की—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय ॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्त्तिविनाशन।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्त्तक नतास्मि ते ॥
वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर ॥
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल ॥
नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण।
पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण ॥

त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम्।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः॥
त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम्।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि॥
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव सङ्कटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि॥*

(महा० वन० २६३ । ८-१

---

* 'हे कृष्ण ! हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! हे देवकीनन्दन ! हे अवि वासुदेव ! चरणोंमें पड़े हुए दुखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदी तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्के आत्मा हो । इस विश्वको बनाना और बिगा तुम्हारे ही हाथोंका खेल है । प्रभो ! तुम अविनाशी हो; शरणागतोंकी करनेवाले गोपाल ! तुम्हीं सम्पूर्ण प्रजाके रक्षक परात्पर परमेश्वर हो; चि वृत्तियों और भावोंके प्रवर्तक तुम्हीं हो, मैं तुम्हें प्रणाम करती सबके वरण करने योग्य वरदाता अनन्त ! आओ; जिन्हें तुम्हारे सिवा कोई सहारा देनेवाला नहीं है, उन असहाय भक्तोंकी सहायता करो । पु पुरुष ! प्राण और मनकी वृत्तियाँ तुम्हारे पासतक नहीं पहुँच पातीं । साक्षी परमोत्कृष्ट देव ! मैं तुम्हारी शरणमें हूँ । शरणागतवत्सल ! कृपा मुझे बचाओ ! नीलकमलदलके समान श्यामसुन्दर ! कमल पुष्पके भी भागके समान किञ्चित् लाल नेत्रोंवाले ! कौस्तुभमणिविभूषित एवं पीता धारण करनेवाले श्रीकृष्ण ! तुम्हीं सम्पूर्ण भूतोंके आदि और अन्त तुम्हीं परम आश्रय हो ! तुम्हीं परात्पर, ज्योतिर्मय, सर्वव्यापक एवं सर्वा हो । ज्ञानी पुरुषोंने तुमको ही इस जगत्का परम बीज और स सम्पदाओंका अधिष्ठान कहा है । देवेश ! जब तुम मेरे रक्षक हो

श्रीकृष्ण तो घट-घटकी जाननेवाले हैं। वे तुरंत वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर द्रौपदीके शरीरमें मानो प्राण आ गये, डूबते हुएको मानो सहारा मिल गया। द्रौपदीने संक्षेपमें उन्हें सारी बात सुना दी। श्रीकृष्णने अधीरता प्रदर्शित करते हुए कहा—'और सब बात पीछे होगी। पहले मुझे जल्दी कुछ खानेको दो। मुझे बड़ी भूख लगी है। तुम जानती नहीं हो मैं कितनी दूरसे हारा-थका आया हूँ।' द्रौपदी लाजके मारे गड़-सी गयीं। इन्होंने रुकते-रुकते कहा—'प्रभो! मैं अभी-अभी खाकर उठी हूँ। अब तो उस बटलोईमें कुछ भी नहीं बचा है।' श्रीकृष्णने कहा—'जरा अपनी बटलोई मुझे दिखाओ तो सही।' कृष्णा बटलोई ले आयीं। श्रीकृष्ण-ने उसे हाथमें लेकर देखा तो उसके गलेमें उन्हें एक सागका पत्ता चिपका हुआ मिला। उन्होंने उसीको मुँहमें डालकर कहा—'इस सागके पत्तेसे सम्पूर्ण जगत्के आत्मा यज्ञभोक्ता परमेश्वर तृप्त हो जायँ।' इसके बाद उन्होंने सहदेवसे कहा—'भैया! अब तुम मुनीश्वरोंको भोजनके लिये बुला लाओ।' सहदेवने गङ्गातटपर जाकर देखा तो वहाँ उन्हें कोई नहीं मिला। बात यह हुई कि जिस समय श्रीकृष्णने सागका पत्ता मुँहमें डालकर वह संकल्प पढ़ा, उस समय मुनीश्वरलोग जलमें खड़े होकर अघमर्षण कर रहे थे। उन्हें अकस्मात् ऐसा अनुभव होने लगा, मानो उनका पेट गलेतक अन्नसे भर गया हो। वे सब एक दूसरेके मुँहकी ओर ताकने लगे और कहने लगे

मुझपर सारी विपत्तियाँ टूट पड़ें तो भी भय नहीं है। आजसे पहले सभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान सङ्कटसे भी मेरा उद्धार करो।'

कि 'अब हमलोग वहाँ जाकर क्या खायेंगे ?' दुर्वासाने चुपचाप भा
जाना ही श्रेयस्कर समझा; क्योंकि वे यह जानते थे कि पाण्ड
भगवद्भक्त हैं और अम्बरीषके यहाँ उनपर जो कुछ बीती थी, उस
बादसे उन्हें भगवद्भक्तोंसे बड़ा डर लगने लगा था । बस, सब ले
वहाँसे चुपचाप भाग निकले । सहदेवको वहाँ रहनेवाले तपस्वियों
उन सबके भाग जानेका समाचार मिला और उन्होंने लौटकर सा
बात धर्मराजको कह सुनायी । इस प्रकार द्रौपदीकी श्रीकृष्णभक्ति
पाण्डवोंकी एक भारी बला टल गयी । श्रीकृष्णने आकर इन्हें दुर्वासा
कोपसे बचा लिया और इस प्रकार अपनी शरणागतवत्सलता
परिचय दिया ।

एक बार वनमें भगवान् श्रीकृष्ण देवी सत्यभामाके साथ पाण्डवों
से मिलने आये । उस समय बातों-ही-बातोंमें सत्यभामाजीने द्रौपदीसे
पूछा—'बहिन ! मैं तुमसे एक बात पूछती हूँ । मैं देखती हूँ कि
तुम्हारे शूरवीर और बलवान् पति सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं
इसका क्या कारण है ? क्या तुम कोई जंतर-मंतर या औषध जानती
हो ? अथवा क्या तुमने जप, तप, व्रत, होम या विद्यासे उन्हें वशमें
कर रक्खा है ? मुझे भी कोई ऐसा उपाय बताओ, जिससे भगवान्
श्यामसुन्दर मेरे वशमें हो जायँ ।' देवी द्रौपदीने कहा—'बहिन!
तुम्हारा इस प्रकार शङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि तुम
बुद्धिमती और श्रीकृष्णकी पटरानी हो । जब पतिको यह मालूम
हो जाता है कि पत्नी उसे काबूमें करनेके लिये किसी मन्त्र-तन्त्रका
प्रयोग कर रही है, तब वह उससे उसी प्रकार दूर रहता है, जिस

प्रकार घरमें घुसे हुए साँपसे । अतः मन्त्र-तन्त्रसे कभी भी पति अपनी पत्नीके वशमें नहीं हो सकता । इसके विपरीत, इससे कई प्रकारके अनर्थ हो जाते हैं । इसलिये स्त्रीको कभी किसी प्रकार अपने पतिका अप्रिय नहीं करना चाहिये ।'

इसके बाद इन्होंने बतलाया कि अपने पतियोंको प्रसन्न रखनेके लिये ये किस प्रकारका आचरण करती थीं । द्रौपदीने कहा—'बहिन ! मैं अहंकार और काम-क्रोधका परित्याग कर बड़ी सावधानीसे सब पाण्डवोंकी और उनकी स्त्रियोंकी सेवा करती हूँ । मैं ईर्ष्यासे दूर रहती हूँ और मनको काबूमें रखकर केवल सेवाकी इच्छासे ही अपने पतियोंका मन रखती हूँ । मैं कटुभाषणसे दूर रहती हूँ, असभ्यतासे खड़ी नहीं होती, खोटी बातोंपर दृष्टि नहीं डालती, बुरी जगहपर नहीं बैठती, दूषित आचरणके पास नहीं फटकती तथा पतियोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका अनुसरण करती हूँ । देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवा, धनी अथवा रूपवान्—कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवोंके सिवा और कहीं नहीं जाता । अपने पतियोंके भोजन किये बिना मैं भोजन नहीं करती, स्नान किये बिना स्नान नहीं करती और बैठे बिना स्वयं नहीं बैठती । जब-जब मेरे पति घर आते हैं, तब-तब मैं खड़ी होकर उन्हें आसन और जल देती हूँ । मैं घरके बर्तनोंको माँज-धोकर साफ रखती हूँ, मधुर रसोई तैयार करती हूँ और समयपर भोजन कराती हूँ । सदा सजग रहती हूँ, घरमें अनाजकी रक्षा करती हूँ और घरको झाड़-बुहारकर साफ रखती हूँ । मैं बातचीतमें किसीका तिरस्कार नहीं करती, कुलटा

स्त्रियोंके पास नहीं फटकती और सदा ही पतियोंके अनुकूल रह
आलस्यसे दूर रहती हूँ । मैं दरवाजेपर बार-बार जाकर खड़ी न
होती तथा खुली अथवा कूड़ा-करकट डालनेकी जगहपर भी अ
नहीं ठहरती, किंतु सदा ही सत्यभाषण और पतिसेवामें तत्पर रह
हूँ । पतिदेवके बिना अकेली रहना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है
जब किसी कौटुम्बिक कार्यसे पतिदेव बाहर चले जाते हैं तो
पुष्प और चन्दनादिको छोड़कर नियम और व्रतोंका पालन क
हुए समय बिताती हूँ । मेरे पति जिस चीजको नहीं खाते, न
पीते अथवा सेवन नहीं करते, मैं भी उससे दूर रहती हूँ । स्त्रि
लिये शास्त्रने जो-जो बातें बतायी हैं, उन सबका मैं पालन क
हूँ । शरीरको यथाप्राप्त वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित रखती हूँ तथा स
सावधान रहकर पतिदेवका प्रिय करनेमें तत्पर रहती हूँ ।

'सासजीने मुझे कुटुम्ब-सम्बन्धी जो-जो धर्म बताये हैं,
सबका मैं पालन करती हूँ । भिक्षा देना, पूजन, श्राद्ध, त्यौहा
पकवान बनाना, माननीयोंका आदर करना तथा और भी मेरे
जो-जो धर्म विहित हैं, उन सभीका मैं सावधानीसे रात-
आचरण करती हूँ; मैं विनय और नियमोंको सर्वदा सब प्र
अपनाये रहती हूँ । मेरे विचारसे तो स्त्रियोंका सनातनधर्म प
अधीन रहना ही है, वही उनके इष्टदेव हैं । मैं अपने पति
बढ़कर कभी नहीं रहती, उनसे अच्छा भोजन नहीं करती, उ
बढ़िया वस्त्राभूषण नहीं पहनती और न कभी सासजीसे वाद-वि
करती हूँ तथा सदा ही संयमका पालन करती हूँ । मैं सदा अ

पतियोंसे पहले उठती हूँ तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें लगी रहती हूँ। अपनी सासकी मैं भोजन, वस्त्र और जल आदिसे सदा ही सेवा करती रहती हूँ। वस्त्र, आभूषण और भोजनादिमें मैं कभी उनकी अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती। पहले महाराज युधिष्ठिरके दस हजार दासियाँ थीं। मुझे उनके नाम, रूप, वस्त्र आदि सबका पता रहता था और इस बातका भी ध्यान रहता था कि किसने क्या काम कर लिया है और क्या नहीं। जिस समय इन्द्रप्रस्थमें रहकर महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी-पालन करते थे, उस समय उनके साथ एक लाख घोड़े और उतने ही हाथी चलते थे। उनकी गणना और प्रबन्ध मैं ही करती थी और मैं ही उनकी आवश्यकताएँ सुनती थी। अन्तःपुरके ग्वालों और गड़रियोंसे लेकर सभी सेवकोंके काम-काजका देख-रेख भी मैं ही किया करती थी।

'महाराजकी जो कुछ आय, व्यय और बचत होती थी, उस सबका विवरण मैं अकेली ही रखती थी। पाण्डवलोग कुटुम्बका सारा भार मेरे ऊपर छोड़कर पूजा-पाठमें लगे रहते थे और आये-गयोंका स्वागत-सत्कार करते थे; और मैं सब प्रकारका सुख छोड़कर उसकी सँभाल करती थी। मेरे पतियोंका जो अटूट खजाना था, उसका पता भी मुझ एकको ही था। मैं भूख-प्यासको सहकर रात-दिन पाण्डवोंकी सेवामें लगी रहती। उस समय रात और दिन मेरे लिये समान हो गये थे। मैं सदा ही सबसे पहले उठती और सबसे पीछे सोती थी। सत्यभामाजी! पतियोंको अनुकूल करनेका मुझे तो यही उपाय मालूम है। एक आदर्श गृहपत्नीको घरमें किस प्रकार रहना

चाहिये—इसकी शिक्षा हमें द्रौपदीके जीवनसे लेनी चाहिये।

× × ×

देवी द्रौपदीमें क्षत्रियोचित तेज और भक्तोचित क्षमा—दोनोंका अभूतपूर्व सम्मिश्रण था। ये बड़ी बुद्धिमती और विदुषी भी थीं, इनका त्याग भी अद्भुत था। इनके पातिव्रत्यका तो सभी लोग लोहा मानते थे। इन्हें जब दुष्ट दुःशासन बाल खींचते हुए सभामें घसीटकर लाया, उस समय इन्होंने उसे डाँटते हुए अपने पतियोंके कोपका भय दिखलाया और सारे सभासदोंको धिक्कारते हुए द्रोण, भीष्म और विदुर-जैसे सम्मान्य गुरुजनोंको भी उनके चुप बैठे रहनेपर फटकारा। इन्होंने साहसपूर्वक सभासदोंको ललकारकर उनसे न्यायकी अपील की और उन्हें धर्मकी दुहाई देकर यह पूछा कि 'जब महाराज युधिष्ठिरने अपनेको हारकर पीछे मुझे दाँवपर लगाया है, ऐसी हालतमें उनका मुझे दाँवपर लगानेका अधिकार था या नहीं?' सब-के-सब सभासद् चुप रहे। किसीसे द्रौपदीके इस प्रश्नका उत्तर देते नहीं बना। अन्तमें दुर्योधनके भाई विकर्णने उठकर सबसे द्रौपदीके प्रश्नका उत्तर देने और मौन भङ्ग करनेके लिये अनुरोध किया और अपनी ओरसे यह सम्मति प्रकट की कि 'प्रथम तो द्रौपदी पाँचों भाइयोंकी स्त्री है, अतः अकेले युधिष्ठिरको इन्हें दाँवपर रखनेका कोई अधिकार नहीं था। दूसरे, इन्होंने अपनेको हारनेके बाद द्रौपदीको दाँवपर लगाया था, इसलिये भी यह उनकी अनधिकार चेष्टा ही समझी जायगी।' विकर्णकी बात सुनकर विदुरने उसका समर्थन किया और अन्य सभासदोंने भी उसकी प्रशंसा की। परंतु कर्णने डाँटते हुए उसे बल-

पूर्वक बैठा दिया। इस प्रकार भरी सभामें दु:शासनद्वारा घसीटी जाने एवं अपमानित होनेपर भी द्रौपदीकी नैतिक विजय ही हुई। इनकी बुद्धि सर्वोपरि रही। कोई भी इनकी बातका खण्डन नहीं कर सका। अन्तमें विदुरके समझानेपर धृतराष्ट्रने दुर्योधनको डाँटा और द्रौपदीको प्रसन्न करनेके लिये इनसे वर माँगनेको कहा। इन्होंने वरदानके रूपमें धृतराष्ट्रसे केवल यही माँगा कि 'मेरे पाँचों पति दासत्वसे मुक्त कर दिये जायँ।' धृतराष्ट्रने कहा—'बेटी ! और भी कुछ माँग ले।' उस समय द्रौपदीने उन्हें जो उत्तर दिया, वह सर्वथा द्रौपदीके अनुरूप ही था। उससे इनकी निर्लोभता एवं धर्मप्रेम स्पष्ट झलकता था। इन्होंने कहा—'महाराज! अधिक लोभ करना ठीक नहीं। और कुछ माँगने-की मेरी बिल्कुल इच्छा नहीं है। मेरे पति स्वयं समर्थ हैं। अब जब वे दासतासे मुक्त हो गये हैं, तो बाकी सब कुछ वे स्वयं कर लेंगे।' इस प्रकार द्रौपदीने अपनी बुद्धिमत्ता एवं पातिव्रत्यके बलसे अपने पतियोंको दासतासे मुक्त करा दिया।

द्रौपदीके जिन लंबे-लंबे, काले बालोंका कुछ ही दिन पहले राजसूय यज्ञमें अवभृथ-स्नानके समय मन्त्रपूत जलसे अभिषेक किया गया था, उन्हीं बालोंका दुष्ट दु:शासनके द्वारा भरी सभामें खींचा जाना द्रौपदीको कभी नहीं भूला। उस अभूतपूर्व अपमानकी आग इनके हृदयमें सदा ही जला करती थी। इसीलिये जब-जब इनके सामने कौरवोंसे सन्धि करनेकी बात आयी, तब-तब इन्होंने उसका विरोध ही किया और बराबर अपने अपमानकी याद दिलाकर अपने पतियोंको युद्धके लिये प्रोत्साहित करती रहीं। अन्तमें जब यही तय हुआ कि एक बार कौरवोंको समझा-बुझाकर देख लिया जाय, और

जब भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर जाने लगे, उस समय भी इन्हें अपने अपमानकी बात नहीं भूली और इन्होंने अपने लंबे-लंबे बालोंको हाथमें लेकर श्रीकृष्णसे कहा—'श्रीकृष्ण ! तुम सन्धि करने जा रहे हो, सो तो ठीक है परंतु तुम मेरे केशोंको न भूल जाना ।' इन्होंने यहाँतक कह दिया कि 'यदि पाण्डवोंकी युद्ध करनेकी इच्छा नहीं है तो कोई बात नहीं अपने महारथी पुत्रोंके सहित मेरे वृद्ध पिता कौरवोंसे संग्राम करेंगे तथा अभिमन्युके सहित मेरे पाँचों बली पुत्र उनके साथ जूझेंगे ।'

× × ×

काम्यक वनमें जब दुष्ट जयद्रथ द्रौपदीको बलपूर्वक ले जानेकी चेष्टा करने लगा, उस समय इन्होंने उसे इतने जोरसे धक्का दिया कि वह कटे हुए पेड़की तरह जमीनपर गिर पड़ा । किंतु वह तुरंत ही सँभलकर खड़ा हो गया और इन्हें जबर्दस्ती रथपर बैठाकर ले चला। पीछे जब भीम और अर्जुन उसे पकड़ लाये और उसकी काफी मरम्मत बना चुके, तब इन्होंने दयापूर्वक उसे छुड़ा दिया । इस प्रकार द्रौपदी क्रोधके साथ-साथ क्षमा करना भी जानती थीं । इनका पातिव्रत्य-तेज तो अपूर्व था ही । जिस किसीने इनके साथ छेड़-छाड़ अथवा दुश्चेष्टा की, उसीको प्राणोंसे हाथ धोने पड़े । दुर्योधन, दु:शासन, कर्ण, जयद्रथ, कीचक आदि सबकी यही दशा हुई । भला, पतिव्रता पीड़ित नारीकी हाय किसको नहीं खा लेगी । महाभारत-युद्धमें जो कौरवोंका सर्वनाश हुआ, उसका मूल सती द्रौपदीका अपमान ही था ।

पतिभक्ता गान्धारी

संसारकी पतिव्रता देवियोंमें गान्धारीका स्थान बहुत ऊँचा है। ये गान्धारराज सुबलकी पुत्री और शकुनिकी बहिन थीं। इन्होंने कुमारी-अवस्थामें ही भगवान् शङ्करकी बड़ी आराधना की और उनसे सौ पुत्रोंका वरदान प्राप्त किया। जब इन्हें मालूम हुआ कि इनका विवाह नेत्रहीन धृतराष्ट्रसे होनेवाला है उसी समयसे इन्होंने अपनी दोनों आँखोंपर पट्टी बाँध ली। इन्होंने सोचा कि जब मेरे पति ही नेत्रसुख-से वञ्चित हैं, तब मुझे संसारको देखनेका क्या अधिकार है। उस समयसे जबतक ये जीवित रहीं अपने उस दृढ़ निश्चयपर अटल रहीं। पतिके लिये इन्द्रियसुखके त्यागका ऐसा अनूठा उदाहरण संसारके इतिहासमें और कहीं नहीं मिलता। इनका यह तप और त्याग अनुपम था, संसारके लिये एक अनोखी वस्तु थी। ये सदा अपने पतिके अनुकूल रहीं। इन्होंने ससुरालमें आते ही अपने चरित्र और सद्गुणों-से पति एवं उनके सारे परिवारको मुग्ध कर लिया। धन्य पतिप्रेम!

देवी गान्धारी जैसी पतिव्रता थीं, वैसी ही निर्भीक और न्या
प्रिय भी थीं। ये सदा सत्य, नीति और धर्मका ही पक्षपात क
थीं, अन्यायका कभी समर्थन नहीं करती थीं। इनके पुत्रोंने
द्रौपदीके साथ भरी सभामें जो अत्याचार किया था, उसका इ
मनमें बड़ा दुःख था। ये इस बातसे अपने पुत्रोंपर प्रसन्न न
हुईं। जब इनके पति राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रकी बातोंमें आ
दुबारा पाण्डवोंको द्यूतके लिये बुला भेजा, उस समय ये बड़ी दु
हुईं। इन्होंने जुएका विरोध करते हुए अपने पतिदेवसे कहा-
'स्वामी! दुर्योधन जन्मते ही गीदड़के समान रोने-चिल्लाने लगा था
इसलिये उसी समय परम ज्ञानी विदुरने कहा था कि इस पुत्र
परित्याग कर दो। मुझे तो वह बात याद करके यही मालूम हो
है कि यह कुरुवंशका नाश करके छोड़ेगा। आर्यपुत्र! आप अ
दोषसे सबको विपत्तिमें न डालिये। इन ढीठ मूर्खोंकी 'हाँ'-में-'हाँ
न मिलाइये। इस वंशके नाशका कारण मत बनिये। बँधे हु
पुलको मत तोड़िये। बुझी हुई आग फिर धधक उठेगी। पाण्ड
शान्त हैं और वैर-विरोधसे विमुख हैं। उनको अब क्रोधित कर
ठीक नहीं है। यद्यपि यह बात आप जानते हैं, फिर भी मैं आपको
याद दिलाती हूँ। दुर्बुद्धि पुरुषके चित्तपर शास्त्रके उपदेशका प्रभा
नहीं पड़ता! परंतु आप वृद्ध होकर बालकोंकी-सी बात करें—
यह अनुचित है। इस समय आप अपने पुत्रतुल्य पाण्डवोंको अपना
रक्खें। कहीं वे दुखी होकर आपसे विलग न हो जायँ। कुलकल
दुर्योधनको त्यागना ही श्रेयस्कर है। मैंने मोहवश उस समय विदुरज
की बात नहीं मानी, उसीका यह फल है। शान्ति, धर्म और मन्त्रियों

सम्मतिसे अपनी विचारशक्तिको सुरक्षित रखिये । प्रमाद मत कीजिये। बिना विचारे काम करना आपके लिये बड़ा दु:खदायी सिद्ध होगा, राज्यलक्ष्मी क्रूरके हाथमें पड़कर उसीका सत्यानाश कर देती है ।' गान्धारीके इन वाक्योंसे धर्म, नीति और निष्पक्षता टपकी पड़ती है । ये दुर्योधनको भी उसकी अनुचित कार्रवाइयोंपर बराबर टोकती रहती थीं, उसकी उद्दण्डताके लिये उसे फटकारती थीं और उसकी अनीतिके भावी दुष्परिणामका भयंकर चित्र उसके सामने खींचा करती थीं । पर दुर्योधनके सिरपर काल जो नाच रहा था, वह उसे इन सबकी हितभरी बातोंपर ध्यान नहीं देने देता था ।

पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर जब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुर गये और वे भी दुर्योधनको समझाकर हार गये तब धृतराष्ट्रने देवी गान्धारीको बुलाकर इनसे कहा कि 'अब तुम्हीं अपने पुत्रको समझाओ, वह हमलोगोंमेंसे तो किसीकी भी बात नहीं सुनता ।' पतिकी यह बात सुनकर गान्धारीने कहा—'राजन् ! आप पुत्रके मोहमें फँसे हुए हैं, इसलिये इस विषयमें सबसे अधिक दोषी तो आप ही हैं। आप यह जानकर भी कि दुर्योधन बड़ा पापी है, उसीकी बुद्धिके पीछे चलते रहे हैं । दुर्योधनको तो काम, क्रोध और लोभने अपने चंगुलमें फँसा रक्खा है । अब आप बलत्कारसे भी उसे इस मार्गसे नहीं हटा सकेंगे । आपने इस मूर्ख, दुरात्मा, कुसङ्गी और लोभी पुत्रको बिना कुछ सोचे-समझे राज्यकी बागडोर सौंप दी; उसीका आप यह फल भोग रहे हैं । आप अपने घरमें जो फूट पड़ रही है, उसकी उपेक्षा किये चले जा रहे हैं । ऐसा करके तो आप पाण्डवोंकी दृष्टिमें अपने आपको हास्यास्पद बना रहे

हैं। देखिये, यदि साम या भेदसे ही विपत्ति टाली जा सकती तो कोई भी बुद्धिमान् स्वजनोंके प्रति दण्डका प्रयोग क्यों करेगा गान्धारीकी यह उक्ति कैसी निर्भीक, निष्पक्ष, हितभरी, नीति और सच्ची थी।

इसके बाद गान्धारीने अपने पुत्रको भी बुलाकर उसे समझा शुरू किया। ये बोलीं—'बेटा! मेरी बात सुनो। तुमसे तुम्हा पिता, भीष्मजी, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और विदुरजीने जो बात क है, उसे स्वीकार कर लो। यदि तुम पाण्डवोंसे सन्धि कर लोगे सच मानो—इससे पितामह भीष्मकी, तुम्हारे पिताजीकी, मेरी द्रोणाचार्य आदि हितैषियोंकी तुम्हारे द्वारा बड़ी सेवा होगी। बेटा राज्यको पाना, बचाना और भोगना अपने हाथकी बात नहीं है। पुरुष जितेन्द्रिय होता है, वही राज्यकी रक्षा कर सकता है। और क्रोध तो मनुष्यको अर्थसे च्युत कर देते हैं। इन दोनों शत्रुओं जीतकर तो राजा सारी पृथ्वीको जीत सकता है। देखो—जिस प्र उद्दण्ड घोड़े मार्गमें ही मूर्ख सारथिको मार डालते हैं, उसी प्र यदि इन्द्रियोंको काबूमें न रक्खा जाय तो वे मनुष्यका नाश क लिये पर्याप्त हैं। इस प्रकार इन्द्रियाँ जिसके वशमें हैं और जो काम सोच-समझकर करता है, उसके पास चिरकालतक लक्ष्मी रहती है। तात! तुम्हारे दादा भीष्मजीने और गुरु द्रोणाचार्य जो बात कही है, वह बिल्कुल ठीक है। वास्तवमें श्रीकृष्ण अर्जुनको कोई नहीं जीत सकता। इसलिये तुम श्रीकृष्णकी श लो। यदि वे प्रसन्न रहेंगे तो दोनों ही पक्षोंका हित होगा। वत्स युद्ध करनेमें कल्याण नहीं है। उसमें धर्म और अर्थ भी नहीं

तो सुख कहाँसे होगा। यदि तुम अपने मन्त्रियोंके सहित राज्य भोगना चाहते हो तो पाण्डवोंका जो न्यायोचित भाग है, वह उन्हें दे दो। पाण्डवोंको जो तेरह वर्षतक घरसे बाहर रक्खा गया, यह भी बड़ा अपराध हुआ है। अब सन्धि करके इसका मार्जन कर दो। तात! संसारमें लोभ करनेसे किसीको सम्पत्ति नहीं मिलती। अतः तुम लोभ छोड़ दो और पाण्डवोंसे सन्धि कर लो।' कैसा हितपूर्ण और मार्मिक उपदेश था। इससे पता चलता है कि गान्धारी विदुषी थीं तथा ये श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमा भी जानती थीं।

दुष्ट दुर्योधनपर गान्धारीके इस उत्तम उपदेशका कोई असर नहीं हुआ। उसने अपनी जिद नहीं छोड़ी। परिणाम यह हुआ कि दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ होने लगीं और अठारह दिनोंतक कुरुक्षेत्रके मैदानमें भीषण मार-काट हुई। युद्धके दिनोंमें दुर्योधन प्रतिदिन इनसे प्रार्थना करता कि 'माँ! मैं शत्रुओंके साथ लोहा लेने जा रहा हूँ; आप मुझे आशीर्वाद दीजिये, जिससे युद्धमें मेरा कल्याण हो।' गान्धारीमें पातिव्रत्यका बड़ा तेज था। ये यदि पुत्रको विजयका आशीर्वाद दे देतीं तो वह अन्यथा न होता। परंतु ये देतीं कैसे? ये जानती थीं कि दुर्योधन अत्याचारी है। अत्याचारीके हाथमें कभी राज्यलक्ष्मी टिक नहीं सकती, इसीलिये ये हर बार यही उत्तर देतीं—'बेटा! जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। विजय चाहते हो तो धर्मका आश्रय लो, अधर्मका परित्याग करो।' इन्होंने दुर्योधनका कभी पक्ष नहीं लिया। परंतु जब इन्होंने सुना कि मेरे सौ-के-सौ पुत्र मारे गये, तब शोकके वेगसे इनका क्रोध उभड़ पड़ा और ये पाण्डवोंको शाप देनेका विचार करने लगीं। भगवान्

वेदव्यास तो मनकी बात जान लेते थे। उन्हें जब इस बा
पता लगा, तब उन्होंने गान्धारीके पास आकर इन्हें सान्त्वना दी
इनको असत् संकल्पसे रोका। उस समय पाण्डव भी वहाँ मौ
थे। माता गान्धारीके मनमें क्षोभ देखकर युधिष्ठिर उनके पास
और अपनेको धिक्कारते हुए ज्यों ही उनके चरणोंपर गिरने लगे
गान्धारीकी क्रोधभरी दृष्टि पट्टीमेंसे होकर महाराज युधिष्ठिरके नखों
पड़ी। इससे उनके सुन्दर लाल-लाल नख उसी समय काले
गये। यह देखकर अर्जुन तो श्रीकृष्णके पीछे खिसक गये तथा
भाई भी मारे भयके इधर-उधर छिपने लगे। उन्हें इस प्रकार कसम
देखकर गान्धारीका क्रोध शान्त हो गया और इन्होंने माताके स
पाण्डवोंको धीरज दिया। उपर्युक्त घटनासे गान्धारीके अ
पातिव्रत्य तेजका पता लगता है। अन्तमें गान्धारीने अपना
श्रीकृष्णपर निकाला। अथवा यों कहना चाहिये कि अन्त
श्रीकृष्णने ही उनकी मति पलटकर पाण्डवोंको इनके कोपसे
लिया और इनका अभिशाप अपने ऊपर ले लिया। देवी गान्धा
कुरुक्षेत्रमें जाकर जब वहाँका हृदयविद्रावक दृश्य देखा तो ये अ
शोकको सँभाल न सकीं। क्रोधमें भरकर श्रीकृष्णसे बोलीं-
'कृष्ण! पाण्डव और कौरव अपनी फूटके कारण ही नष्ट हुए
किंतु तुमने समर्थ होते हुए भी अपने सम्बन्धियोंकी उपेक्षा
कर दी? तुम्हारे पास अनेकों सेवक थे और बड़ी भारी सेना
थी। तुम दोनोंको दबा सकते थे और अपने वाक्-कौशलसे उ
समझा भी सकते थे। परंतु तुमने जान-बूझकर कौरवोंके संहार
उपेक्षा कर दी। इसलिये अब तुम उसका फल भोगो। मैंने पति

सेवा करके जो तप संचय किया जाता है, उसीके बलपर मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि 'जिस प्रकार परस्पर युद्ध करते हुए कौरव और पाण्डवोंकी तुमने उपेक्षा कर दी, उसी प्रकार तुम अपने बन्धु-बान्धवोंका भी वध करोगे और स्वयं भी अनाथकी तरह मारे जाओगे। आज जैसे ये भरतवंश-की स्त्रियाँ आर्त्तनाद कर रही हैं, उसी प्रकार तुम्हारे कुटुम्बकी स्त्रियाँ भी अपने बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेपर सिर पकड़कर रोयेंगी।'

गान्धारीके ये कठोर वचन सुनकर महामना श्रीकृष्ण मुसकराये और बोले—'मैं तो जानता था कि यह बात इसी तरह होनेवाली है। शाप देकर तुमने होनीको ही बतलाया है। इसमें सन्देह नहीं, वृष्णिवंशका नाश दैवी कोपसे ही होगा। इसका नाश भी मेरे सिवा और कोई नहीं कर सकता। मनुष्य क्या, देवता या असुर भी इनका संहार नहीं कर सकते। इसलिये ये यदुवंशी आपसके कलहसे ही नष्ट होंगे।'

युधिष्ठिरके राज्याभिषेकके बाद देवी गान्धारी कुछ समयतक उन्हींके पास रहकर अन्तमें अपने पतिके साथ वनमें चली गयीं और वहाँ तपस्वियोंका-सा जीवन बिताकर तपस्वियोंकी भाँति ही इन्होंने अपने पतिके साथ दावाग्निसे अपने शरीरको जला डाला और पतिके साथ ही कुबेरके लोकमें चली गयीं। इस प्रकार पतिपरायणा गान्धारीने इस लोकमें पतिकी सेवाकर परलोकमें भी पतिका सान्निध्य एवं सेवा प्राप्त की—जो प्रत्येक पतिव्रताका अभीष्ट लक्ष्य होता है। प्रत्येक पतिव्रता नारीको गान्धारीके चरित्रका मनन कर उससे शिक्षा लेनी चाहिये।

महात्मा विदुर

महात्मा विदुर साक्षात् धर्मके अवतार थे। माण्डव्य ऋ
शापसे इन्हें शूद्रयोनिमें जन्म ग्रहण करना पड़ा। ये मह
विचित्रवीर्यकी दासीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार ये धृ
और पाण्डुके एक प्रकारसे सगे भाई ही थे। ये बड़े ही बुद्धि
नीतिज्ञ, धर्मज्ञ, विद्वान्, सदाचारी एवं भगवद्भक्त थे। इन्हीं गु
कारण सब लोग इनका बड़ा सम्मान करते थे। ये बड़े निर्भी
सत्यवादी थे तथा धृतराष्ट्र आदिको बड़ी नेक सलाह दिया करते
ये धृतराष्ट्रके मन्त्री ही थे। दुर्योधन जन्मते ही गधेकी भाँति
लगा था और उसके जन्मके समय अनेक अमङ्गलसूचक उत्पा
हुए। यह सब देखकर इन्होंने ब्राह्मणोंके साथ राजा धृतराष्ट्रसे
कि 'आपका यह पुत्र कुलनाशक होगा, इसलिये इसे त्याग दे
श्रेयस्कर है। इसके जीवित रहनेपर आपको दुःख उठाना पड़े
शास्त्रोंकी आज्ञा है कि कुलके लिये एक मनुष्यका, ग्रामके

कुलका, देशके लिये एक ग्रामका और आत्माके लिये सारी पृथ्वीका परित्याग कर देना चाहिये।' परंतु धृतराष्ट्रने मोहवश विदुरकी बात नहीं मानी। फलतः उन्हें दुर्योधनके कारण जीवनभर दुःख उठाना पड़ा और अपने जीते-जी कुलका नाश देखना पड़ा। महात्माओंकी हितभरी वाणीपर ध्यान न देनेसे दुःख ही उठाना पड़ता है।

जब दुर्योधन पाण्डवोंपर अत्याचार करने लगा, तब इनकी सहानुभूति स्वाभाविक ही पाण्डवोंके प्रति हो गयी; क्योंकि एक तो वे पितृहीन थे और दूसरे धर्मात्मा थे। ये प्रत्यक्षरूपमें तथा गुप्तरूपसे भी बराबर उनकी रक्षा एवं सहायता करते रहते थे। धर्मात्माओंके प्रति धर्मकी सहानुभूति होनी ही चाहिये और विदुर साक्षात् धर्मके अवतार थे। ये जानते थे कि पाण्डवोंपर चाहे कितनी ही विपत्तियाँ क्यों न आयें, अन्तमें विजय उनकी ही होगी—'यतो धर्मस्ततो जयः।' इन्हें यह भी मालूम था कि पाण्डव सब दीर्घायु हैं, अतः उन्हें कोई मार नहीं सकता। इसीलिये जब दुर्योधनने खेल-ही-खेलमें भीमसेनको विष खिलाकर गङ्गाजीमें बहा दिया और उनके घर न लौटनेपर माता कुन्तीको चिन्ताके साथ-साथ दुर्योधनकी ओरसे अनिष्टकी भी आशङ्का हुई, तब इन्होंने जाकर उन्हें समझाया कि 'इस समय चुप साध लेना ही अच्छा है, दुर्योधनके प्रति आशङ्का प्रकट करना खतरेसे खाली नहीं है। इससे वह और चिढ़ जायगा, जिससे तुम्हारे दूसरे पुत्रोंपर भी आपत्ति आ सकती है। भीमसेन मर नहीं सकता, वह शीघ्र ही लौट आयेगा।' कुन्तीने विदुरजीकी नीतिपूर्ण सलाह मान ली। उनकी बात बिल्कुल यथार्थ निकली। भीमसेन कुछ ही दिनों बाद जीते-जागते लौट आये।

लाक्षाभवनसे बेदाग बचकर निकल भागनेकी युक्ति भी पाण्डवोंको विदुरने ही बतायी थी। ये नीतिज्ञ होनेके साथ-साथ कई भाषाओंके जानकार भी थे। जिस समय पाण्डवलोग वारणावत जा रहे थे, उस समय इन्होंने म्लेच्छ भाषामें युधिष्ठिरको उनपर आनेवाली विपत्तिकी सूचना दे दी और साथ ही उससे बचनेका उपाय भी समझा दिया। इतना ही नहीं, इन्होंने पहलेसे ही एक सुरंग खोदनेवालेको लाक्षाभवनमेंसे निकल भागनेके लिये सुरंग खोदनेको कह दिया था। उसने गुप्तरूपसे जमीनके भीतर-ही-भीतर जंगलमें जानेका एक रास्ता बना दिया। लाक्षाभवनमें आग लगाकर पाण्डवलोग माता कुन्तीके साथ उसी रास्तेसे निरापद बाहर निकल आये। गङ्गातटपर इनके पार होनेके लिये विदुरजीने नाविकके साथ एक नौका भी पहलेसे ही तैयार रख छोड़ी थी। उसीसे ये लोग गङ्गापार हो गये। इस प्रकार विदुरजीने बुद्धिमानी एवं नीतिमत्तासे पाण्डवोंके प्राण बचा लिये और दुर्योधन आदिको पता भी न लगने दिया। उन लोगोंने यही समझा कि पाण्डव अपनी माताके साथ लाक्षाभवनमें जलकर मर गये। सर्वत्र केवल शारीरिक बल अथवा अस्त्रबल ही काम नहीं देता। आत्मरक्षाके लिये बुद्धि और नीतिबलकी भी आवश्यकता होती है। महात्मा विदुर धर्म एवं शास्त्रज्ञानके साथ-साथ नीतिके भी खजाने थे।

विदुरजी जिस प्रकार पाण्डवोंके प्रति सहानुभूति और प्रेम रखते थे, उसी प्रकार अपने बड़े भाई राजा धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंके प्रति भी स्नेह और आत्मीयता रखते थे। उनके हितका वे सदा ध्यान रखते थे और उन्हें बराबर अच्छी सलाह दिया करते थे। 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' इस सिद्धान्तके अनुसार अत्यन्त

ही इनकी बातें सत्य एवं हितपूर्ण होनेपर भी दुर्योधनादिको कड़वी लगती थीं। इसीलिये दुर्योधन एवं उसके साथी सदा ही इनसे असन्तुष्ट रहते थे। परंतु ये उनकी अप्रसन्नताकी कुछ भी परवा न कर सदा ही उसकी मङ्गल-कामना किया करते थे और उसे कुमार्गसे हटानेकी अनवरत चेष्टा करते रहते थे। धृतराष्ट्र भी अपने दुरात्मा पुत्रके प्रभावमें होनेके कारण यद्यपि हर समय इनकी बातपर अमल नहीं कर पाते थे और इसीलिये कष्ट भी पाते थे, फिर भी उनका इनपर बहुत अधिक विश्वास था। वे इन्हें बुद्धिमान्, दूरदर्शी एवं अपना परम हितचिन्तक मानते थे और बहुधा इनसे सलाह लिये बिना कोई काम नहीं करते थे। पाण्डवोंके साथ व्यवहार करते समय तो वे खास तौरपर इनकी सलाह लिया करते थे। वे जानते थे कि पाण्डवोंके सम्बन्धमें इनकी सलाह पक्षपातशून्य होगी। अस्तु,

जब मामा शकुनिकी सलाहसे दुष्टबुद्धि दुर्योधन पाण्डवोंके साथ जुआ खेलनेका प्रस्ताव लेकर अपने पिताके पास पहुँचा, तब उन्होंने नियमानुसार विदुरजीको सलाहके लिये बुलाया। उसकी बात न माननेपर दुर्योधनने उन्हें प्राण त्याग देनेका भय दिखलाया; परंतु उन्होंने उसे स्पष्ट कह दिया कि 'विदुरजीसे सलाह लिये बिना मैं तुम्हें जुआ खेलनेकी आज्ञा कदापि नहीं दे सकता।' दुर्योधनका पापपूर्ण प्रस्ताव सुनकर विदुरजीने समझ लिया कि अब कलियुग आनेवाला है। इन्होंने उस प्रस्तावका घोर विरोध किया और अपने बड़े भाईको समझाया कि 'जुआ खेलनेसे आपके पुत्रों और भतीजोंमें वैर-विरोध ही बढ़ेगा, उनमेंसे किसीका भी हित नहीं होगा। इसलिये द्यूतका आयोजन न करना ही अच्छा है। इसीमें

दोनों ओरका मङ्गल है ।' धृतराष्ट्रने विदुरजी एवं उनके म
प्रशंसा करते हुए दुर्योधनको बहुत समझाया, परन्तु उसने इ
एक न मानी । वह तो जुएमें हराकर पाण्डवोंको नीचा दिखा
तुला हुआ था । उससे पाण्डवोंका अतुल वैभव देखा नहीं जाता
दुर्योधनको किसी तरह न मानते देखकर अन्तमें धृतराष्ट्रने उ
प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और विदुरजीके द्वारा ही पाण्ड
इन्द्रप्रस्थसे बुलवा भेजा । यद्यपि विदुरजीको यह बात अच्छी
लगी, फिर भी बड़े भाईकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना इन्होंने
नहीं समझा ।

पाण्डवोंके पास जाकर विदुरजीने उन्हें सारी बात
सुनायी । महाराज युधिष्ठिरने भी जुएको अच्छा न समझते हुए
अपने पिता (ताऊ) की आज्ञा मानकर दुर्योधनका निमन्त्रण स्वी
कर लिया । जुएके समय भी इन्होंने जुएकी बुराइयाँ बताते हुए
धृतराष्ट्रसे कहा कि 'आप अब भी सँभल जाइये, दुर्योधनकी
में 'हाँ' मिलाना छोड़ दीजिये और कुलको सर्वनाशसे बचा
पाण्डवोंसे विरोध करके उन्हें अपना शत्रु न बनाइये ।' पाण्ड
वनमें चले जानेपर धृतराष्ट्रके मनमें बड़ी चिन्ता और जलन हु
उन्होंने विदुरजीको बुलाकर अपने मनकी व्यथा सुनायी और उ
यह जानना चाहा कि 'अब हमें किस प्रकार व्यवहार क
चाहिये कि जिससे प्रजा हमपर सन्तुष्ट रहे और पाण्डव भी क्रो
होकर हमारी कोई हानि न कर सकें ।' इसपर विदुरजीने उ
समझाया कि 'राजन् ! अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों फलों
प्राप्ति धर्मसे ही होती है । राज्यकी जड़ है धर्म; अतः आप ध

स्थित होकर पाण्डवोंकी और अपने पुत्रोंकी रक्षा कीजिये। आपके पुत्रोंने शकुनिकी सलाहसे भरी सभामें धर्मका तिरस्कार किया है; क्योंकि सत्यसन्ध युधिष्ठिरको कपटद्यूतमें हराकर उन्होंने उनका सर्वस्व छीन लिया है। यह बड़ा अधर्म हुआ। इसके निवारणका मेरी दृष्टिमें एक ही उपाय है। वैसा करनेसे आपका पुत्र पाप और कलङ्कसे छूटकर प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा। वह उपाय यह है कि आपने पाण्डवोंका जो कुछ छीन लिया है, वह सब उन्हें लौटा दिया जाय। राजाका यह परम धर्म है कि वह अपने ही हकमें सन्तुष्ट रहे, दूसरेका हक न चाहे। जो उपाय मैंने बतलाया है, उससे आपका लाञ्छन छूट जायगा, भाई-भाईमें फूट नहीं पड़ेगी और अधर्म भी न होगा। यदि आपके पुत्रोंका तनिक भी सौभाग्य शेष रह गया हो तो शीघ्र-से-शीघ्र यह काम कर डालना चाहिये। यदि आप मोहवश ऐसा नहीं करेंगे तो सारे कुरुवंशका नाश हो जायगा। यदि आपका पुत्र दुर्योधन प्रसन्नतासे यह बात स्वीकार कर ले, तब तो ठीक है; अन्यथा परिवार और प्रजाके सुखके लिये उस कुलकलङ्क और दुरात्माको कैद करके युधिष्ठिरको राजसिंहासनपर बैठा दीजिये। युधिष्ठिरके चित्तमें किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं है, इसलिये वे ही धर्मपूर्वक पृथ्वीका शासन करें। दुःशासन भरी सभामें भीमसेन और द्रौपदीसे क्षमा-याचना करे। और तो क्या कहूँ; बस, इतना करनेसे आप कृतकृत्य हो जायँगे।'

विदुरजीकी यह मन्त्रणा कितनी सच्ची, हितपूर्ण, धर्मयुक्त और निर्भीक थी। परन्तु जिस प्रकार मरणासन्नको ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार धृतराष्ट्रको विदुरजीकी यह सलाह पसंद नहीं आयी। वे विदुरजीपर खीज गये और बोले—'विदुर! अब

मुझे तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं है; तुम्हारी इच्छा हो तो यहं रहो अथवा चले जाओ। मैं देखता हूँ कि तुम बार-बार पाण्डवोंक ही पक्ष लेते हो। भला, मैं उनके लिये अपने पुत्रोंको कैसे छो दूँ।' विदुरजीने देखा, अब कौरव-कुलका नाश अवश्यम्भावी है इसलिये ये चुपचाप उठकर वहाँसे चल दिये और तुरंत रथपर सवा होकर पाण्डवोंके पास काम्यक वनमें चले गये। वहाँ पहुँचकर इन्होंने पाण्डवोंको हस्तिनापुरसे चले आनेका कारण बतलाया और उन्हें प्रसङ्गवश बड़े कामकी बातें कहीं। इधर जब धृतराष्ट्रको विदुरजीके पाण्डवोंके पास चले जानेकी बात मालूम हुई, तब उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने सोचा कि विदुरकी सहायता और सलाह पाकर तो पाण्डव और भी बलवान् हो जायँगे! तब तो उन्होंने तुरंत सञ्जयको भेजकर विदुरजीको बुलवा भेजा। विदुरजी तो सर्वथा राग-द्वेषशून्य थे। इनके मनमें धृतराष्ट्रके प्रति तनिक भी रोष नहीं था। बड़े भाईकी आज्ञा पाकर जिस प्रकार ये हस्तिनापुरसे चले आये थे, उसी प्रकार इस बार लौट जानेकी आज्ञा पाकर वापस उनके पास चले गये। वहाँ जाकर इन्होंने धृतराष्ट्रसे कहा कि 'मेरे लिये पाण्डव और आपके पुत्र एक-से हैं; फिर भी पाण्डवोंको असहाय देखकर मेरे मनमें स्वाभाविक ही उनकी सहायता करनेकी बात आ जाती है। मेरे चित्तमें आपके पुत्रोंके प्रति कोई द्वेषभाव नहीं है।' बात सचमुच ऐसी ही थी। धृतराष्ट्रने भी इनसे अपने अनुचित व्यवहारके लिये क्षमा माँगी। विदुरजी पूर्ववत् ही धृतराष्ट्रके पास रहकर उनकी सेवा करने लगे।

एक समय धृतराष्ट्रको रातमें नींद नहीं आयी। तब उन्होंने रातमें ही विदुरजीको बुलाकर उनसे शान्तिका उपाय पूछा। उस

समय विदुरजीने धृतराष्ट्रको धर्म और नीतिका जो सुन्दर उपदेश दिया, वह विदुरनीतिके नामसे उद्योगपर्व के ३३ से ४० तक आठ अध्यायोंमें संगृहीत है। वह स्वतन्त्ररूपसे अध्ययन और मनन करनेकी चीज है।

विदुरजीके भाषणको सुनकर धृतराष्ट्रकी तृप्ति नहीं हुई। उन्होंने इनके मुखसे और भी कुछ सुनना चाहा। इन्होंने कहा—'राजन्! मुझे जो कुछ सुनाना था, वह मैं आपको सुना चुका; अब ब्रह्माजीके पुत्र सनत्सुजात नामक जो सनातन ऋषि हैं, वे ही आपको तत्त्वविषयक उपदेश करेंगे। तत्त्वोपदेश करनेका मुझे अधिकार नहीं है; क्योंकि मेरा जन्म शूद्राके गर्भसे हुआ है।' यह कहकर इन्होंने उसी समय महर्षि सनत्सुजातका स्मरण किया और वे तुरंत वहाँ उपस्थित हो गये। सनत्सुजातजीने राजा धृतराष्ट्रके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए परमात्माके स्वरूप तथा उनके साक्षात्कारके विषयमें बड़ा सुन्दर विवेचन किया। इस प्रकार विदुरजीने स्वयं तो धृतराष्ट्रको धर्म और नीतिकी बातें सुनायीं ही, सनत्सुजात-जैसे सिद्ध योगी एवं परमर्षिद्वारा उन्हें तत्त्वका उपदेश कराकर उनके कल्याणका मार्ग प्रशस्त किया। विदुरजीके द्वारा धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंके लिये जो कुछ भी चेष्टा होती थी, वह उनके कल्याणके लिये ही होती थी। महात्माओंका जीवन ही दूसरोंके कल्याणके लिये ही होता है। यद्यपि विदुरजी तत्त्वज्ञानी थे, फिर भी शूद्र होनेके नाते इन्होंने स्वयं उपदेश न देकर सनातन मर्यादाकी रक्षा की और इस प्रकार जगत्को अपने आचरणके द्वारा यह उपदेश दिया कि ज्ञानीके लिये भी शास्त्रमर्यादाकी रक्षा आवश्यक है। सनत्सुजातजीका यह

उपदेश 'सनत्सुजातीय'के नामसे उद्योगपर्वके ही ४१ से ४६ त
छः अध्यायोंमें संगृहीत है।

विदुरजी ज्ञानी एवं तत्त्वदर्शी होनेके साथ-साथ अनन्य भगवद्भ
भी थे। इनकी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें निश्छल प्रीति थी। भगवा
श्रीकृष्ण भी इन्हें बहुत मानते थे। वे जब पाण्डवोंके दूत बनक
हस्तिनापुर गये, उस समय वे राजा धृतराष्ट्र एवं उनके सभासदों
मिलकर सीधे विदुरजीके यहाँ पहुँचे और उनका आतिथ्य स्वीक
किया। इसके बाद वे अपनी बूआ कुन्तीसे मिले। इतना ही नहीं
दुर्योधनके यहाँ जानेपर जब उसने सम्बन्धी होनेके नाते श्रीकृष्णं
भोजनके लिये प्रार्थना की, तब उन्होंने साफ इनकार कर दिया औ
पुनः विदुरके यहाँ चले आये। वहाँ भीष्म, द्रोण, कृप, बाह्लीक आ
कई सम्भावित लोग उनसे मिलने आये और उन सबने श्रीकृष्णं
अपने यहाँ चलकर आतिथ्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना की; परन्
श्रीकृष्णने सम्मानपूर्वक सबको विदा कर दिया और उस दिन विदुरो
यहाँ ही पहले ब्राह्मणोंको भोजन कराके स्वयं भोजन किया। इ
घटनासे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, कि विदुरक
श्रीकृष्णके प्रति कैसा अनुराग था। श्रीकृष्णका तो विरद ही ठहरा—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥*

(गीता ९। २६)

* जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल (आदि)

प्रेमशून्य बड़ी-बड़ी तैयारियाँ और राजसी ठाट-बाट उन्हें आकर्षित नहीं कर सकते, किंतु प्रेमके रससे परिप्लुत रूखा-सूखा भोजन भी उनकी तृप्तिके लिये पर्याप्त होता है।

भोजनके बाद रात्रिमें भी श्रीकृष्ण विदुरके यहाँ ही रहे और सारी रात उन्हें बातें करते बीत गयीं। सबेरे नित्यकर्मसे निवृत्त होकर श्रीकृष्ण कौरवोंकी सभामें चले गये। वहाँ जब दुर्योधनने श्रीकृष्णको पकड़कर कैद करनेका दुःसाहसपूर्ण विचार किया, उस समय विदुरजीने श्रीकृष्णके बल एवं महिमाका वर्णन करते हुए उसे यह बतलाया कि 'ये साक्षात् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र ईश्वर हैं; यदि तुम इनका तिरस्कार करनेका साहस करोगे तो उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे, जैसे अग्निमें गिरकर पतंगा नष्ट हो जाता है।' इसके बाद जब भगवान् श्रीकृष्णने अपना विश्वरूप प्रकट किया, उस समय सब लोगोंने भयभीत होकर अपने-अपने नेत्र मूँद लिये। केवल द्रोणाचार्य, भीष्म, विदुर, सञ्जय और उपस्थित ऋषिलोग ही उनका दर्शन कर सके। क्योंकि भगवान्‌ने इन सबको दिव्यदृष्टि दे दी थी। थोड़ी ही देर बाद अपनी इस लीलाको समेटकर भगवान् श्रीकृष्ण वापस उपप्लव्यकी ओर चले गये, जहाँसे वे आये थे। विदुरजी भी और लोगोंके साथ कुछ दूरतक उन्हें पहुँचानेके लिये गये और फिर उनसे विदा लेकर वापस चले आये।

श्रीकृष्णके असफल लौट जानेपर दोनों ओरसे युद्धकी

अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।

तैयारियाँ होने लगीं। अठारह अक्षौहिणी सेना लेकर दोनों दल कुरुक्षेत्रके मैदानपर एकत्रित हुए और अठारह दिनोंमें ही अठारह अक्षौहिणी सेना घासकी तरह कट गयी। राजा धृतराष्ट्र अपने सौ-के-सौ पुत्रों तथा पौत्रोंका विनाश हो जानेसे बड़े दुखी हुए। उस समय विदुरजीने मृत्युकी अनिवार्यताका निरूपण करते हुए यह बतलाया कि 'युद्धमें मारे जानेवालोंकी बड़ी उत्तम गति होती है; अतः उनके लिये तो शोक करना ही नहीं चाहिये।' इन्होंने यह भी बतलाया कि, 'जितनी बार प्राणी जन्म लेता है, उतनी ही बार वह अलग-अलग व्यक्तियोंसे सम्बन्ध जोड़ता है और मृत्युके बाद वे सारे सम्बन्ध स्वप्नकी भाँति विलीन हो जाते हैं। इसलिये भी मरे हुए सम्बन्धियोंके लिये शोक करना बुद्धिमानी नहीं है। फिर सुख-दुःखसे सम्बन्ध रखनेवाली संयोग-वियोग आदि जितनी भी घटनाएँ होती हैं, वे सब अपने ही द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलरूपमें प्राप्त होती हैं और कर्मफल सभी प्राणियोंको भोगना ही पड़ता है।' इसके बाद विदुरजीने संसारकी अनित्यता, निःसारता और परिवर्तनशीलता, जन्म और मृत्युके क्लेश, जीवका अविवेक, मृत्युकी दृष्टिसे सबकी समानता तथा धर्मके आचरणका महत्त्व बतलाते हुए संसारके दुःखोंसे छूटनेके उपायोंका दिग्दर्शन कराया।

युधिष्ठिरका राज्याभिषेक हो जानेके बाद जब धृतराष्ट्र पाण्डवोंके पास रहने लगे, तब विदुरजी भी धृतराष्ट्रके समीप रहकर उन्हें धर्मचर्चा सुनाया करते थे। वहाँसे जब धृतराष्ट्र और गान्धारीने वन जानेका निश्चय किया, तब ये भी उनके साथ हो लिये। वहाँ

जाकर विदुरजीने घोर तपस्याका व्रत ले लिया। ये निराहार रहकर निर्जन वनमें एकान्तवास करने लगे। शून्य वनमें कभी-कभी लोगोंको इनके दर्शन हो जाया करते थे। कुछ दिनों बाद जब महाराज युधिष्ठिर अपने समस्त परिवार एवं सेनाको साथ लेकर वनमें अपने ताऊ-ताई तथा माता कुन्तीसे मिलने आये और वहाँ विदुरजीको न देखकर उनके विषयमें राजा धृतराष्ट्रसे पूछने लगे, उसी समय उन्हें विदुरजी दूरपर दिखायी दिये। ये सिरपर जटा धारण किये हुए थे, मुखमें पत्थर दवाये थे और दिगम्बर वेष बनाये हुए थे। इनके धूलिधूसरित दुर्बल शरीरपर नसें उभर आयी थीं, मैल जम गया था। ये आश्रमकी ओर देखकर लौटे जा रहे थे। युधिष्ठिर इनसे मिलनेके लिये इनके पीछे दौड़े और जोर-जोरसे अपना नाम बताकर इन्हें पुकारने लगे। घोर जंगलमें पहुँचकर विदुरजी एक वृक्षका सहारा लेकर स्थिरभावसे खड़े हो गये। राजा युधिष्ठिरने देखा कि विदुरजी-का शरीर अस्थिपञ्जरमात्र रह गया है, ये बड़ी कठिनतासे पहचाने जाते थे। युधिष्ठिरने इनके सामने जाकर इनकी पूजा की, विदुरजी समाधिस्थ होकर निर्निमेष दृष्टिसे युधिष्ठिरकी ओर देखने लगे। इसके बाद ये योगबलसे उनके शरीरमें प्रवेश कर गये। इनका शरीर निर्जीव होकर उसी भाँति वृक्षके सहारे खड़ा रह गया। इस प्रकार साक्षात् धर्मके अवतार महात्मा विदुर धर्ममय जीवन बिताकर अन्तमें धर्ममूर्ति महाराज युधिष्ठिरके ही शरीरमें प्रवेश कर गये। बोलो धर्मकी जय!

मन्त्रिश्रेष्ठ सञ्जय

सञ्जय महाराज धृतराष्ट्रके मन्त्री थे। ये जातिके सूत थे। ये बड़े स्वामिभक्त, बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, धर्मज्ञ, तत्त्वज्ञानी और भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। ये सत्यवादी एवं निर्भीक भी थे। ये धृतराष्ट्रको बड़ी अच्छी सलाह देते थे और उनके हितकी दृष्टिसे कभी-कभी कड़ी बातें भी कह दिया करते थे। इन्होंने अन्ततक धृतराष्ट्रका साथ दिया। ये महर्षि वेदव्यासके कृपापात्र तथा अर्जुन एवं भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमी थे। ये दुर्योधनके अत्याचारोंका बड़े जोरोंसे प्रतिवाद करते थे और उनका समर्थन होनेपर धृतराष्ट्रको भी फटकार दिया करते थे। जब पाण्डव दूसरी बार जुएमें हारकर वनमें रहने लगे थे, उस समय इन्होंने पाण्डवोंके

साथ दुर्योधनके अनुचित बर्तावकी बड़ी कड़ी आलोचना करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'महाराज ! अब यह निश्चित है कि आपके कुलका तो नाश होगा ही, निरीह प्रजा भी न बचेगी। भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और विदुरजीने आपके पुत्रको बहुत मना किया; फिर भी उस निर्लज्जने पाण्डवोंकी प्रिय पत्नी धर्मपरायणा द्रौपदीको सभामें बुलवाकर अपमानित किया । विनाशकाल समीप आनेपर बुद्धि मलिन हो जाती है, अन्याय भी न्यायके समान दीखने लगता है। आपके पुत्रोंने अयोनिजा, पतिपरायणा, यज्ञवेदीसे उत्पन्न सुन्दरी द्रौपदीको भरी सभामें अपमानित कर भयङ्कर युद्धको न्योता दिया है। ऐसा निन्दनीय कर्म दुष्ट दुर्योधनके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता।' क्या कोई निर्भीक-से-निर्भीक मन्त्री राजाके सामने युवराजके प्रति इतनी कड़ी किन्तु सच्ची बात कह सकता है? शास्त्रोंमें भी कहा है—'अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता च दुर्लभः।' (वा० रा० ३। ३७। २) धृतराष्ट्रने सञ्जयकी बातका अनुमोदन करते हुए अपनी कमजोरीको स्वीकार किया, जिसके कारण वे दुर्योधनके उस अत्याचारको रोक नहीं सके थे।

सञ्जय सामनीतिके बड़े पक्षपाती थे। इन्होंने युद्धको रोकनेकी बहुत चेष्टा की और दोनों ही पक्षोंको युद्धकी बुराइयाँ बतलाकर तथा आपसकी फूटके दुष्परिणामकी ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बहुत समझाया। पाण्डवोंने तो इनकी बात मान ली; परन्तु दुर्योधनने इनके सन्धिके प्रस्तावको तिरस्कारपूर्वक ठुकरा दिया, जिससे युद्ध करना अनिवार्य हो गया। दैवका विधान ऐसा ही था। कौरवोंके पक्षमें भीष्म, द्रोण, विदुर और सञ्जयका मत प्रायः एक होता था; क्योंकि ये चारों

ही धर्मके पक्षपाती थे और हृदयसे पाण्डवोंके साथ सहानुभूति रखते थे। ये चारों ही राजा धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंकी अप्रसन्नताकी तनिक भी परवा न कर उन्हें सच्ची बात कहनेमें कभी नहीं हिचकते थे और सच्ची बात प्रायः कड़वी होती ही है।

जब धृतराष्ट्रने अपनी ओरसे पाण्डवोंके साथ बातचीत करनेके लिये सञ्जयको उपप्लव्यमें भेजा, तब सञ्जयने जाकर पाण्डवोंकी सच्ची प्रशंसा करते हुए उन्हें युद्धसे विरत होनेकी ही सलाह दी। इन्होंने कहा कि 'युद्धसे अर्थ और धर्म कुछ भी नहीं सधनेका। सन्धि ही शान्तिका सर्वोत्तम उपाय है और राजा धृतराष्ट्र भी शान्ति ही चाहते हैं, युद्ध नहीं।' श्रीकृष्ण और अर्जुनके विशेष कृपापात्र होनेके नाते इन्हें यह पूरा विश्वास था कि ये लोग मेरी बातको कभी नहीं टालेंगे। अर्जुनके सम्बन्धमें तो इन्होंने यहाँतक कह दिया कि 'अर्जुन तो मेरे माँगनेपर अपने प्राणतक दे सकते हैं।' इससे यह बात सिद्ध होती है कि सञ्जय अर्जुन और श्रीकृष्णके अनन्य प्रेमी थे। युधिष्ठिरने बड़े प्रेमसे सञ्जयकी बातका समर्थन किया; परन्तु उन्होंने सन्धिकी यही शर्त रक्खी कि हमें इन्द्रप्रस्थका राज्य लौटा दिया जाय। भगवान् श्रीकृष्णने भी धर्मराजका समर्थन किया और सञ्जय युधिष्ठिरका सन्देश लेकर वापस हस्तिनापुर चले आये। धृतराष्ट्रके पास जाकर पहले तो इन्होंने एकान्तमें उन्हें खूब फटकारा और पीछे सबके सामने पाण्डवोंका धर्मयुक्त सन्देश सुनाकर उनकी युद्धकी तैयारी तथा पाण्डव-पक्षके वीरोंके बलका विशदरूपसे वर्णन किया। साथ ही इन्होंने अर्जुन और श्रीकृष्णकी एकता सिद्ध करते हुए उन्हें बतलाया कि दोनों एक दूसरेके साथ कैसे घुले-मिले हैं।

इन्होंने कहा कि 'जिस समय मैं श्रीकृष्ण और अर्जुनसे मिलने गया, उस समय वे दोनों अन्तःपुरमें थे। वे जिस कमरेमें थे, वहाँ अभिमन्यु और नकुल-सहदेवतकका प्रवेश नहीं था। वहाँ पहुँचनेपर मैंने देखा कि श्रीकृष्ण अपने दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें रक्खे हुए हैं तथा अर्जुनके पैर द्रौपदी और सत्यभामाकी गोदमें हैं।' सञ्जयके इस वर्णनसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी एकता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही यह भी प्रमाणित होता है कि सञ्जय श्रीकृष्ण और अर्जुनके अनन्य प्रेमी थे। जिस स्थानमें अभिमन्यु और नकुल-सहदेवका भी प्रवेश नहीं था और जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन अपनी पटरानियोंके साथ एकान्तमें बिल्कुल निःसंकोचभावसे बैठे थे, वहाँ सञ्जयका बेरोक-टोक चले जाना और उनकी एकान्तगोष्ठीमें सम्मिलित होना इस बातको सिद्ध करता है कि इनका भी श्रीकृष्ण और अर्जुनके साथ बहुत खुला व्यवहार था।

सञ्जय भगवान्‌के प्रेमी तो थे ही, इन्हें भगवान्‌के स्वरूपका भी पूरा ज्ञान था। इन्होंने आगे चलकर महर्षि वेदव्यास, देवी गान्धारी तथा महात्मा विदुरके सामने राजा धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी महिमा सुनायी और उन्हें सारे लोकोंका स्वामी बतलाया। इसपर धृतराष्ट्रने इनसे पूछा कि 'श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं—इस बातको तुमने कैसे जान लिया और मैं उन्हें इस रूपमें क्यों नहीं पहचान सका?' इसके उत्तरमें सञ्जयने वेदव्यासजीके सामने इस बातको स्वीकार किया कि 'मैंने ज्ञानदृष्टिसे ही श्रीकृष्णको पहचाना है, बिना ज्ञानके कोई उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता।' इतना ही नहीं, इन्होंने यह भी बतलाया कि 'मैं कभी कपटका आश्रय नहीं लेता, किसी

मिथ्याधर्मका आचरण नहीं करता तथा ध्यानयोगके द्वारा मेरा अन्त:करण शुद्ध हो गया है। इसीलिये मुझे श्रीकृष्णके स्वरूपका ज्ञान हो गया है।' इसके बाद स्वयं वेदव्यासजीने सञ्जयकी प्रशंसा करते हुए धृतराष्ट्रसे कहा कि 'इसे पुराणपुरुष श्रीकृष्णके स्वरूपका पूरा ज्ञान है; अत: यदि तुम इनकी बात सुनोगे तो यह तुम्हें जन्म-मरणके महान् भयसे मुक्त कर देगा।' सञ्जयके ज्ञानी होनेका इससे बढ़कर प्रमाण और क्या होगा। इसके बाद धृतराष्ट्रने सञ्जयसे पूछा—'भैया! मुझे कोई ऐसा निर्भय मार्ग बताओ, जिसपर चलकर मैं भी भगवान् श्रीकृष्णको जान सकूँ और उनका परमपद पा सकूँ।' सञ्जयने उन्हें बताया कि 'इन्द्रियोंको जीते बिना कोई श्रीकृष्णको नहीं पा सकता और इन्द्रियाँ भोगोंके त्यागसे ही जीती जा सकती हैं। प्रमाद, हिंसा और भोग—इन तीनोंका त्याग ही ज्ञानका साधन है। इन्हींके त्यागसे परमपदकी प्राप्ति सम्भव है।' अन्तमें सञ्जयने भगवान् श्रीकृष्णके कुछ नामोंकी बड़ी सुन्दर व्याख्या करके धृतराष्ट्रको सुनायी। इससे सञ्जयके शास्त्रज्ञानका भी पता लगता है।

जब दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ पूरी हो चुकीं और दोनों पक्षोंकी सेनाएँ कुरुक्षेत्रके मैदानमें जा डटीं, उस समय महर्षि वेदव्यासजीने सञ्जयको दिव्यदृष्टिका वरदान देते हुए धृतराष्ट्रसे कहा—'राजन्! यह सञ्जय तुम्हें युद्धका वृत्तान्त सुनायेगा। सम्पूर्ण युद्धक्षेत्रमें कोई भी ऐसी बात न होगी, जो इससे छिपी रहे। यह दिव्यदृष्टिसे सम्पन्न और सर्वज्ञ हो जायगा। सामनेकी अथवा परोक्षकी, दिनमें होनेवाली या रातमें होनेवाली तथा मनमें सोची हुई बात भी इसे माल्रम हो जायगी। इतना ही नहीं, शस्त्र इसे

काट नहीं सकेंगे, परिश्रमसे इसे थकान नहीं मालूम होगी और युद्धसे यह जीता-जागता निकल आयेगा ।'

बस, उसी समयसे भगवान् वेदव्यासकी कृपासे सञ्जयकी दिव्यदृष्टि हो गयी । ये वहीं बैठे युद्धकी सारी बातें प्रत्यक्षकी भाँति जान लेते थे और इन्हें ज्यों-की-त्यों महाराज धृतराष्ट्रको सुना देते थे। कोसोंके विस्तारवाले कुरुक्षेत्रके मैदानमें, जहाँ अठारह अक्षौहिणियाँ आपसमें जूझ रही थीं, कौन वीर कहाँ किस समय किससे लड़ रहा है, वह किस समय किसपर कितने और कौन-कौन-से अस्त्रोंका प्रयोग करता है, कितनी बार कितने पैंतरे बदलता है और किस प्रकार किस कौशलसे शत्रुका वार बचाता है, उसका कैसा रूप है और कैसा वाहन है—ये सब बातें ये एक ही जगह बैठे जान लेते थे । भगवद्गीताका उपदेश भी जिस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको दिया, वह सब इन्होंने अपने कानोंसे सुना (गीता १८ । ७४-७५) । केवल सुना ही नहीं, उपदेश देते समय श्रीकृष्णकी जैसी मुखमुद्रा थी, जो भावभङ्गी थी तथा जो उनका रूप था, वह इन्हें प्रत्यक्षकी भाँति ही दिखायी देता था । इतना ही नहीं, जिस समय भगवान्ने अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखलाया, जिसे अर्जुनके सिवा और किसीने पहले नहीं देखा था और जिसके सम्बन्धमें स्वयं भगवान्ने उनसे कहा कि 'वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, दानसे, क्रियाओंसे तथा उग्र तपस्याओंसे भी कोई दूसरा इस रूपका दर्शन नहीं कर सकता (गीता ११ । ४८), उस समय सञ्जयने भी उस रूपको उसी प्रकार देखा जिस प्रकार अर्जुन देख रहे थे । इसके बाद जब भगवान्ने अपने विश्वरूपको समेटकर अर्जुनको चतुर्भुजरूपमें दर्शन

दिया, जिसका दर्शन भगवान्‌ने देवताओंके लिये भी दुर्लभ बतलाया है तथा जिसके सम्बन्धमें उन्होंने बताया कि तप, दान और यज्ञसे भी उसका दर्शन नहीं प्राप्त किया जा सकता (गीता ११ । ५३), तब उसी दिव्य झाँकीका दर्शन महाभाग सञ्जयको भी हस्तिनापुरमें बैठे ही प्राप्त हो गया। उसी प्रसङ्गमें भगवान्‌ने अर्जुनको यह भी बताया कि 'केवल अनन्यभक्तिसे ही मेरे इस रूपका दर्शन सम्भव है' (गीता ११ । ५४)। इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सञ्जयको भी भगवान्‌की वह अनन्यभक्ति प्राप्त थी, जिसके कारण इन्हें भगवान्‌की उस दिव्य झाँकीका दर्शन हो सका। गीता सुननेके बाद भी उस रूपकी स्मृति सञ्जयके लिये एक अलौकिक आनन्दकी सामग्री हो गयी। इन्होंने स्वयं अपनी उस उल्लासपूर्ण स्थितिका वर्णन करते हुए कहा है—

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥*

(गीता १८ । ७६-७७)

---

* 'हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। हे राजन्! श्रीहरिके उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारंबार हर्षित हो रहा हूँ।'

इससे यह सिद्ध होता है कि इनका श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रति जो श्रद्धा-प्रेम था, वह विवेकपूर्वक था; क्योंकि ये उनके यथार्थ प्रभावको भी जानते थे। इन्होंने युद्धके पूर्व ही उनकी विजय घोषित करते हुए कह दिया था कि—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥*

(गीता १८। ७८)

युद्ध-समाप्तिके बाद कुछ दिन महाराज युधिष्ठिरके पास रहकर जब धृतराष्ट्र-गान्धारी वनकी ओर जाने लगे, तब सञ्जय भी उनके साथ हो लिये। वहाँ भी इन्होंने अपने स्वामीकी सब प्रकारसे सेवा की और जब इन्हें देवी गान्धारी और कुन्तीके सहित दावाग्निने घेर लिया, तब ये उन्हींकी आज्ञासे वनवासी मुनियोंको उनके शरीरत्यागकी बात कहनेके लिये उन्हें छोड़कर आश्रममें चले आये और वहाँसे हिमालयकी ओर चले गये। इस प्रकार सञ्जयका जीवन भी एक महान् जीवन था। इनके जीवनसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्य चाहे किसी भी वर्ण अथवा जातिका क्यों न हो, भगवान्की कृपासे वह कुछ-का-कुछ बन सकता है।

---

* 'हे राजन्! जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।'

भगवान् वेदव्यास

भगवान् वेदव्यास महर्षि पराशरके पुत्र हैं। ये कैवर्तराजकी पोष्यपुत्री सत्यवतीके गर्भसे जन्मे थे। व्यासजी एक अलौकिक शक्तिसम्पन्न महापुरुष हैं। ये एक महान् कारक पुरुष हैं। इन्होंने लोगोंकी धारणा-शक्तिको क्षीण होते देख वेदोंके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चार विभाग किये और एक-एक संहिता अपने एक-एक शिष्यको पढ़ा दी। एक-एक संहिताकी फिर अनेकों शाखा-प्रशाखाएँ हुईं। इस प्रकार इन्हींके प्रयत्नसे वैदिक वाङ्मयका बहुविध विस्तार हुआ। व्यास कहते हैं विस्तारको; क्योंकि वेदोंका विस्तार इन्हींसे हुआ, इसलिये ये 'वेदव्यास'के नामसे प्रसिद्ध हुए। इनका जन्म एक द्वीपके अंदर हुआ था और इनका वर्ण श्याम है; इसलिये इन्हें लोग 'कृष्णद्वैपायन' भी कहते हैं। बदरीवनमें रहनेके कारण इनका एक नाम 'बादरायण' भी है। अठारह पुराण एवं महाभारतकी रचना इन्हींके द्वारा हुई और संक्षेपमें उपनिषदोंका तत्त्व समझानेके लिये इन्होंने ब्रह्मसूत्रोंका निर्माण किया, जिनपर भिन्न-भिन्न आचार्योंने भिन्न-भिन्न भाष्योंकी रचनाकर अपना-अपना अलग मत स्थापित किया। व्यासस्मृतिके नामसे इनका रचा हुआ एक स्मृतिग्रन्थ भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार भारतीय वाङ्मय एवं हिंदू-संस्कृति-

पर व्यासजीका बहुत बड़ा ऋण है। श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणोक्त सनातन धर्मके व्यासजी एक प्रधान व्याख्याता कहे जा सकते हैं। इनके उपकारसे हिंदू-जाति कदापि उऋण नहीं हो सकती। जबतक हिंदू-जाति और भारतीय संस्कृति जीवित है, तबतक इतिहासमें व्यासजीका नाम अमर रहेगा। ये जगत्के एक महान् पथप्रदर्शक और शिक्षक कहे जा सकते हैं। इसीसे इन्हें जगद्गुरु कहलानेका गौरव प्राप्त है। गुरु-पूर्णिमा (आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा) के दिन प्रत्येक आस्तिक हिंदू गृहस्थ इनकी पूजा करता है। भगवद्गीता-जैसा अनुपम रत्न भी संसारको व्यासजीकी कृपासे ही प्राप्त हुआ। इन्होंने ही भगवान् श्रीकृष्णके उस अमर उपदेशको अपनी महाभारतसंहितामें ग्रथितकर उसे संसारके लिये सुलभ बना दिया।

महर्षि वेदव्यास त्रिकालदर्शी एवं इच्छागति हैं। वे प्रत्येकके मनकी बात जान लेते हैं और इच्छा करते ही जहाँ जाना चाहें, वहीं पहुँच जाते हैं। ये जन्मते ही अपनी माताकी आज्ञा लेकर वनमें तपस्या करने चल दिये। जाते समय ये मातासे कह गये कि 'जब कभी तुम्हें मेरी आवश्यकता जान पड़े, तुम मुझे याद कर लेना। मैं उसी समय तुम्हारे पास चला आऊँगा।'

जब पाण्डव विदुरजीकी बतायी हुई युक्तिका अनुसरणकर लाक्षाभवनसे निकल भागे और एकचक्रा नगरीमें जाकर रहने लगे, उन दिनों व्यासजी उनके पास उनसे मिलनेके लिये गये और प्रसङ्गवश इन्होंने उन्हें द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाकर यह बताया कि 'वह कन्या तुम्हीं लोगोंके लिये पहलेसे निश्चित है।' इस बातको सुनकर पाण्डवोंको बड़ी प्रसन्नता एवं उत्सुकता हुई और

वे द्रुपदकुमारीके स्वयंवरमें सम्मिलित होनेके लिये पाञ्चालनगरकी ओर चल पड़े। वहाँ जाकर जब अर्जुनने स्वयंवरकी शर्त पूरी करके द्रौपदीको जीत लिया और माता कुन्तीकी आज्ञासे पाँचों भाइयोंने उससे विवाह करना चाहा, तब राजा द्रुपदने इसपर आपत्ति की। उसी समय व्यासजी वहाँ आ पहुँचे और इन्होंने द्रुपदको द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाकर पाँचों भाइयोंके साथ अपनी कन्याका विवाह करनेके लिये राजी कर लिया।

महाराज युधिष्ठिरने जब इन्द्रप्रस्थमें राजसूय यज्ञ किया, उस समय भी वेदव्यासजी यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये अपनी शिष्यमण्डलीके साथ पधारे थे। यज्ञ समाप्त होनेपर ये विदा होनेके लिये युधिष्ठिरके पास गये और बातों-ही-बातोंमें इन्होंने युधिष्ठिरको बतलाया कि 'आजसे तेरह वर्ष बाद क्षत्रियोंका महासंहार होगा, जिसमें दुर्योधनके अपराधसे तुम्हीं निमित्त बनोगे।'

× × ×

पाण्डवोंका सर्वस्व छीनकर तथा उन्हें बारह वर्षोंकी लंबी अवधिके लिये वन भेजकर भी दुर्योधनको सन्तोष नहीं हुआ। वह पाण्डवोंको वनमें ही मार डालनेकी घात सोचने लगा। अपने मामा शकुनि, कर्ण तथा दुःशासनसे सलाह करके उसने चुपचाप पाण्डवोंपर आक्रमण करनेका निश्चय किया और सब लोग शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित रथोंपर सवार होकर वनकी ओर चल पड़े। व्यासजीको अपनी दिव्यदृष्टिसे उनकी इस दुरभिसन्धिका पता लग गया। ये तुरंत उनके पास गये और उन्हें इस घोर दुष्कर्मसे मना किया। इसके बाद इन्होंने धृतराष्ट्रके पास जाकर उन्हें समझाया कि 'तुम

जूएमें हराकर पाण्डवोंको वनमें भेज दिया, यह अच्छा नहीं किया। इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। तुम यदि अपना तथा अपने पुत्रोंका हित चाहते हो तो अब भी सँभल जाओ। भला, यह कैसी बात है कि दुरात्मा दुर्योधन राज्यके लोभसे पाण्डवोंको मार डालना चाहता है। मैं कहे देता हूँ कि अपने इस लाड़ले बेटेको इस कामसे रोक दो। वह चुपचाप घर बैठा रहे। यदि उसने पाण्डवों-को मार डालनेकी चेष्टा की तो वह स्वयं अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा। यदि तुम अपने पुत्रकी द्वेष-बुद्धि मिटानेकी चेष्टा नहीं करोगे तो बड़ा अनर्थ होगा। मेरी सम्मति तो यह है कि दुर्योधन अकेला ही वनमें जाकर पाण्डवोंके पास रहे। सम्भव है, पाण्डवोंके सत्सङ्गसे उसका द्वेषभाव दूर होकर प्रेमभाव जाग्रत् हो जाय। परन्तु यह बात है बहुत कठिन; क्योंकि जन्मगत स्वभावका बदल जाना सहज नहीं है। यदि तुम कुरुवंशियोंकी रक्षा और उनका जीवन चाहते हो तो अपने पुत्रसे कहो कि वह पाण्डवोंके साथ मेल कर ले।' व्यासजीने धृतराष्ट्रसे यह भी कहा कि 'थोड़ी ही देरमें महर्षि मैत्रेयजी यहाँ आनेवाले हैं। वे तुम्हारे पुत्रको पाण्डवोंसे मेल कर लेनेका उपदेश देंगे। वे जैसा कहें, बिना सोचे-विचारे तुमलोगोंको वैसा ही करना चाहिये। यदि उनकी बात नहीं मानोगे तो वे क्रोधवश शाप दे देंगे।' परन्तु दुष्ट दुर्योधनने उनकी बात नहीं मानी और फलतः उसे महर्षि मैत्रेयजीका कोपभाजन बनना पड़ा।

× × ×

व्यासजी त्रिकालदर्शी तो हैं ही, इनकी सामर्थ्य भी अद्भुत है। जब पाण्डवलोग वनमें रहते थे, उस समय इन्होंने एक दिन

उनके पास जाकर युधिष्ठिरके द्वारा अर्जुनको प्रतिस्मृति-विद्याका उपदेश दिया, जिससे उनमें देवदर्शनकी योग्यता आ गयी। इतना ही नहीं, इन्होंने सञ्जयको दिव्यदृष्टि दे दी, जिसके प्रभावसे उन्हें केवल युद्धकी सारी बातोंका ही ज्ञान नहीं हुआ बल्कि उनमें भगवान्‌के विश्वरूप एवं दिव्य चतुर्भुजरूपके देवदुर्लभ दर्शनकी योग्यता भी आ गयी और वे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे भगवद्गीता-के दिव्य उपदेशका भी श्रवण कर सके, जिसे अर्जुनके सिवा और कोई भी नहीं सुन पाया था, जिस दिव्य-दृष्टिके प्रभावसे सञ्जयमें इतनी बड़ी योग्यता आ गयी, उस दिव्यदृष्टिके प्रदान करनेवाले महर्षि वेदव्यासमें कितनी सामर्थ्य होगी—हमलोग इसका ठीक-ठीक अनुमान भी नहीं लगा सकते। ये साक्षात् भगवान् नारायणकी कला ही जो ठहरे।

× × ×

एक बार जब धृतराष्ट्र और गान्धारी वनमें रहते थे और महाराज युधिष्ठिर भी अपने परिवारके साथ उनसे मिलनेके लिये गये हुए थे, व्यासजी वहाँ आये और यह देखकर कि धृतराष्ट्र और गान्धारीका पुत्रशोक अभीतक दूर नहीं हुआ है और कुन्ती भी अपने पौत्रोंके वियोगसे दुखी है, इन्होंने धृतराष्ट्रसे वर माँगनेको कहा। राजा धृतराष्ट्रने उनसे यह जानना चाहा कि महाभारत-युद्धमें उनके जिन कुटुम्बियों और मित्रोंका नाश हुआ है, उनकी क्या गति हुई होगी। साथ ही उन्होंने व्यासजीसे उन्हें एक बार दिखला देनेकी प्रार्थना की। व्यासजीने उनकी प्रार्थनाको स्वीकार करते हुए गान्धारीसे कहा कि 'आज रातको ही तुम सब लोग अपने मृत बन्धुओंको उसी प्रकार देखोगे, जैसे कोई सोकर उठे

हुए मनुष्योंको देखे !' सायंकालका नित्यकृत्य करके व्यासजीकी आज्ञासे सब लोग गङ्गातटपर एकत्रित हुए। व्यासजीने गङ्गाजीके पवित्र जलमें घुसकर पाण्डव एवं कौरवपक्षके योद्धाओंको, जो युद्धमें मर गये थे, आवाज दी। उसी समय जलमें वैसा ही कोलाहल सुनायी दिया, जैसा कौरव एवं पाण्डवोंकी सेनाओंके एकत्र होनेपर कुरुक्षेत्रके मैदानमें सुन पड़ा था। इसके बाद भीष्म और द्रोणको आगे करके वे सब राजा और राजकुमार, जिन्होंने युद्धमें वीरगति प्राप्त की थी, सहसा जलमेंसे बाहर निकल आये। युद्धके समय जिस वीरका जैसा वेष था, जैसी ध्वजा थी, जो वाहन थे, वे सब ज्यों-के-त्यों वहाँ दिखायी दिये। वे दिव्य वस्त्र और दिव्य मालाएँ धारण किये हुए थे, सबने चमकते हुए कुण्डल पहन रक्खे थे और सबके शरीर दिव्य प्रभासे चम-चम कर रहे थे। सब-के-सब निर्वैर, निरभिमान, क्रोधरहित और डाहसे शून्य प्रतीत हुए थे। गन्धर्व उनका यश गा रहे थे और वंदीजन स्तुति कर रहे थे। उस समय व्यासजीने धृतराष्ट्रको दिव्य नेत्र दे दिये, जिनसे वे उन सारे योद्धाओंको अच्छी तरह देख सके। वह दृश्य अद्भुत, अचिन्त्य और रोमाञ्चकारी था। सब लोगोंने निर्निमेष नेत्रोंसे उस दृश्यको देखा। इसके बाद वे सब आये हुए योद्धा अपने-अपने सम्बन्धियोंसे क्रोध और वैर छोड़कर मिले। इस प्रकार रातभर प्रेमियोंका वह समागम जारी रहा। इसके बाद वे सब लोग जिस प्रकार आये थे, उसी प्रकार भागीरथीके जलमें प्रवेश करके अपने-अपने लोकोंमें चले गये। उस समय वेदव्यासजीने, जिन स्त्रियोंके पति वीरगतिको प्राप्त हुए थे उनको, सम्बोधन करके कहा कि 'आपमेंसे जो कोई अपने पतिके

लोकमें जाना चाहती हों, उन्हें गङ्गाजीके जलमें गोता लगाना चाहिये। उनके इस वचनको सुनकर बहुत-सी स्त्रियाँ जलमें घुस गयीं। और मनुष्यदेहको छोड़कर अपने-अपने पतिके लोकमें चली गयीं। उनके पति जिस प्रकारके दिव्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर आये थे, उसी प्रकारके दिव्य वस्त्राभूषणोंको धारणकर तथा विमानोंमें बैठकर वे अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंमें पहुँच गयीं।

इधर राजा जनमेजयने वैशम्पायनजीके मुखसे जब यह अद्भुत वृत्तान्त सुना, तब उनके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ और उन्होंने भी अपने स्वर्गवासी पिता महाराज परीक्षित्‌के दर्शन करने चाहे। व्यासजी वहाँ मौजूद ही थे। इन्होंने राजाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसी समय राजा परीक्षित्‌को वहाँ बुला दिया। जनमेजयने यज्ञान्त-स्नानके अवसरपर अपने साथ अपने पिताको भी स्नान कराया और इसके बाद परीक्षित् वहाँसे चले गये। इस प्रकार महर्षि वेदव्यासने अपने अलौकिक सामर्थ्यका प्रकाश किया। महर्षि वेदव्यास वास्तवमें एक अद्भुत शक्तिशाली महापुरुष हैं। ये कल्पान्तजीवी कहे जाते हैं। अगले मन्वन्तरमें इनकी सप्तर्षियोंमें गणना होगी। ये आज भी इस लोकमें विद्यमान हैं और समय-समयपर अधिकारी पुरुषोंको दर्शन देकर कृतार्थ किया करते हैं। कहते हैं, भगवान् आदि-शंकराचार्यको इनके दर्शन हुए थे। महाभारतके रचयिता इन्हीं महर्षिके पुनीत चरणोंमें मस्तक नवाकर हम अपने इस लेखको समाप्त करते हैं।

महाभारतकी महिमा

महाभारतका भारतीय वाङ्मयमें बहुत ऊँचा स्थान है। इसे पञ्चम वेद भी कहते हैं। इसका विद्वानोंमें वेदोंका-सा आदर है। इसमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष——चारों ही पुरुषार्थोंका निरूपण किया गया है। धर्मके तो प्रायः सभी अङ्गोंका इसमें वर्णन है। वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, दानधर्म, श्राद्धधर्म, स्त्रीधर्म, मोक्षधर्म आदि विविध धर्मोंका शान्तिपर्व एवं अनुशासनपर्वमें भीष्मजीके द्वारा बहुत विशद वर्णन किया गया है। भगवद्गीता-जैसा अनुपम ग्रन्थ, जिसे सारा संसार आदरकी दृष्टिसे देखता है और जिसे हम विश्व-साहित्यका सर्वोत्तम ग्रन्थ कहें तो भी कोई अत्युक्ति न होगी, इस महाभारतके भीष्मपर्वमें है। ज्ञान, कर्म और भक्तिका एक ही स्थानपर जैसा सुन्दर विवेचन गीतामें है, वैसा अन्यत्र शायद ही कहीं मिलेगा। भगवद्गीता स्वयं भगवान्‌की दिव्य वाणी जो ठहरी। इस प्रकार जिस ओरसे भी हम महाभारतपर दृष्टिपात करते हैं, उसे हम

परमोपयोगी पाते हैं। महाभारतके सम्बन्धमें स्वयं व्यासजीने कहा है—

> अष्टादशपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः।
> वेदाः साङ्गास्तथैकत्र भारतं चैकतः स्थितम्॥
> यथा समुद्रो भगवान् यथा च हिमवान् गिरिः।
> ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते॥
> इदं भारतमाख्यानं यः पठेत् सुसमाहितः।
> स गच्छेत् परमां सिद्धिमिति मे नास्ति संशयः॥
> यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
> विप्राय वेदविदुषे सुबहुश्रुताय।
> पुण्यां च भारतकथां सततं शृणोति
> तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव॥

(महा० स्वर्ग० ५। ४६, ६५, ६६, ६८)

'अठारहों पुराण, सारे धर्मशास्त्र (स्मृतिग्रन्थ) तथा व्याकरण, ज्यौतिष, छन्दःशास्त्र, शिक्षा, कल्प एवं निरुक्त—इन छहों अङ्गोंसहित चारों वेद—ये सब मिलाकर एक ओर, और अकेला महाभारत एक ओर। अर्थात् वेद-वेदाङ्ग, पुराण एवं धर्मशास्त्रोंके अध्ययनसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह अकेले महाभारतके अध्ययनसे प्राप्त हो सकता है। जिस प्रकार भगवान् समुद्र और हिमालयपर्वत दोनोंको ही रत्नोंका आकर कहा गया है, उसी प्रकार यह महाभारत-ग्रन्थ भी उपदेश-रत्नोंकी खान कहा जाता है। एकाग्र मनसे जो इस महाभारत इतिहासका पाठ करता है, वह मोक्षरूप परम सिद्धि पाता है, मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं। जो मनुष्य वेदज्ञ और अनेक शास्त्रोंके जाननेवाले ब्राह्मणोंको सोनेसे मढ़े

हुए सींगोंवाली सौ गौएँ दान करता है, उसको एवं जो सदा-सर्वदा महाभारतकी पुण्यमयी कथाका श्रवण करता है, उसको समान ही फल मिलता है ।'

जिस महाभारतकी स्वयं वेदव्यासजीने ऐसी महिमा गायी है, उसका संसारमें मनोयोगपूर्वक जितना भी पठन-पाठन होगा, उतना ही जगत्का कल्याण होगा ।

महाभारतके पढ़ने-सुननेका अधिकार मनुष्यमात्रको है । कोई किसी भी समुदाय अथवा जातिका क्यों न हो, वह महाभारतका अध्ययनकर उसमें आये हुए उत्तमोत्तम उपदेशोंको यथाधिकार आचरणमें लाकर अपना कल्याण कर सकता है । महाभारतकी रचना करनेमें वेदव्यासजीका प्रधान उद्देश्य यही था कि स्त्रियाँ, शूद्र और पतित आदि भी, जिन्हें शास्त्र वेद पढ़नेकी आज्ञा नहीं देते, वेदोंके महत्त्वपूर्ण ज्ञानसे वञ्चित न रह जायँ । इसी अभिप्रायसे ऊपर महाभारतके माहात्म्यके श्लोकोंमें यह बात कही गयी है कि अकेले महाभारतके पढ़ लेनेसे ही वेद, वेदाङ्ग, पुराण एवं धर्मशास्त्रोंका ज्ञान हो सकता है । इससे वेदोंको नीचा बतलाना ग्रन्थकारका अभीष्ट नहीं है । वस्तुतः महाभारतमें जो कुछ कहा गया है, उसका आधार तो हमारे सर्वमान्य वेद और स्मृतियाँ ही हैं । वेदों और स्मृतियोंका ही तात्पर्य सरल एवं रोचक ढंगसे महाभारतमें वर्णित है ।

महाभारत एक उच्चकोटिका काव्य तो है ही, वह सच्चा इतिहास भी है । वह उपन्यासोंकी भाँति कपोलकल्पित अथवा अतिरञ्जित नहीं है । जिन महर्षि वेदव्यासकी दी हुई दिव्य दृष्टिको पाकर

सञ्जय हस्तिनापुरमें बैठे हुए ही कुरुक्षेत्रमें होनेवाले युद्धकी छोटी-से-छोटी घटनाएँ ही नहीं, अपितु भगवान्‌का तत्त्व, प्रभाव एवं रहस्य तथा दूसरोंके मनकी बाततक जाननेमें समर्थ हो सके, उन्हीं महर्षिकी वाणीमें प्रमाद, असत्य एवं अतिशयोक्ति आदिकी तो कल्पना भी नहीं करनी चाहिये। वे त्रिकालज्ञ तथा सर्वथा राग-द्वेषशून्य हैं। महाभारतके कलेवरके सम्बन्धमें भी लोग अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ किया करते हैं; परंतु इस विषयमें मूलग्रन्थको ही हमें प्रमाण मानना चाहिये। महाभारतमें ही इसकी श्लोक-संख्या एक लाख बतलायी गयी है। विद्या-बुद्धिके भंडार स्वयं श्रीगणेशजीने इसे लिखा था और पूरे तीन वर्षोंमें यह ग्रन्थ तैयार हुआ था। फिर इसके विषयमें ऐसी शङ्का करना कि यह पूरा ग्रन्थ वेदव्यासजीका लिखा हुआ है या नहीं, कहाँतक युक्तियुक्त है।
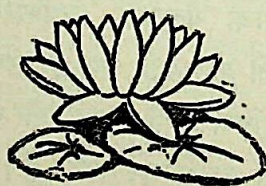
पद्मपुराणकी महिमा

शास्त्रोंमें पुराणोंकी बड़ी महिमा है। उन्हें साक्षात् श्रीहरिका रूप बतलाया गया है। जिस प्रकार भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्को प्रकाश प्रदान करनेके लिये सूर्यका विग्रह धारण करके जगत्में विचर रहे हैं, उसी प्रकार वे सबके हृदयमें प्रकाश करनेके लिये इस जगत्में पुराणोंका रूप धारण करके मनुष्योंके हृदयमें विचर रहे हैं। अतः पुराण परम पवित्र हैं।* जिस प्रकार त्रैवर्णिकोंके लिये

---

* यथा सूर्यवपुर्भूत्वा प्रकाशाय चरेद्धरिः ।
सर्वेषां जगतामेव हरिरालोकहेतवे ॥
तथैवान्तःप्रकाशाय पुराणावयवो हरिः ।
विचरेदिह भूतेषु पुराणं पावनं परम् ॥

(पद्म० स्वर्ग० ६२ । ६०-६१)

वेदोंका स्वाध्याय नित्य करनेकी विधि है, उसी प्रकार पुराणोंका श्रवण भी सबको नित्य करना चाहिये—'पुराणं शृणुयान्नित्यम्' (पद्म० स्वर्ग० ६२ । ५८) । पुराणोंमें अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारोंका बहुत ही सुन्दर निरूपण हुआ है और चारोंका एक-दूसरेके साथ क्या सम्बन्ध है—इसे भी भलीभाँति समझाया गया है । श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥
(१ । २ । ९-१०)

'धर्म तो अपवर्ग (मोक्ष या भगवत्प्राप्ति) का साधक है । धन प्राप्त कर लेना ही उसका प्रयोजन नहीं है । धनका भी अन्तिम साध्य है धर्म, न कि भोगोंका संग्रह । यदि धनसे लौकिक भोगकी ही प्राप्ति हुई तो यह लाभकी बात नहीं मानी गयी है । भोग-संग्रहका भी प्रयोजन सदा इन्द्रियोंको तृप्त करते रहना ही नहीं है; अपितु जितनेसे जीवन-निर्वाह हो सके, उतना ही आवश्यक है । जीवके जीवनका भी मुख्य प्रयोजन भगवत्तत्त्वको जाननेकी सच्ची अभिलाषा ही है, न कि यज्ञादि कर्मोंद्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति ।'

यह तत्त्व-जिज्ञासा पुराणोंके श्रवणसे भलीभाँति जगायी जा सकती है । इतना ही नहीं, सारे साधनोंका फल है—भगवान्‌की

प्रसन्नता प्राप्त करना। यह भगवत्प्रीति भी पुराणोंके श्रवणसे सहजमें ही प्राप्त की जा सकती है। पद्मपुराणमें लिखा है—

तस्माद्यदि हरेः प्रीतेरुत्पादे धीयते मतिः।
श्रोतव्यमनिशं पुम्भिः पुराणं कृष्णरूपिणः॥

(पद्म० स्वर्ग० ६२।६२)

'इसलिये यदि भगवान्‌को प्रसन्न करनेमें अपनी बुद्धिको लगाना हो तो सभी मनुष्योंको निरन्तर श्रीकृष्णरूपधारी भगवान्‌के स्वरूपभूत पुराणोंका श्रवण करना चाहिये।' इसीलिये पुराणोंका हमारे यहाँ इतना आदर रहा है।

वेदोंकी भाँति पुराण भी हमारे यहाँ अनादि माने गये हैं, उनका रचयिता कोई नहीं है। सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी भी उनका स्मरण ही करते हैं। पद्मपुराणमें लिखा है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।

(पद्म० सृष्टि० १।४५)

इनका विस्तार सौ करोड़ (एक अरब) श्लोकोंका माना गया है—'शतकोटिप्रविस्तरम्।' उसी प्रसङ्गमें यह भी कहा गया है कि समयके परिवर्तनसे जब मनुष्यकी आयु कम हो जाती है और इतने बड़े पुराणोंका श्रवण और पठन एक जीवनमें मनुष्योंके लिये असम्भव हो जाता है, तब उनका संक्षेप करनेके लिये स्वयं सर्वव्यापी हिरण्यगर्भ भगवान् ही प्रत्येक द्वापरयुगमें व्यासरूपसे अवतीर्ण होते हैं और उन्हें अठारह भागोंमें बाँटकर चार लाख श्लोकोंमें सीमित कर देते हैं। पुराणोंका यह संक्षिप्त संस्करण ही भूलोकमें

प्रकाशित होता है। कहते हैं स्वर्गादि लोकोंमें आज भी एक अरब श्लोकोंका विस्तृत पुराण विद्यमान है।* इस प्रकार भगवान् वेदव्यास भी पुराणोंके रचयिता नहीं, अपितु संक्षेपक अथवा संग्राहक ही सिद्ध होते हैं। इसीलिये पुराणोंको 'पञ्चम वेद' कहा गया है—'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (छान्दोग्योपनिषद् ७। १। २)। उपर्युक्त उपनिषद्वाक्यके अनुसार यद्यपि इतिहास-पुराण दोनोंको ही 'पञ्चम वेद' की गौरवपूर्ण उपाधि दी गयी है, फिर भी वाल्मीकीय रामायण और महाभारत, जिनकी इतिहास संज्ञा है, क्रमशः महर्षि वाल्मीकि तथा वेदव्यासद्वारा प्रणीत होनेके कारण पुराणोंकी अपेक्षा अर्वाचीन ही है। इस प्रकार पुराणोंकी पुराणता सर्वापेक्षया प्राचीनता सुतरां सिद्ध हो जाती है। इसीलिये वेदोंके बाद पुराणोंका ही हमारे यहाँ सबसे अधिक सम्मान है; बल्कि कहीं-कहीं तो उन्हें वेदोंसे भी अधिक गौरव दिया गया है। पद्म-पुराणमें ही लिखा है—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
पुराणं च विजानाति यः स तस्माद्विचक्षणः॥

(सृष्टि० २। ५०-५१)

---

* कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तदा विभुः।
व्यासरूपस्तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे जगौ।
तदाष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाशितम्॥
अद्यापि देवलोकेषु शतकोटिप्रविस्तरम्।

(पद्म० सृष्टि० १। ५१-५३)

'जो ब्राह्मण अङ्गों एवं उपनिषदोंसहित चारों वेदोंका ज्ञान रखता है, उससे भी बड़ा विद्वान् वह है, जो पुराणोंका विशेष ज्ञाता है।'

यहाँ श्रद्धालुओंके मनमें स्वाभाविक ही यह शङ्का हो सकती है कि उपर्युक्त श्लोकोंमें वेदोंकी अपेक्षा भी पुराणोंके ज्ञानको श्रेष्ठ क्यों बतलाया है। इस शङ्काका दो प्रकारसे समाधान किया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि उपर्युक्त श्लोकके 'विद्यात्' और 'विजानाति'—इन दो क्रियापदोंपर विचार करनेसे यह शङ्का निर्मूल हो जाती है। बात यह है कि ऊपरके वचनमें वेदोंके सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा पुराणोंके विशिष्ट ज्ञानका वैशिष्ट्य बताया गया है, न कि वेदोंके सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा पुराणोंके सामान्य ज्ञानका अथवा वेदोंके विशिष्ट ज्ञानकी अपेक्षा पुराणोंके विशिष्ट ज्ञानका। पुराणोंमें जो कुछ है, वह वेदोंका ही तो विस्तार—विशदीकरण है। ऐसी दशामें पुराणोंका विशिष्ट ज्ञान वेदोंका ही विशिष्ट ज्ञान है और वेदोंका विशिष्ट ज्ञान वेदोंके सामान्य ज्ञानसे ऊँचा होना ही चाहिये। दूसरी बात यह है कि जो बात वेदोंमें सूत्ररूपसे कही गयी है, वही पुराणोंमें विस्तारसे वर्णित है। उदाहरणके लिये परम तत्त्वके निर्गुण-निराकार रूपका तो वेदों (उपनिषदों) में विशद वर्णन मिलता है, परन्तु सगुण-साकार तत्त्वका बहुत ही संक्षेपमें कहीं-कहीं वर्णन मिलता है। ऐसी दशामें जहाँ पुराणोंके विशिष्ट ज्ञाताको सगुण-निर्गुण दोनों तत्त्वोंका विशिष्ट ज्ञान होगा, वेदोंके सामान्य ज्ञाताको प्रायः निर्गुण-निराकारका ही सामान्य ज्ञान होगा। इस प्रकार उपर्युक्त श्लोककी संगति भलीभाँति

बैठ जाती है और पुराणोंकी जो महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है, वह अच्छी तरह समझमें आ जाती है। अस्तु,

पुराणोंमें पद्मपुराणका स्थान भी बहुत ऊँचा है। इसे श्रीभगवान्‌के पुराणरूप विग्रहका हृदयस्थानीय माना गया है— 'हृदयं पद्मसंज्ञकम् (पद्म० स्वर्ग० ६२ । २)। वैष्णवोंका तो यह सर्वस्व ही है। इसमें भगवान् विष्णुका माहात्म्य विशेषरूपसे वर्णित होनेके कारण ही यह वैष्णवोंको अधिक प्रिय है। परन्तु पद्मपुराणके अनुसार सर्वोपरि देवता भगवान् विष्णु होनेपर भी उनका ब्रह्माजी तथा भगवान् शङ्करके साथ अभेद प्रतिपादित हुआ है। उसके अनुसार स्वयं भगवान् विष्णु ही ब्रह्मा होकर संसारकी सृष्टिमें प्रवृत्त होते हैं तथा जबतक कल्पकी स्थिति बनी रहती है, तबतक वे भगवान् विष्णु ही युग-युगमें अवतार धारण करके समूची सृष्टिकी रक्षा करते हैं। पुनः कल्पका अन्त होनेपर वे ही अपना तमोलीलात्मक रुद्ररूप प्रकट करते हैं और अत्यन्त भयानक आकार धारण करके सम्पूर्ण प्राणियोंका संहार करते हैं। इस प्रकार सब भूतोंका नाश करके संसारको एकार्णवके जलमें निमग्नकर वे सर्वरूपधारी भगवान् स्वयं शेषनागकी शय्यापर शयन करते हैं। पुनः जागनेपर महासर्गके आदिमें ब्रह्माका रूप धारण करके वे जीवोंके पूर्वकर्मानुसार फिर नये सिरेसे संसारकी सृष्टि करने लगते हैं। इस तरह एक ही भगवान् जनार्दन सृष्टि, पालन और संहार करनेके कारण ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव नाम धारण करते हैं।* पद्मपुराणमें तो भगवान्

---

* सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥
(पद्म० सृष्टि० २ । ११४)

श्रीकृष्णके यहाँतक वचन हैं—'सूर्य, शिव, गणेश, विष्णु और शक्तिके उपासक सभी मुझको ही प्राप्त होते हैं। जैसे वर्षाका जल सब ओरसे समुद्रमें ही जाता है, वैसे ही इन पाँचों रूपोंके उपासक मेरे ही पास आते हैं। वस्तुतः मैं एक ही हूँ। लीलाके अनुसार विभिन्न नाम धारणकर पाँच रूपोंमें प्रकट हूँ। जैसे एक ही देवदत्त-नामक व्यक्ति पुत्र-पिता आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है, वैसे ही लोग मुझको भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं।'* ऐसी ही बातें अन्यान्य पुराणोंमें भी पायी जाती हैं। वैष्णवपुराणोंमें शिव और ब्रह्माको विष्णुसे तथा शैवपुराणोंमें भगवान् विष्णु एवं ब्रह्माको शङ्करसे अभिन्न माना गया है। अतएव जो लोग पुराणोंमें साम्प्रदायिकताकी गन्ध पाते हैं, वे वास्तवमें भूल करते हैं—यही प्रमाणित होता है।

पद्मपुराणमें भगवान् विष्णुके माहात्म्यके साथ-साथ भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्णके अवतार-चरित्रों तथा उनके परात्पर रूपका भी विशद-रूपसे वर्णन हुआ है। पातालखण्डमें भगवान् श्रीरामके अश्वमेध यज्ञकी कथाका तो बहुत ही विस्तृत और अद्भुत वर्णन है। इतना ही नहीं, उसमें श्रीधाम श्रीअयोध्या और श्रीवृन्दावनका माहात्म्य, श्रीराधा-कृष्ण एवं उनके पार्षदोंका वर्णन, वैष्णवोंकी द्वादशशुद्धि,

---

* सौराश्च शैवा गाणेशा वैष्णवा शक्तिपूजकाः।
मामेव प्राप्नुवन्तीह वर्षापः सागरं यथा॥
एकोऽहं पञ्चधा जातः क्रीडया नामभिः किल।
देवदत्तो यथा कश्चित् पुत्राद्याह्वाननामभिः॥

(पद्म० उत्तर० ९०। ६३-६४)

पाँच प्रकारकी पूजा, शालग्रामके स्वरूप और महिमाका वर्णन, तिलककी विधि, भगवत्सेवा-अपराध और उनसे छूटनेके उपाय, तुलसी-वृक्ष तथा भगवन्नाम-कीर्तनकी महिमा, भगवान्‌के चरण-चिह्नोंका परिचय तथा प्रत्येक मासमें भगवान्‌की विशेष आराधनाका वर्णन, मन्त्रचिन्तामणिका उपदेश तथा उसके ध्यान आदिका वर्णन, दीक्षा-विधि, निर्गुण एवं सगुण-ध्यानका वर्णन, भगवद्भक्तिके लक्षण, वैशाख-मासमें माधव-पूजनकी महिमा, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़में जलस्थ श्रीहरिके पूजनका माहात्म्य, अश्वत्थकी महिमा, भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान, पवित्रारोपणकी विधि, महिमा तथा भिन्न-भिन्न मासोंमें श्रीहरिकी पूजामें काम आनेवाले विविध पुष्पोंका वर्णन, बदरिकाश्रम तथा नारायणकी महिमा, गङ्गाकी महिमा, त्रिरात्र तुलसी-व्रतकी विधि और महिमा, गोपीचन्दनके तिलककी महिमा, जन्माष्टमी-व्रतकी महिमा, सभी महीनोंकी एकादशियोंके नाम तथा माहात्म्य, एकादशीकी विधि, उत्पत्ति-कथा और महिमाका वर्णन, भगवद्भक्तिकी श्रेष्ठता, वैष्णवोंके लक्षण और महिमा, भगवान् विष्णुके दसों अवतारोंकी कथा, श्रीनृसिंहचतुर्दशीके व्रतकी महिमा, श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहों अध्यायोंका अलग-अलग माहात्म्य, श्रीमद्भागवतका माहात्म्य तथा श्रीमद्भागवतके सप्ताह-पारायणकी विधि, नीलाचलनिवासी भगवान् पुरुषोत्तमकी महिमा आदि-आदि, ऐसे अनेकों विषयोंका समावेश हुआ है, जो वैष्णवोंके लिये बड़े ही महत्त्वके हैं। इसीलिये वैष्णवोंमें पद्मपुराणका विशेष समादर है।

इनके अतिरिक्त सृष्टि-क्रमका वर्णन, युग आदिका काल-मान, ब्रह्माजीके द्वारा रचे हुए विविध सर्गोंका वर्णन, मरीचि आदि प्रजापति, रुद्र तथा स्वायम्भुव मनु आदिकी उत्पत्ति और उनकी सन्तान-

परम्पराका वर्णन, देवता, दानव, गन्धर्व, नाग और राक्षसोंकी उत्पत्तिका वर्णन, मरुद्गणोंकी उत्पत्ति तथा चौदह मन्वन्तरोंका वर्णन, पृथुके चरित्र तथा सूर्यवंशका वर्णन, पितरों तथा श्राद्धके विभिन्न अङ्गोंका वर्णन, श्राद्धोपयोगी तीर्थोंका वर्णन, विविध श्राद्धोंकी विधि, चन्द्रमाकी उत्पत्ति, पुष्कर आदि विविध तीर्थोंकी महिमा तथा उन तीर्थोंमें वास करनेवालोंके द्वारा पालनीय नियम, आश्रम-धर्मका निरूपण, अन्नदान एवं दम आदि धर्मोंकी प्रशंसा, नाना प्रकारके व्रत, स्नान और तर्पणकी विधि, तालाबोंकी प्रतिष्ठा, वृक्षारोपणकी विधि, सत्संगकी महिमा, उत्तम ब्राह्मण तथा गायत्री-मन्त्रकी महिमा, अधम ब्राह्मणोंका वर्णन, ब्राह्मणोंके जीविकोपयोगी कर्म और उनका महत्त्व तथा गौओंकी महिमा और गो-दानका फल, द्विजोचित आचार तथा शिष्टाचारका वर्णन, पितृ-भक्ति, पातिव्रत्य, समता, अद्रोह और विष्णुभक्तिरूप पाँच महायज्ञोंके विषयमें पाँच आख्यान, पतिव्रताकी महिमा और कन्यादानका फल, सत्य-भाषणकी महिमा, पोखरे खुदाने, वृक्ष लगाने, पीपलकी पूजा करने, पौंसले चलाने, गोचर-भूमि छोड़ने, देवालय बनवाने और देवताओंकी पूजा करनेका माहात्म्य, रुद्राक्षकी उत्पत्ति और महिमा, श्रीगङ्गाजीकी उत्पत्ति, गणेशजीकी महिमा और उनकी स्तुति एवं पूजाका फल, मनुष्य-योनिमें उत्पन्न हुए दैत्य एवं देवताओंके लक्षण, भगवान् सूर्यका तथा संक्रान्तिमें दानका माहात्म्य, भगवान् सूर्यकी उपासना और उसका फल, विविध प्रकारके पुत्रोंका वर्णन, ब्रह्मचर्य, साङ्गोपाङ्ग धर्म तथा धर्मात्मा एवं पापियोंकी मृत्युका वर्णन, नैमित्तिक तथा आभ्युदयिक दानोंका वर्णन, देहकी उत्पत्ति, उसकी अपवित्रता, जन्म-मरण और जीवनके

कष्ट तथा संसारकी दु:खरूपताका वर्णन, पापों और पुण्योंके फलोंका वर्णन, नरक और स्वर्गमें जानेवाले पुरुषोंका वर्णन, ब्रह्मचारीके पालन करने योग्य नियम, ब्रह्मचारी शिष्यके धर्म, स्नातक एवं गृहस्थके धर्मोंका वर्णन, गृहस्थधर्ममें भक्ष्याभक्ष्यका विचार तथा दान-धर्मका वर्णन, वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रमके धर्मोंका वर्णन, संन्यासीके नियम, स्त्री-सङ्गकी निन्दा, भजनकी महिमा, ब्राह्मण, पुराण और गङ्गाकी महत्ता, जन्मादिके दु:ख तथा हरिभजनकी आवश्यकता, तीर्थ-यात्राकी विधि, माघ, वैशाख तथा कार्तिक मासोंका माहात्म्य, यमराजकी आराधना, गृहस्थाश्रमकी प्रशंसा, दीपावलीकृत्य, गोवर्धन-पूजा तथा यम-द्वितीयाके दिन करने योग्य कृत्योंका वर्णन, वैराग्यसे भगवद्भजनमें प्रवृत्ति आदि-आदि अनेकों सर्वोपयोगी तथा सबके लिये ज्ञातव्य एवं धारण करने योग्य विषयोंका वर्णन हुआ है, जिनके कारण पद्मपुराण आस्तिक हिंदूमात्रके लिये परम आदरकी वस्तु है।
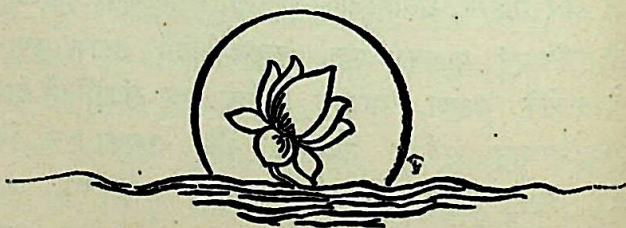
मार्कण्डेयपुराणपर एक विहङ्गम-दृष्टि

पुराणोंका महत्त्व एवं मार्कण्डेयपुराणकी परम्परा

मार्कण्डेयपुराणमें महामुनि मार्कण्डेयका ब्राह्मणकुमार क्रौष्टुकिके साथ संवाद है, इसीलिये इस पुराणको मार्कण्डेयपुराण कहते हैं। पुराणोंसे ही इस बातका पता चलता है कि उनमें वेदोंका ही विस्तार होनेसे उनका महत्त्व जो है, सो तो है ही; उनका स्वतन्त्र प्रामाण्य भी है। क्योंकि वेदोंके समान पुराण भी अनादि हैं; उनका कोई रचयिता नहीं है, ब्रह्माजीके प्रकट होनेके साथ ही वेदोंकी भाँति वे भी उनके मुखोंसे प्रकट होते हैं। इस प्रकार जगत्पिता ब्रह्माजी भी उनके रचयिता नहीं, प्रकट करनेवाले, आविष्कार ही हैं। श्रीकृष्णद्वैपायनादि महर्षि तो समय-समयपर वेदोंके विभागके साथ-साथ पुराणोंका संकलन, संग्रह अथवा सम्पादनमात्र करते हैं। कहते हैं कि इस पुराणको पहले-पहल ब्रह्माजीके मनसे उत्पन्न हुए भृगु आदि महर्षियोंने अपनाया। भृगुसे उनके पुत्र च्यवनने और च्यवनसे उसे ब्रह्मर्षियोंने प्राप्त किया। फिर उन्होंने दक्षको उपदेश

दिया और दक्षने इसे मार्कण्डेयजीको सुनाया । उसी पुराणको मार्कण्डेयजीने क्रौष्टुकिसे कहा और इस प्रकार इसका नाम मार्कण्डेय-जीके साथ सम्बद्ध हो गया ।

चार ज्ञानी पक्षियोंकी कथा

इसके पूर्व इस पुराणमें व्यासजीके शिष्य प्रसिद्ध मीमांसाकार महातेजस्वी जैमिनिका चार पक्षियोंके साथ महाभारतके कुछ प्रधान विषयोंपर प्रश्नोत्तर है । ये चारों पक्षी तत्त्वज्ञानी ही नहीं, शास्त्रोंके भी मर्मज्ञ थे—ब्रह्मनिष्ठ होनेके साथ-साथ शब्दब्रह्ममें भी निष्णात थे । ये पूर्वजन्मके ऋषि थे और शापके कारण पक्षि-योनिको प्राप्त हुए थे । इनका जन्म भी विचित्र परिस्थितिमें हुआ था । महाभारत-युद्धका समय था । इन पक्षियोंकी माता दैववश युद्धक्षेत्रमें जा पहुँची । उस समय अर्जुन और भगदत्तमें युद्ध छिड़ा हुआ था। संयोगवश अर्जुनका एक बाण उस पक्षिणीको लगा, जिससे उसका पेट फट गया और उसमेंसे चार अंडे पृथ्वीपर गिरे । उनकी आयु शेष थी, अतः वे फूटे नहीं । बल्कि पृथ्वीपर ऐसे गिरे, मानो रूईके ढेरपर पड़े हों । उन अंडोंके गिरते ही भगदत्तके हाथीकी पीठसे एक बहुत बड़ा घंटा भी टूटकर गिरा, जिसका बन्धन बाणोंके आघातसे कट गया था । यद्यपि वह अंडोंके साथ ही गिरा था, तथापि उन्हें चारों ओरसे ढकता हुआ गिरा और धरतीमें थोड़ा-थोड़ा धँस भी गया । इस प्रकार उन अंडोंकी बड़े विचित्र ढंगसे रक्षा हो गयी । शास्त्रोंमें ठीक ही कहा है—'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।' दैव—भगवान्की अलौकिक शक्ति जिसकी रक्षामें नियुक्त है, उसका भला क्या बिगड़ सकता

है। और जिसकी आयु शेष हो चुकी है, उसकी कितनी ही रक्षा की जाय—वह बच नहीं सकता। अस्तु;

युद्ध समाप्त हो गया। अंडे घंटेके भीतर ही पृथ्वीका और सूर्यका ताप पाकर पक गये और उनमेंसे पक्षिशावक निकल आये। इधर दैवकी प्रेरणासे एक ऋषि उधर जा निकले। उन्होंने घंटेमेंसे बच्चोंकी आवाज सुनकर कौतूहलवश घंटेको उखाड़ लिया और उन बच्चोंको अपने आश्रममें ले जाकर एक सुरक्षित स्थानमें रखवा दिया। उन्होंने अपने शिष्योंसे कहा कि 'ये कोई सामान्य पक्षी नहीं हैं। संसारमें दैवका अनुकूल होना महान् सौभाग्यका सूचक होता है।'

उन्होंने यह भी कहा कि 'यद्यपि किसीकी रक्षाके लिये अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है—क्योंकि सभी जीव अपने कर्मोंसे ही मारे जाते हैं और कर्मोंसे ही उनकी रक्षा होती है—फिर भी मनुष्यको शुभ कार्यके लिये यत्न अवश्य करना चाहिये; क्योंकि पुरुषार्थ करनेवाला (असफल होनेपर भी) निन्दाका पात्र नहीं होता।' इस प्रकार उन पक्षियोंके जन्म-वृत्तान्तसे बड़ी सुन्दर शिक्षा मिलती है।

पक्षियोंके पूर्वजन्मका वृत्तान्त तथा शरणागतवत्सलताका अपूर्व उदाहरण

पक्षी जब कुछ बड़े हुए, तब वे सहसा मनुष्योंकी भाँति बोलने लगे। उन्होंने अपने पालक ऋषिको अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाया और अपने पक्षियोनिमें आनेका कारण भी बताया। उन्हें अपने पूर्वजन्मकी बातें भलीभाँति याद थीं। उन्होंने कहा कि वे पूर्वजन्ममें ऋषिकुमार थे। उनके पिता बड़े भारी तपस्वी, उदारचेता

और इन्द्रियजयी थे । एक दिनकी बात है—देवराज इन्द्र उनकी परीक्षाके लिये एक विशालकाय वृद्ध पक्षीका रूप धारणकर उनके पास आये और बोले—'मुझे बड़ी भूख लगी है ।' शरणागतवत्सल मुनिके पूछनेपर कि उसके लिये कैसे आहारकी व्यवस्था की जाय, पक्षीने बताया कि मुझे मनुष्यका मांस विशेष प्रिय है । ऋषि वचनबद्ध थे, इसलिये उन्होंने अपने वचनका पालन करनेके लिये उसी समय अपने चारों पुत्रोंको बुलाया और उन्हें आज्ञा दी कि वे अपने शरीरके मांससे पक्षीकी क्षुधाको शान्त करें । ऋषिकुमार पिताकी इस कठोर आज्ञाका पालन करनेके लिये तैयार नहीं हुए । इसपर पिताने उन्हें पक्षी होनेका शाप दिया और स्वयं अपनी अन्त्येष्टि क्रिया करके उस पक्षीका आहार बननेके लिये तैयार हो गये । उन्होंने उस समय पक्षीसे जो वचन कहे, वे सबके लिये हृदयमें धारण करने योग्य हैं । उन्होंने कहा—'ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व इसीमें है कि वह अपने वचनका पूर्णरूपसे पालन करे । दक्षिणायुक्त यज्ञों तथा अन्य कर्मोंके अनुष्ठानसे भी ब्राह्मणोंको वह पुण्य नहीं प्राप्त होता, जो सत्यकी रक्षासे होता है ।' तब इन्द्र अपने रूपमें प्रकट होकर बोले कि 'मैंने आपकी परीक्षाके लिये पक्षीका रूप धारण किया था, इसके लिये मुझे क्षमा करें ।' अतिथिवत्सलता और सत्यकी रक्षाके समान और कोई महान् तप नहीं है । सत्यकी रक्षाके लिये ऋषिने अपने प्राणोपम पुत्रोंकी भी परवा नहीं की और अपना शरीर भी अतिथिके अर्पण कर दिया । धन्य त्याग ! आज यह त्यागकी भावना हमारे देशसे उठती जा रही है, इसीलिये हमारी यह दुर्दशा हो रही है । जबसे हमें धर्मकी अपेक्षा प्राण अधिक प्यारे लगने

लगे, तभीसे हमारा पतन प्रारम्भ हो गया। अस्तु, इस प्रकार यद्यपि पिताके शापसे वे ऋषिकुमार पक्षी हो गये, फिर भी पिताकी कृपासे उन्हें ज्ञान बना रहा और अन्तमें उस ज्ञानके बलसे उन्होंने परम सिद्धि प्राप्त की।

भोगोंके बाहुल्यसे पापमें प्रवृत्ति और पापाचारसे हानि

महामुनि जैमिनिने उन महाज्ञानी पक्षियोंसे जो प्रश्न किये, उनमें एक प्रश्न यह था कि 'सती-शिरोमणि द्रौपदी पाँच भाइयोंकी पत्नी कैसे हुई?' इस प्रकारकी शङ्का आजकल भी महारानी द्रौपदीके सम्बन्धमें की जाती है। पक्षियोंने इसका बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। उन्होंने बताया कि प्राचीन कालकी बात है, देवराज इन्द्रने त्वष्टा प्रजापतिके पुत्र विश्वरूपको मार डाला। इस अन्यायके कारण इन्द्रका तेज धर्मराजके शरीरमें प्रवेश कर गया। दूसरी बार उन्होंने विश्वरूपके भाई वृत्रका वध किया और इस ब्रह्महत्याके फलस्वरूप उनका सारा बल नष्ट होकर वायुदेवतामें समा गया। तीसरी बार जब इन्द्रने महर्षि गौतमका रूप धारण करके उनकी धर्मपत्नी अहल्याका सतीत्व नष्ट किया, उस समय उनका रूप भी नष्ट हो गया। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गका लावण्य, जो बड़ा ही मनोरम था, व्यभिचार-दोषसे दूषित देवराज इन्द्रको छोड़कर दोनों अश्विनीकुमारोंके पास चला गया। इस प्रकार इन्द्र अपने धर्म, तेज, बल और रूपसे हाथ धो बैठे। इस आख्यानसे हमें दो शिक्षाएँ मिलती हैं—एक तो यह कि भोगोंका बाहुल्य होनेपर देवताओंकी बुद्धि भी मारी जाती है

वास्तवमें अर्थ ही अनर्थकी जड़ है। शास्त्रोंने ठीक ही कहा है—

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

'जवानी, धन, प्रभुता और अविवेक—इनमेंसे एक-एक भी अनर्थका मूल है । फिर जहाँ इन चारोंकी चण्डालचौकड़ी एकत्र हो जाय, वहाँ तो फिर कहना ही क्या ।'

दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि परस्त्रीगमनरूप व्यभिचारसे पुरुष धर्म, तेज, बल और रूप चारों गँवा बैठता है, चाहे वह इन्द्र ही क्यों न हो । अतः जो इन चारोंको बनाये रखना चाहता है, उसे परस्त्रीगमनरूप पापसे सदा बचते रहना चाहिये । अस्तु,

द्रौपदीके पाँच पति वस्तुतः एक ही व्यक्ति थे

इन्द्रको धर्म, तेज, बल और रूपसे हीन देख दैत्योंने उन्हें जीतनेका उद्योग आरम्भ किया । उन दिनों पृथ्वीपर जो अधिक पराक्रमी राजा थे, उन्हींके कुलमें देवराजको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले अत्यन्त बलशाली दैत्य उत्पन्न हुए । देखते-देखते पृथ्वी उनके भारसे आक्रान्त हो गयी और देवताओंके पास जाकर उसने उन्हें अपनी दुःखगाथा सुनायी । उसकी प्रार्थनापर सम्पूर्ण देवता अपने-अपने तेजके अंशसे पृथ्वीपर अवतार लेने लगे । इन्द्रके शरीरसे जो तेज प्राप्त हुआ था, उसे स्वयं धर्मराजने कुन्तीदेवीके गर्भमें स्थापित किया । उसीसे महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरका जन्म हुआ । फिर वायुदेवताने इन्द्रके ही बलको कुन्तीके उदरमें स्थापित किया । उससे भीम उत्पन्न हुए । इन्द्रके आधे अंशसे अर्जुनका जन्म हुआ । इसी प्रकार इन्द्रका ही सुन्दर रूप अश्विनीकुमारोंद्वारा माद्रीके गर्भमें

स्थापित किया गया था, जिससे अत्यन्त कान्तिमान् नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए। इस प्रकार देवराज इन्द्र ही पाँच रूपोंमें अवतीर्ण हुए थे और उनकी पत्नी शचीदेवी ही महाभागा कृष्णा (द्रौपदी) के रूपमें होमकी अग्निसे प्रकट हुई थीं। अतः कृष्णा एकमात्र इन्द्रकी ही पत्नी थी, अन्य किसीकी नहीं। योगीश्वर भी योगबलसे एक ही कालमें अनेक शरीर धारण कर लेते हैं। फिर इन्द्र तो देवता थे, उनके पाँच शरीर धारण करनेमें कौन आश्चर्य है ? द्रौपदीके पाँच पति होनेपर भी वह पतिव्रताओंमें अग्रगण्य कहलायी, इसका यही रहस्य है। शास्त्रोंका तात्पर्य भलीभाँति न जाननेके कारण ही हमारे इतिहासके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी शङ्काएँ उठायी जाती हैं।

महाराज हरिश्चन्द्रका सत्य-पालनके लिये कष्ट भोगना

इसके अनन्तर इक्ष्वाकुवंशी महाराज हरिश्चन्द्रका प्रसिद्ध आख्यान है। महाराज हरिश्चन्द्र बड़े धर्मात्मा थे। उनके राज्यकालमें कभी अकाल नहीं पड़ा, किसीको रोग नहीं हुआ, कोई भी अकालमृत्युसे नहीं मरा और पुरवासियोंकी कभी अधर्ममें रुचि नहीं हुई। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'यथा राजा तथा प्रजा।' बातों-ही-बातोंमें राजाने महर्षि विश्वामित्रको अपनी स्त्री, पुत्र, धर्म और शरीरको छोड़कर बाकी सब कुछ दे दिया; और जिस समय उन्होंने यह महान् दान दिया, उस समय उनके मुखपर विषाद अथवा चिन्ताका कोई चिह्न न था। धन्य उदारता ! यही नहीं, ऋषिकी आज्ञासे उन्होंने राजोचित वेषका भी परित्याग कर दिया और वे वल्कल-वस्त्र धारणकर अपनी पत्नी और कुमारके साथ राजधानीसे चल दिये। ऋषिने इसपर

भी उनका पिण्ड नहीं छोड़ा । उन्होंने राजासे राजसूय-यज्ञकी दक्षिणा माँगी और राजाने एक महीने बाद उसे देनेका वचन दिया । राजाको इस प्रकार अपनी रानी और सुकुमार बच्चेके साथ पैदल जाते देख उनकी समस्त प्रजा व्याकुल हो उठी । उनके आश्वासनके लिये राजा थोड़ी देर रुक गये । इसपर विश्वामित्रको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने राजाको बहुत बुरा-भला कहा । परन्तु धर्मभीरु राजा धैर्यपूर्वक सब कुछ सहते रहे, उन्होंने चूँतक नहीं की ।

हरिश्चन्द्रका स्त्री-पुत्रसहित अपनेको बेच देना

राजा घूमते-घूमते काशी पहुँचे । उन्होंने सोचा—'काशी भगवान् विश्वनाथकी पुरी है, इसपर किसी मनुष्यका अधिकार नहीं हो सकता । इस प्रकार यह नगरी अवश्य मेरे राज्यकी सीमासे बाहर है, अतः यहाँ रहनेमें मेरे लिये कोई आपत्तिकी बात नहीं हो सकती। यह सोचकर ज्यों ही उन्होंने नगरमें प्रवेश किया, त्यों ही उन्हें विश्वामित्र दिखायी दिये । दक्षिणाके लिये उनका बेहद तकाजा देखकर राजाने निरुपाय हो अपनेको बेचनेका निश्चय किया । किन्तु रानीका बहुत अधिक आग्रह देख पहले उन्होंने रानीको ही एक ब्राह्मणके हाथ बेच दिया । परन्तु बालक रोहिताश्व किसी प्रकार भी अपनी माताको छोड़ नहीं रहा था; इसपर रानीने बिलखकर ब्राह्मणसे उस बालकको भी खरीद लेनेके लिये प्रार्थना की और वे दोनों उसके साथ हो लिये । राजाने हृदयको कठोर बनाकर उस ब्राह्मणसे अपनी प्यारी पत्नी और प्राणोपम पुत्रका मूल्य ग्रहण किया और उसे ऋषिके हवाले किया । किन्तु ऋषिको उतने द्रव्यसे सन्तोष क्यों होने लगा । वे तो हरिश्चन्द्रको कष्टोंकी आगमें तपाकर

खरा सोना बनाना चाहते थे। आखिर राजाने स्वयं भी चाण्डाल बने हुए धर्मकी दासता स्वीकार की और इस प्रकार विश्वामित्रके ऋणसे मुक्ति पायी। चाण्डाल उन्हें बाँधकर डंडोंकी मारसे अचेत-सा करता हुआ अपने घर ले गया और श्मशानभूमिपर मुर्दोंके कफन बटोरनेके काममें नियुक्त किया। एक दिन रोहिताश्वको साँप काट गया, जिससे उसकी तत्काल मृत्यु हो गयी। रानी उस मृत बालकको गोदमें लेकर उसी श्मशानपर आयी और रोने लगी। दोनों एक दूसरेको पहचान न सके। रोते-रोते अनायास रानीके मुँहसे अपने पतिका नाम निकल पड़ा। अब तो राजाने उसको तथा अपने पुत्रको भी पहचान लिया। और वे भी जोर-जोरसे रोने लगे। उन्हें इस प्रकार अपने पुत्रका नाम लेकर रोते देख रानी भी राजाको पहचान गयी और घोर विलाप करने लगी। अन्तमें राजाने अत्यन्त दुखी होकर अपने पुत्रकी चिताग्निमें प्रवेश करनेका निश्चय किया और रानी भी उनके साथ जलनेको प्रस्तुत हो गयी। इतनेमें ही इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता धर्मको अगुआ बनाकर वहाँ उपस्थित हुए और राजाको अग्निमें प्रवेश करनेसे रोक दिया। इसके बाद देवराज इन्द्रने चिताके ऊपर आकाशसे अमृतकी वर्षा की, जिससे रोहित तुरंत जी उठा और राजाने उसे अपनी छातीसे लगा लिया।

राजाका समस्त अयोध्यावासियोंके साथ स्वर्ग-गमन

देवताओंने जब राजासे दिव्यलोकोंमें चलनेके लिये प्रार्थना की, उस समय भी राजा धर्मको नहीं भूले। उन्होंने विनयपूर्वक कहा—'देवराज! मैं तो चाण्डालका क्रीत दास हूँ, स्वतन्त्र तो हूँ नहीं। फिर उनसे बिना आज्ञा लिये तथा उनके ऋणसे उऋण

हुए बिना मैं कैसे जा सकता हूँ ।' उन्होंने यह भी कहा कि 'अयोध्यावासी सब-के-सब मेरे विरहमें संतप्त हैं, उन्हें छोड़कर मैं दिव्यलोकोंमें कैसे जा सकता हूँ । हाँ, यदि वे लोग भी मेरे साथ चल सकें, तब तो मैं भी चल सकता हूँ, अन्यथा नहीं । देवेश ! यदि मैंने कुछ भी पुण्य किया हो तो उसका फल मुझे उन सबके साथ ही मिले, उसमें उनका समान अधिकार हो ।' धन्य प्रजावत्सलता ! बस, फिर क्या था । देखते-देखते देवराज इन्द्रने स्वर्गसे भूलोकतक करोड़ों विमानोंका ताँता बाँध दिया । महर्षि विश्वामित्र भी वहाँ आ गये थे । उन्होंने कुमार रोहितको अयोध्यापुरीमें ले जाकर राजसिंहासनपर अभिषिक्त किया और सब लोग उन्हें पिताके स्थान-पर देख बड़े प्रसन्न हुए । तदनन्तर सारे-के-सारे अयोध्यावासी अपने पुत्र, भृत्य एवं स्त्रियोंके सहित विमानोंपर आरूढ़ हो स्वर्गको चले गये । धन्य नरेश ! राजा हो तो ऐसा ही हो ।

राजा जनक और यमदूतका संवाद

इसके बाद पक्षी जैमिनिको एक पिता-पुत्रका संवाद सुनाते हैं, जिसमें पुत्र अपने पिताके सामने पहले मृत्युके कष्टोंका वर्णन करता है । इसके अनन्तर यमलोकके मार्गका वर्णन करता हुआ जीवके जन्मका वृत्तान्त सुनाता है और फिर नानाविध नरकोंका वर्णन करता है । इसके अनन्तर इसी संवादके अन्तर्गत राजा जनक और यमदूतका संवाद है, जिसमें राजाके पूछनेपर यमदूत उन्हें भिन्न-भिन्न नरकोंकी प्राप्तिका कारण बतलाता है और फिर यह भी बतलाता है कि किस पापके फलस्वरूप कौन-सी योनि प्राप्त होती है । इस प्रसङ्गका इतिहास भी मनन करने योग्य है । प्रसिद्ध जनकवंशमें

विपश्चित् नामके एक राजा हो गये हैं। उन्हें केवल एक बार ऋतुमती भार्याको ऋतुदान न देनेके अपराधमें भयंकर नरक देखना पड़ा था। इस एक पापके सिवा उनसे जीवनमें कोई भी पाप नहीं बना था। अतः कुछ ही क्षणोंके लिये उन्हें नरकका दृश्य दिखाकर यमदूत उन्हें पुण्यलोकोंमें ले जाने लगे। ज्यों ही वे वहाँसे जानेको उद्यत हुए, त्यों ही उस नरकके प्राणी एक साथ चिल्ला उठे—'महाराज! कृपा करके दो घड़ी और ठहरिये। आपके शरीरको छूकर बहनेवाली हवा हमलोगोंको सुख पहुँचाती है और हमारे शरीरके संताप और वेदनाको हर लेती है।' यमदूतने राजाको बताया कि 'आपका शरीर देवताओं, पितरों, अतिथियों और भृत्यजनोंसे बचे हुए अन्नके सेवनसे पुष्ट हुआ है तथा आपका मन भी उन्हीं सबकी सेवामें संलग्न रहा है; इसीलिये आपके शरीरका स्पर्श करके बहनेवाली वायु नारकी जीवोंको सुख प्रदान करती है और उसके लगनेसे उन्हें नरककी यातना उतनी कष्टदायक नहीं प्रतीत होती।

विपश्चित्का अपूर्व त्याग

राजाने कहा, 'भाई! मेरा तो ऐसा विचार है कि पीड़ित प्राणियोंको दुःखसे मुक्त करके उन्हें शान्ति प्रदान करनेसे जो सुख मिलता है, वह मनुष्योंको स्वर्गलोक अथवा ब्रह्मलोकमें भी नहीं प्राप्त होता। यदि मेरे समीप रहनेसे इन दुखी जीवोंको नरक-यातना कष्ट नहीं पहुँचाती तो मैं सूखे काठकी तरह अचल होकर यहीं रहूँगा। जो शरणमें आनेकी इच्छा रखनेवाले आतुर एवं पीड़ित मनुष्यपर, भले ही वह शत्रुपक्षका ही क्यों न हो, कृपा नहीं करता, उसके जीवनको धिक्कार है। जिसका मन संकटमें पड़े

हुए प्राणियोंकी रक्षा करनेमें नहीं लगता, उसके यज्ञ, दान और तप इस लोक और परलोकमें भी कल्याणके साधक नहीं होते। जिसका हृदय बालक, वृद्ध एवं आतुर प्राणियोंके प्रति कठोरता धारण करता है, मैं उसे मनुष्य नहीं मानता; वह तो निरा राक्षस है।' उसी समय राजा विपश्चित्के महान् पुण्यके प्रभावसे वहाँके सभी प्राणी नरक-यातनासे छूटकर अपने-अपने कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न उत्तम योनियोंमें चले गये और राजाको स्वयं भगवान् विष्णु विमानमें बिठाकर अपने दिव्यधाममें ले गये। इस आख्यानसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि त्यागसे पुण्य अनन्तगुना बढ़ जाता है और दुखी जीवोंपर दया करनेसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है।

पातिव्रत्यकी अलौकिक महिमा

इसके अनन्तर एक पतिव्रता ब्राह्मणीका चरित्र है, जो अपने कोढ़ी एवं क्रोधी पतिको देवताके तुल्य मानकर पूजती और उसकी सब प्रकारसे सेवा करती थी। एक बार वह पतिपरायणा देवी पतिकी आज्ञासे उन्हें कंधेपर चढ़ाकर एक वेश्याके घर ले जा रही थी। रात्रिका समय था। मार्गमें एक सूली थी, जिसपर चोरीके संदेहपर एक निरपराध ब्राह्मणको चढ़ा दिया गया था। अँधेरेमें न दीखनेके कारण उस कोढ़ीने पैरोंसे छूकर सूलीको हिला दिया, जिससे ब्राह्मणको बड़ा कष्ट हुआ। उसने क्रोधमें भरकर शाप दिया कि जिसने सूलीको हिलाकर मुझे असीम कष्ट पहुँचाया है, उसे सूर्योदय होते ही प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा। इसपर उस पतिव्रताने अपने पातिव्रत्यके बलसे सूर्यका उदय ही रोक दिया। इससे जगत्में बड़ा हाहाकार मच गया।

स्नान, दान, अग्निहोत्र आदि सारी धार्मिक क्रियाएँ बंद हो गयीं। इसपर देवतालोग भयभीत होकर ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजीने उन्हें सती-शिरोमणि अत्रिपत्नी अनसूयाजीके पास भेजा और अनसूयाजी उन्हें आश्वासन देकर उस पतिव्रता ब्राह्मणीके पास गयीं। उन्होंने उसे समझाया कि 'देखो बहिन! सूर्योदय न होनेसे संसारका उच्छेद हो जायगा। इसलिये तुम देवताओंपर दया करके सूर्योदय होने दो, जिससे जगत्के सारे कार्य यथावत् होने लगें। रही तुम्हारे पतिकी बात, सो तुम विश्वास मानो—मैं उन्हें पुनर्जीवित कर नया एवं स्वस्थ शरीर प्रदान करूँगी।' ब्राह्मणीने अनसूयाजीकी बात मान ली और उसने सूर्योदयको रोकनेका संकल्प छोड़ दिया। फिर क्या था, पुनः सूर्योदय हुआ और सूर्योदय होते ही ब्राह्मणके प्राणपखेरू उड़ गये। देवी अनसूयाने उसी समय यह संकल्प किया कि ब्राह्मण रोगसे मुक्त हो फिरसे तरुण हो जाय और अपनी स्त्रीके साथ पुनः सौ वर्षोंतक जीवित रहे। बस, अनसूयाजीके इस प्रकार संकल्प करते ही ब्राह्मण रोगमुक्त तरुण शरीरसे युक्त होकर पुनः जी उठा। देवतालोग सती-शिरोमणि अनसूयाजीकी जय-जयकार करने लगे और उनसे वर माँगनेको कहा। अनसूयाने यही वर माँगा कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीनों महान् देवता उनके पुत्ररूपमें प्रकट हों। देवतालोग 'तथास्तु' कहकर अपने-अपने स्थानको चले गये। इस कथासे पता चलता है कि पतिव्रता स्त्री अपने पातिव्रत्यके बलसे क्या नहीं कर सकती। इसी वरदानके फलस्वरूप ब्रह्माजीके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे भगवान् दत्तात्रेय और रुद्रके अंशसे महर्षि दुर्वासा—ये तीन पुत्र अनसूयाजीके हुए।

ऋतध्वज एवं मदालसाका चरित्र

इसके बाद भगवान् दत्तात्रेयके महान् प्रभावका वर्णन करते हुए अलर्कोपाख्यानकी अवतारणा की गयी है। इसी प्रसङ्गमें राजकुमार ऋतध्वज तथा उनकी पतिपरायणा पत्नी मदालसाके पवित्र चरित्रका वर्णन किया गया है। राजकुमार ऋतध्वज बड़े पितृभक्त थे। उन्हें पिताने यह आज्ञा दे रक्खी थी कि वे ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये पृथ्वी-पर विचरते रहें और ऐसी चेष्टा करें कि जिससे दुराचारी दानव मुनियोंको कष्ट न पहुँचा सकें। पिताकी आज्ञा मानकर राजकुमार प्रतिदिन सारी पृथ्वीका चक्कर लगा आते थे। एक दिन जब वे बाहर गये हुए थे, उनके किसी शत्रुने उनके पिताको यह झूठा संवाद दे दिया कि राजकुमार तपस्वियोंकी रक्षा करते हुए किसी दुष्ट दैत्यके हाथों मारे गये। पतिप्राणा मदालसाने यह शोक-समाचार सुनते ही पति-वियोगमें तत्काल प्राण त्याग दिये। राजकुमार जब पृथ्वीकी परिक्रमा करके लौटे, तबतक मदालसाका दाह-संस्कार भी हो चुका था। उन्हें अपनी पत्नीकी मृत्युका समाचार सुनकर बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने उसी समयसे स्त्री-सम्भोगका त्याग कर दिया। धन्य है! पतिव्रता हो तो ऐसी, जो पतिके बिना क्षणभर भी शरीर-को न रख सके और पति भी हो तो ऐसा, जो अपनी सहधर्मिणीके शरीरान्त हो जानेपर आजीवन स्त्री-सम्भोगसे दूर रहे। पातालनिवासी दो नागकुमार ऋतध्वजके परम मित्र थे। वे नागराज अश्वतरके पुत्र थे। नागराजको अपने पुत्रोंद्वारा जब ऋतध्वजकी मानसिक व्यथाका समाचार मिला, तब वे अपने पुत्रोंके मित्रके दुःखसे बड़े दुखी हुए। उन्होंने राजकुमारको मदालसाकी पुनः प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे

भगवान् शङ्करकी आराधना की। शङ्करने प्रसन्न होकर जब उन्हें वर माँगनेके लिये कहा, तब उन्होंने यही प्रार्थना की कि 'ऋतध्वजकी पत्नी मदालसा पहलेकी ही अवस्थामें मेरे यहाँ कन्यारूपमें जन्म ले, उसे पूर्व जन्मकी बातें याद रहें तथा पहले ही-जैसी उसकी कान्ति हो!' यही हुआ; नागराज जिस समय तर्पण कर रहे थे, उसी समय उनके मध्यम फणसे सुन्दरी मदालसा प्रकट हो गयी। उन्होंने उसे अन्तःपुरमें गुप्तरूपसे रख दिया और एक बार अपने मित्रोंके कहनेसे जब राजकुमार नागलोकमें उनके घर आये, तब नागराजने उस कन्याको राजकुमारके अर्पण कर दिया। ऋतध्वज अपनी खोयी पत्नीको पुनः पाकर बड़े प्रसन्न हुए और अपनी राजधानीको लौट आये। अपने अथवा अपने किसी सम्बन्धीके मित्रके हितसाधनमें मनुष्यको कैसा सचेष्ट होना चाहिये, इसकी हमें महानुभाव नागराजके पुनीत चरित्रसे शिक्षा मिलती है।

मदालसाके द्वारा पुत्रोंको अपूर्व शिक्षा

ऋतध्वजको मदालसाके गर्भसे कई पुत्र प्राप्त हुए। पहले तीन पुत्रोंको मदालसाने लोरी देते समय ही ऐसी ऊँची शिक्षा दी कि वे बाल्यकालमें ही ज्ञानसम्पन्न एवं ममताशून्य हो गये। धन्य है! माता हो तो ऐसी हो, जिसके गर्भमें आकर मनुष्यको फिर दूसरी माताका गर्भ न देखना पड़े। कहते हैं, संसारमें तीन ही माताएँ वास्तवमें माता कहलाने योग्य हुईं। पहली माता सुनीति थीं, जिन्होंने अपने पुत्र ध्रुवको भगवान्का मार्ग दिखाया। दूसरी माता सुमित्रा हुईं, जिन्होंने अपने पुत्र लक्ष्मणको भगवान्का अनुचर बनाकर उनकी सेवाके लिये सहर्ष वन भेज दिया। और तीसरी माता मदालसा

हुई, जिन्होंने लोरीमें ही अपने बालकोंको ब्रह्मज्ञान करा दिया। अस्तु, मदालसाके चौथे पुत्रका नाम अलर्क था, जिसे उसने राजनीति, धर्मनीति एवं अध्यात्मका बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया। इसके बाद अलर्कको भगवान् दत्तात्रेयने अध्यात्म एवं योगका जो दिव्य उपदेश दिया, उसका विस्तारसे वर्णन है। अलर्ककी उस उपदेशसे आँखें खुल गयीं। वे घर छोड़कर वनमें चले गये और वहाँ उन्होंने योगकी अनुपम सम्पत्तिके द्वारा श्रेष्ठ निर्वाण-पदको प्राप्त किया।

तपस्वी ब्राह्मणका आदर्श चरित्र

इसके अनन्तर मार्कण्डेय एवं ब्राह्मणकुमार क्रौष्टुकिका महत्त्वपूर्ण संवाद है, जिसमें विविध उपयोगी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रसङ्गमें चौदह मनुओंकी उत्पत्तिका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। द्वितीय मनु स्वारोचिषकी उत्पत्तिके प्रसङ्गमें एक ब्राह्मणका बड़ा ही सुन्दर चरित्र चित्रित किया गया है। उन ब्राह्मणकी भूमण्डलमें भ्रमण करनेकी बड़ी इच्छा थी। एक बार एक ब्राह्मण अतिथि उनके यहाँ आये। वे पृथ्वीपर खूब घूम चुके थे। उन्होंने बताया कि वे मन्त्र और ओषधियोंके प्रभावसे आधे दिनमें एक हजार योजन (चार हजार कोस) चल लेते थे। ब्राह्मणने उनके इस प्रभावको जानना चाहा। इसपर उस आगन्तुकने उन्हें पैरमें लगानेके लिये एक लेप दिया और वे जिस दिशाको जाना चाहते थे, उसे मन्त्रसे अभिमन्त्रित किया। उस लेपको पैरोंमें लगाकर ब्राह्मणदेवता हिमालय पर्वतकी सैर करने निकल पड़े। उन्होंने सोचा था कि आधे दिनमें एक हजार योजन चलकर शेष आधे दिनमें घर लौट आयेंगे। वे हिमालयकी चोटीपर पहुँच तो गये; परंतु बर्फपर चलनेसे उनके

पैरोंमें लगा हुआ दिव्य ओषधिका लेप धुल गया, जिसके कारण उनकी तीव्र गति कुण्ठित हो गयी। अब तो उन्हें चिन्ता हुई कि वे घर किस प्रकार पहुँचेंगे। चिन्ता उन्हें और किसी बातकी न होकर केवल इसी बातकी थी कि समयपर घर न पहुँच सकनेके कारण उनके अग्निहोत्र तथा नित्यकर्मकी हानि होगी। वास्तवमें देखा जाय तो धर्मकी हानि ही सबसे बड़ी हानि है, अर्थ आदिकी हानि तो कोई महत्त्वकी हानि नहीं है। अतः वे किसी शक्ति-सम्पन्न महापुरुषकी खोजमें घूम रहे थे, जो उन्हें मन्त्रबलसे शीघ्र घर पहुँचा सकें।

तपस्वीकी अनुपम धर्मनिष्ठा तथा काम-विजय

इतनेमें ही उनपर एक अत्यन्त सुन्दरी अप्सराकी दृष्टि पड़ी। ब्राह्मण बड़े रूपवान् थे। अप्सरा उनके मनोहर रूपपर आसक्त हो गयी और उनके समीप जाकर उसने अपना अभिप्राय प्रकट किया। ब्राह्मणको तो घर पहुँचनेकी जल्दी लगी हुई थी, उन्हें और कोई बात सुहाती ही न थी। वे अपने मनकी चञ्चलतापर खीझ रहे थे, जो उन्हें घरसे इतनी दूर उठा लायी थी। ज्यों-ज्यों ब्राह्मण उस सुन्दरीकी उपेक्षा करते थे, त्यों-ही-त्यों उसका उनपर अनुराग बढ़ता जाता था। आखिर ब्राह्मणने उसे बड़े जोरसे डाँटा और उससे अलग हो गये। उस समय उन्होंने जल्दी घर पहुँचनेका और कोई उपाय न देख गार्हपत्य अग्निका आवाहन किया और उनसे शीघ्र घर पहुँचा देनेके लिये प्रार्थना की। बस, उनके प्रार्थना करते ही गार्हपत्य अग्निने उनके शरीरमें प्रवेश किया। अग्निदेवके प्रवेश करनेपर वे ब्राह्मण तुरंत ही वहाँसे चल दिये और एक ही क्षणमें घर पहुँचकर

उन्होंने शास्त्रोक्त विधिसे सब कर्मोंका अनुष्ठान पूरा किया। इस प्रकार उनकी धर्मनिष्ठाने ही उनके धर्मको बचाया। निष्ठा हो तो ऐसी हो।

गृहस्थाश्रममें गृहिणीका महत्त्व

दूसरे मनु औत्तमके चरित्रकी अवतारणा करते हुए उनके पिता उत्तमके चरित्रका वर्णन किया गया है। ये उत्तम राजा उत्तानपादके दूसरे पुत्र और महाभागवत ध्रुवके छोटे भाई थे। शत्रु और मित्रमें तथा अपने और परायेमें उनका समान भाव था। वे दुष्टोंके लिये यमराजके समान भयंकर और साधु पुरुषोंके लिये चन्द्रमाके समान शीतल एवं आनन्ददायक थे। उनका अपनी पत्नीमें बड़ा प्रेम था। वे सदा रानीके इच्छानुसार चलते थे, परंतु रानी कभी उनके अनुकूल नहीं होती थी। एक बार अन्यान्य राजाओंके सामने रानीने उनकी आज्ञा माननेसे इनकार कर दिया। इससे उन्हें बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने द्वारपालसे कहकर रानीको निर्जन वनमें छुड़वा दिया। एक दिन एक ब्राह्मण उनके द्वारपर आया और पुकार करने लगा कि 'मेरी स्त्रीको रातमें कोई चुरा ले गया, अतः उसका पता लगाकर ला देनेकी कृपा करें।' राजाके पूछनेपर ब्राह्मणने यह भी बताया कि 'मेरी स्त्री बड़े ही क्रूर स्वभावकी और कुरूपा है तथा वह वाणी भी कटु बोलती है।' इसपर राजाने कहा—'ऐसी स्त्रीको लेकर क्या करोगे। मैं तुम्हें दूसरी भार्या ला देता हूँ।' इसपर ब्राह्मणने बताया कि 'पत्नीकी रक्षा करना पतिका धर्म है, उसकी रक्षा न करनेसे वर्णसंकरकी उत्पत्ति होती है, और वर्णसंकर अपने पितरोंको स्वर्गसे नीचे गिरा देता है।' उसने यह भी कहा कि 'पत्नी-

के न रहनेसे मेरे नित्यकर्मसे छूट रहे हैं; इससे प्रतिदिन धर्ममें बाधा आती है, जिससे मेरा पतन अवश्यम्भावी है ।'

पत्नीत्याग तथा नित्यकर्मके त्यागसे महान् हानि

ब्राह्मणके अधिक आग्रह करनेपर राजा उसकी स्त्रीकी खोजमें गये और इधर-उधर घूमने लगे । जाते-जाते एक वनमें उन्हें किसी तपस्वीका आश्रम दिखायी दिया । रथसे उतरकर वे आश्रममें गये । वहाँ उन्हें एक मुनिका दर्शन हुआ । मुनिने खड़े होकर राजाका स्वागत किया और शिष्यसे उनके लिये अर्घ्य ले आनेको कहा । शिष्यने धीरेसे पूछा—'महाराज ! क्या इन्हें अर्घ्य देना उचित होगा ? आप विचारकर जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही किया जायगा ।' तब मुनिने ध्यानद्वारा राजाके वृत्तान्तको जानकर केवल आसन दे बातचीतके द्वारा उनका सत्कार किया । राजाने मुनिसे इस व्यवहारका कारण जानना चाहा । इसपर मुनिने इन्हें बताया कि 'मेरा शिष्य भी मेरी ही भाँति त्रिकालज्ञ है, उसने आपका वृत्तान्त जानकर मुझे सावधान कर दिया । बात यह है कि आपने अपनी विवाहिता पत्नीका त्याग कर दिया है और इसके साथ ही आप अपना धर्म-कर्म भी छोड़ बैठे हैं । एक पखवाड़ेतक भी नित्यकर्म छोड़ देनेसे मनुष्य अस्पृश्य हो जाता है, आपने तो उसे एक वर्षसे छोड़ रक्खा है । नरेश्वर ! पतिका स्वभाव कैसा ही हो, पत्नीको उचित है कि वह सदा पतिके अनुकूल रहे । इसी प्रकार पतिका भी कर्तव्य है कि वह दुष्ट स्वभावकी पत्नीका भी पालन-पोषण करे । ब्राह्मणकी वह पत्नी, जिसका अपहरण हुआ है, सदा अपने पतिके प्रतिकूल चलती थी; तथापि धर्मपालनकी इच्छासे वह आपके पास

गया और उसे खोजकर ला देनेके लिये उसने आपसे बार-बार आग्रह किया। आप तो धर्मसे विचलित हुए दूसरे-दूसरे लोगोंको धर्ममें लगाते हैं; फिर जब आप स्वयं ही विचलित होंगे, तब आपको धर्ममें कौन लगायेगा।' मुनिकी फटकार सुनकर राजा बड़े लज्जित हुए, उन्होंने अपनी गलती स्वीकार की। इसके बाद मुनिसे खोयी हुई ब्राह्मणपत्नीका हाल जानकर राजा उसकी खोजमें गये और जहाँ वह थी, वहाँसे उसे अपने पतिके पास पहुँचवा दिया। ब्राह्मण अपनी पत्नीको पाकर बड़े प्रसन्न हुए।

ग्रहोंका जीवनपर प्रभाव

इसके बाद वे अपनी रानीका पता लगानेके लिये पुनः उन महर्षिके पास आये। महर्षिने उन्हें अवसर देखकर फिर कहा—'राजन्! मनुष्योंके लिये पत्नी धर्म, अर्थ एवं कामकी सिद्धिका कारण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—कोई भी क्यों न हो, पत्नीके न रहनेपर वह कर्मानुष्ठानके योग्य नहीं रह जाता। जैसे स्त्रीके लिये पतिका त्याग अनुचित है, उसी प्रकार पुरुषोंके लिये स्त्रीका त्याग भी उचित नहीं है।' मुनिने उन्हें यह भी बताया कि पाणिग्रहणके समय राजापर सूर्य, मङ्गल और शनैश्चरकी तथा उनकी पत्नीपर शुक्र और बृहस्पतिकी दृष्टि थी। उस मुहूर्तमें रानीपर चन्द्रमा और बुद्ध भी, जो परस्पर शत्रुभाव रखनेवाले हैं, अनुकूल थे और राजापर उन दोनोंकी वक्रदृष्टि थी। यही कारण था कि रानी राजासे सदा प्रतिकूल रहती थी। इसपर राजाने रानीकी अनुकूलता प्राप्त करनेके लिये मित्रविन्दा नामक यज्ञका

अनुष्ठान कराया । जिन स्त्री-पुरुषोंमें परस्पर प्रेम न हो, उनमें मित्रविन्दा प्रेम उत्पन्न करती है। इसके बाद राजाने रानीको एक राक्षसकी सहायतासे पाताललोकसे बुलवाया और दोनोंमें परस्पर बड़ा प्रेम हो गया ।

पति-पत्नीमें सम्बन्ध-विच्छेद हिंदू-धर्मको स्वीकार नहीं

यह इतिहास बड़ा ही शिक्षाप्रद है । इससे हमें अनेक प्रकारकी शिक्षाएँ मिलती हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षा तो इससे यह मिलती है कि हिंदू-धर्म पतिके द्वारा पत्नीके अथवा पत्नीके द्वारा पतिके त्यागकी आज्ञा नहीं देता । किसी भी अवस्थामें पति-पत्नीका सम्बन्ध-विच्छेद हिंदू-धर्मको मान्य नहीं है। हमारे सुधारक भाइयोंको, जो पाश्चात्त्य शिक्षा-दीक्षामें दीक्षित होकर कानूनद्वारा पति-पत्नीके सम्बन्ध-विच्छेदको वैध बना देना चाहते हैं, समझ लेना चाहिये कि उनकी चेष्टा सर्वथा धर्मके प्रतिकूल है और व्यभिचार एवं स्वेच्छाचारको प्रोत्साहन देनेवाली है, जो बड़े भारी पतनके हेतु हैं। हिंदू भाइयोंको इस प्रकारके अधार्मिक बिलोंका घोर विरोध करना चाहिये और किसी प्रकार भी उन्हें पास नहीं होने देना चाहिये । राजाओंको इससे यह शिक्षा मिलती है कि प्रजाको धर्ममें लगाने और अधर्मसे रोकनेकी जिम्मेवारी राजापर होती है; यदि राजा भी अपना धर्म छोड़ दें तो फिर प्रजा धर्ममें स्थित कैसे रह सकती है । राजाओंका भी नियन्त्रण तपस्वी, धर्मनिष्ठ, अकिञ्चन एवं सत्यवादी ब्राह्मण लोग करते थे, जो सर्वथा निःस्पृह, निष्पक्ष एवं निर्भय होते थे और धर्मसे विचलित होनेपर राजाओंको साहसपूर्वक डाँट देते थे। तीसरी शिक्षा यह मिलती है कि सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव,

देव-पूजन आदि कर्म द्विजातिमात्रके लिये अनिवार्य हैं और इन्हें एक पखवाड़ेतक त्याग देनेपर भी मनुष्य पतित हो जाता है—असपृश्य हो जाता है। जबसे हमलोगोंने नित्यकर्म छोड़ दिया, तभीसे समाजमें पापका प्रवेश हो गया और फलतः हमलोग दीनता-दरिद्रता, परतन्त्रताके शिकार बन गये और नाना प्रकारके शत्रुओंसे हमारा पराभव होने लगा। चौथी शिक्षा इस आख्यानसे यह मिलती है कि ग्रहोंका हमारे जीवन एवं दाम्पत्य-सुखके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और विवाहादि सम्बन्ध करते समय तथा पाणिग्रहण आदिके समय ग्रहोंका विचार परमावश्यक है। ग्रहोंकी स्थिति अनुकूल न होनेपर दाम्पत्य सुखमें बाधा पहुँच सकती है।

दुर्गासप्तशतीकी लोकप्रियता

इसके अनन्तर आठवें मनु सावर्णिकी उत्पत्तिके प्रसङ्गमें देवी-माहात्म्यका वर्णन है, जो दुर्गासप्तशती अथवा चण्डीके नामसे प्रसिद्ध है। जिस प्रकार विषादग्रस्त एवं बन्धुजनोंके मोहमें पड़कर युद्धसे विरत हुए अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश देकर कृतार्थ किया, उसी प्रकार खोये हुए राज्य एवं परिवारकी चिन्तामें डूबे हुए, राजा सुरथ तथा स्त्री-पुत्रोंद्वारा अपमानित एवं घरसे निकाले हुए, किंतु फिर भी उनकी ममतासे जर्जरित एवं शोकमग्न समाधि वैश्यको विप्रवर मेधा मुनिने देवी-माहात्म्य सुनाकर उनका शोक एवं मोह दूर किया। दुर्गासप्तशतीका हमारे यहाँ बहुत प्रचार है और वर्षभरमें दो बार—चैत्र एवं आश्विनके नवरात्रोंमें तो, जिनमें देवी-पूजा विशेष रूपसे होती है, इसका पाठ प्रायः किया जाता है। यहाँ उसमें आये हुए अमूल्य उपदेशोंका दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

महामायाका स्वरूप

मेधा ऋषिने बताया कि संसारकी स्थिति (जन्म-मरणकी परम्परा) बनाये रखनेके लिये भगवती महामायाके प्रभावद्वारा जीव ममतामय भँवरसे युक्त मोहके गहरे गर्तमें गिराये जाते हैं। जगदीश्वर भगवान् विष्णुकी योगनिद्रारूपा जो भगवती महामाया हैं, उन्हींसे यह जगत् मोहित हो रहा है। वे भगवती विवेकियोंके भी चित्तको बलपूर्वक खींचकर मोहमें डाल देती हैं। वे ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत्की सृष्टि करती हैं तथा वे ही प्रसन्न होनेपर मनुष्योंको मुक्तिका वरदान देती हैं। वे ही परा विद्या, संसार-बन्धन और मोक्षकी हेतुभूता सनातनी देवी तथा सम्पूर्ण ईश्वरोंकी भी अधीश्वरी हैं। ऋषिने यह भी बताया कि वास्तवमें तो वे देवी नित्यस्वरूपा ही हैं; क्योंकि भगवान्की शक्ति भगवान्से सर्वथा अभिन्न है। सम्पूर्ण जगत् मायासे उत्पन्न होनेके कारण उन्हींका स्वरूप है तथा उन्हींने समस्त विश्वको व्याप्त कर रक्खा है; तथापि भगवान्की भाँति जब वे देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये समय-समयपर प्रकट होती हैं, तब वे उत्पन्न हुई कहलाती हैं। इसके अनन्तर ऋषिने उन्हीं देवीके प्राकट्यके तीन चरित्र सुनाये, जो क्रमशः प्रथम चरित्र, मध्यम चरित्र और उत्तर चरित्रके नामसे प्रसिद्ध हैं।

दुर्गासप्तशतीके श्रवणका अपूर्व प्रभाव

मेधा ऋषिके द्वारा उपदिष्ट देवीमाहात्म्य तथा देवीचरित्रोंको सुनकर राजा सुरथ एवं समाधि वैश्यका मोह दूर हो गया। वे दोनों विरक्त होकर तत्काल तपस्याके लिये निकल पड़े और जगदम्बाके

दर्शनके लिये नदीके तटपर रहकर तपस्या करने लगे। वे देवीकी मृण्मयी मूर्ति बनाकर पुष्प, धूप और हवनके द्वारा उनकी आराधना करने लगे। उन्होंने पहले तो आहारको धीरे-धीरे कम किया, फिर बिल्कुल निराहार रहकर देवीमें ही मन लगाये एकाग्रतापूर्वक उनका चिन्तन आरम्भ किया; इस प्रकार लगातार तीन वर्षोंतक वे दोनों संयमपूर्वक देवीकी आराधना करते रहे। इसपर प्रसन्न होकर जगद्धात्री चण्डिका देवीने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और मनोवाञ्छित वर माँगनेको कहा। राजाने दूसरे जन्ममें नष्ट न होनेवाला राज्य और उसी जन्ममें पुनः राज्य-प्राप्तिका वर माँगा; किन्तु समाधि वैश्यका मन तो सर्वथा भोगोंसे फिर गया था, उन्हें संसारसे वैराग्य हो चुका था; अतः उन्होंने अहंता और ममतारूप दोषोंका नाश करनेवाला ज्ञान माँगा। देवी भगवती 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं। वही सुरथ राजा अगले मन्वन्तरमें सावर्णि नामके मनु होंगे। इस प्रकार भगवती महामाया भोग चाहनेवालोंको भोग और मोक्षार्थियोंको मोक्ष प्रदान करती हैं।

गृहस्थधर्मकी महिमा

इसके अनन्तर रौच्य नामक तेरहवें मनुके उत्पत्ति-प्रसङ्गमें गृहस्थधर्मकी बड़ी महिमा कही गयी है। रौच्य मनु प्रजापति रुचिके पुत्र थे। प्रजापति रुचि ममता और अहंकारसे रहित होकर इस पृथ्वीपर निर्भय विचरते थे। उन्होंने न तो अग्निकी स्थापना की थी और न अपने लिये घर ही बनाया था। वे एक बार भोजन करते और बिना आश्रयके ही रहते थे। उन्हें इस प्रकार मुनिवृत्तिसे

रहते देख उनके पितरोंने गृहस्थधर्म एवं कर्ममार्गकी महिमा बताते हुए उनसे यह कहा कि 'बेटा ! यद्यपि वेदमें कर्मको अविद्या कहा गया है, फिर भी इतना तो निश्चित है कि ज्ञानरूपा विद्याकी प्राप्तिमें भी कर्म ही कारण है । दयाभावसे प्रेरित होकर जो कर्म किया जाता है, वह बन्धनकारक नहीं होता तथा फल-कामनासे रहित कर्म भी बन्धनमें नहीं डालता; इसके विपरीत विहित कर्मका त्याग करके जो अधम मनुष्य संयम करते हैं, उस संयमसे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति होनी तो दूर रही, उल्टी उनकी अधोगति होती है । वत्स ! तुम तो समझते हो कि तुम इन्द्रियजयके द्वारा आत्माका प्रक्षालन कर रहे हो; परंतु वास्तवमें तुम शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करनेके कारण पापोंसे दग्ध हो रहे हो । कर्म अविद्या होनेपर भी विधिपूर्वक आचरण करनेसे शोधे हुए विषकी भाँति मनुष्योंका उपकार ही करता है । इसके विपरीत विद्या भी विधिकी अवहेलनासे निश्चय ही हमारे बन्धनका कारण बन जाती है । अतः वत्स ! तुम विधिपूर्वक स्त्री-संग्रह—विवाह करो ।' रुचिने पितरोंकी बात मान ली और स्त्री-प्राप्तिकी अभिलाषासे ब्रह्माजीके आदेशानुसार पितरोंका पूजन किया । उनके आशीर्वादसे उन्हें एक अप्सराकी कन्या पत्नी-रूपमें प्राप्त हुई और उसीसे रौच्यकी उत्पत्ति हुई । इसी प्रसङ्गमें मन्वन्तरोंकी कथा सुननेका भी बड़ा माहात्म्य कहा गया है ।

राजा खनित्रकी अनोखी भावना

इसके अनन्तर भगवान् सूर्यकी उत्पत्ति तथा उनके वंशज नरपालोंके चरित्रका वर्णन है । सूर्यवंशके नरपतियोंमें राजा खनित्र-का चरित्र बड़ा ही उदात्त है । खनित्र बड़े ही शान्त, सत्यवादी,

शूरवीर, समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले, स्वधर्मपराय[illegible] वृद्धसेवी, अनेक शास्त्रोंके विद्वान्, वक्ता, विनयशील, अस्त्र-शस्त्रों[illegible] ज्ञाता, डींग न हाँकनेवाले और सब लोगोंके प्रिय थे। वे दिन-रा[illegible] यही कामना किया करते थे—'समस्त प्राणी प्रसन्न रहें तथा दूसरों[illegible] पर भी स्नेह रक्खें। सब जीवोंका कल्याण हो। सभी निर्भय हों। किसी भी प्राणीको कोई व्याधि एवं मानसिक व्यथा न हो। सम[illegible] प्राणी सबके प्रति मित्रभावके पोषक हों। ब्राह्मणोंका कल्याण हो। सबमें परस्पर प्रेम रहे। सब वर्णोंकी उन्नति हो। उन्हें सम[illegible] कर्मोंमें सिद्धि प्राप्त हो। लोगो! सब जीवोंके प्रति तुम्हारी बुद्धि कल्याणमयी हो। तुमलोग जिस प्रकार अपना तथा अपने पुत्रों[illegible] सर्वदा हित चाहते हो, उसी प्रकार सब प्राणियोंके प्रति हित-बुद्धि रखते हुए बर्ताव करो। यह तुम्हारे लिये अत्यन्त हितकी बात है। कौन किसका अपराध करता है। यदि कोई मूढ़ किसीका थोड़[illegible] भी अहित करता है तो उसे निश्चय ही उसका फल भोगना पड़[illegible] क्योंकि फल सदा कर्ताको ही मिला करता है। लोगो! यह विचा[illegible] कर सबके प्रति पवित्र भाव रक्खो। इससे इस लोकमें पाप नहीं बनेगा और मरनेपर तुम्हें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होगी। बुद्धिमानो! मैं तो यह चाहता हूँ कि मुझसे जो स्नेह रखता है, उसका इ[illegible] पृथ्वीपर सदा ही कल्याण हो तथा जो इस लोकमें मेरे साथ द्वे[illegible] रखता है, वह भी कल्याणका ही भागी बने।' अहा! कैसी उदा[illegible] भावना है। आज जगत् यदि महाराज खनित्रकी शिक्षा मानने ल[illegible] तो संसारसे कलह एवं अशान्तिका बीज ही नष्ट हो जाय और [illegible] भूमण्डल नन्दन-कानन बन जाय।

खनित्रकी अलौकिक उदाराशयता

राजा खनित्रने अपने भाइयोंको प्रेमपूर्वक पृथक्-पृथक् राज्योंमें अभिषिक्त कर दिया और स्वयं समुद्रवसना पृथ्वीका उपभोग करने लगे। महाराज खनित्र उन चारों भाइयों तथा समस्त प्रजापर सदा पुत्रोंकी भाँति स्नेह रखते थे। एक बार उनके एक भाईके पुरोहित-ने उसे उल्टी पट्टी पढ़ाकर सम्राट्का विद्रोही बना दिया और क्रमशः उनके अन्य भाइयों तथा उनके पुरोहितोंको भी फोड़ लिया। फिर तो वे चारों पुरोहित महाराज खनित्रके विरुद्ध भयंकर पुरश्चरण करने लगे। उनके उस आभिचारिक कर्मसे चार कृत्याएँ उत्पन्न हुईं। वे सभी राजा खनित्रके पास आयीं। किंतु राजा साधु पुरुष थे; अतः उनके पुण्यसमूहसे वे परास्त हो गयीं और लौटकर उन दुष्टात्मा पुरोहितोंपर ही टूट पड़ीं तथा उन्हें जलाकर भस्म कर डाला। खनित्रको जब इस बातका पता लगा, तब उन्हें अपने बच जानेका हर्ष न होकर उन ब्राह्मणोंकी मृत्युपर दुःख हुआ। वे कहने लगे—'मुझ पापी, भाग्यहीन तथा दुष्टको धिक्कार है, जिसके कारण चार ब्राह्मणोंकी हत्या हुई। मेरे राज्यको धिक्कार तथा महान् राजाओंके कुलमें जन्म लेनेको भी धिक्कार है; क्योंकि मैं ब्राह्मणोंके विनाशका कारण बना। वे पुरोहित तो अपने स्वामी मेरे भाइयोंका कार्य कर रहे थे। अतः दुष्ट वे नहीं हैं, दुष्ट तो मैं हूँ; क्योंकि मैं ही उनके नाशका कारण बना हूँ।' ऐसा विचार करके महाराज खनित्र अपने पुत्रको राज्यपर अभिषिक्त करके अपनी पत्नियोंके साथ तपस्याके लिये वनमें चले गये। धन्य राजा खनित्र! ऐसा राजा संसारमें कौन होगा, जो मारनेवालोंकी मृत्युपर साम्राज्य-सुखका त्याग कर

दे और दूसरोंके दोषोंको गुणरूपमें ग्रहण करे। भारत देश, सनातनधर्म और हिंदूजातिको ही ऐसे नररत्न उत्पन्न करनेका सौभाग्य प्राप्त है।

राजा मरुत्तका चरित्र

राजा खनित्रके पुत्र क्षुप हुए। वे बड़े दानशील तथा अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले थे। वे व्यवहार आदिमें शत्रु और मित्रके प्रति समान भाव रखते थे। क्षुपके पुत्र विविंश हुए और विविंशके खनीनेत्र। इन्होंने महात्मा ब्राह्मणोंको समूची पृथ्वीका दान देकर तपस्यासे द्रव्य-संग्रह किया और उसके द्वारा पृथ्वीको छुड़ाया। इन्होंने सरसठ हजार सरसठ सौ सरसठ यज्ञ किये थे। और सबमें प्रचुर दक्षिणा दी थी। खनीनेत्रके पुत्र करन्धम, करन्धमके अवीक्षित और अवीक्षितके सम्राट् मरुत्त हुए। अवीक्षितके राज्य स्वीकार न करनेके कारण करन्धमके बाद मरुत्त ही राजसिंहासनपर बैठे। जिस प्रकार पिता अपने औरस पुत्रोंकी रक्षा करता है, मरुत्त उसी प्रकार प्रजा-जनोंका धर्मपूर्वक पालन करते थे। उनका शासन-चक्र सातों द्वीपोंमें अबाधरूपसे फैला हुआ था। आकाश, पाताल और जल आदिमें भी उनकी गति कुण्ठित नहीं होती थी। राजा स्वयं तो यज्ञ करते ही थे, चारों वर्णोंके अन्य लोग भी अपने-अपने कर्ममें आलस्य छोड़कर संलग्न रहते और महाराजसे धन प्राप्तकर इष्टापूर्त आदि पुण्यक्रियाएँ करते थे। राजा मरुत्तने सौ यज्ञ करके देवराज इन्द्रको भी मात कर दिया था। इनके यज्ञोंमें इन्द्रादि श्रेष्ठ देवता ब्राह्मणोंको भोजन परोसनेका काम किया करते थे। इन्होंने ब्राह्मणोंको यज्ञोंमें इतनी प्रचुर दक्षिणा दी थी कि उनके घर रत्नोंसे भर गये थे।

राजा मरुत्त तथा उनके पिताका धर्मके लिये परस्पर युद्ध

एक बार और्व मुनिके आश्रममें पाताललोकके नागोंने आकर दस मुनिकुमारोंको डस लिया। यद्यपि महर्षिलोग इन सबको अपने ब्रह्मतेजसे भस्म कर डालनेकी शक्ति रखते थे, फिर भी दण्ड देनेका अपना अधिकार न समझ वे चुप रहे। इधर जब मरुत्तको इस बात-का पता लगा, तब वे तुरंत ऋषिके आश्रमपर पहुँचे और उन्होंने कुपित हो पाताललोकनिवासी सम्पूर्ण नागोंका संहार करनेके लिये संवर्तक नामक अस्त्र उठाया। उस महान् अस्त्रके तेजसे सारा नाग-लोक सहसा जल उठा। अब तो सर्पोंमें बड़ा हाहाकार मचा। उनमेंसे कुछ अपने स्त्री-पुत्रोंको साथ ले मरुत्तकी माता भामिनी और पिता अवीक्षितके शरणमें गये। उन्हें रक्षाका आश्वासन देकर वीर अवीक्षित अपने पुत्रके पास पहुँचे और उन्हें अस्त्र लौटा लेनेके लिये कहा; परन्तु मरुत्तने उनकी बात नहीं सुनी। उन्होंने कहा कि 'नागोंने मुनिकुमारोंको डसा है, हविष्योंको भी दूषित किया है तथा आश्रमके सम्पूर्ण जलाशयोंको विषैला कर दिया है। अतः ये आततायी हैं, इनका वध करनेमें कोई दोष नहीं है; बल्कि इन्हें दण्ड देना मेरा कर्तव्य है। अतः आप मेरे कर्तव्य-पालनमें बाधा न डालें। इधर अवीक्षितने कहा कि इन सबको मैं अभय-दान दे चुका हूँ, अतः इनकी रक्षा करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ यदि तुम नहीं मानते तो लो मैं अस्त्रके द्वारा ही तुम्हारे अस्त्रका प्रतीकार करता हूँ।' यों कहकर उन्होंने अपने धनुषपर कालास्त्रका संधान किया। इस प्रकार पिता-पुत्रमें युद्ध छिड़ गया। दोनों ही अपनी-अपनी बातपर दृढ़ थे। एकने प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये

दुष्टोंके वधका प्रण ले रक्खा था और दूसरा अपनी शरणमें आये हुए सर्पोंको रक्षाका वचन दे चुका था। दोनोंकी धर्मनिष्ठा आदर्श थी। पुत्रने अपने प्रजा-पालनरूप व्रतमें बाधा डालनेवाले पिताकी भी परवा नहीं की और पिताने अपने शरणागत-रक्षाके व्रतमें बाधक बने हुए प्राणोपम पुत्रपर भी शस्त्र उठा लिया। धर्मके लिये पिता-पुत्रके बीच यह संग्राम जगत्के इतिहासमें अनोखा था। दोनोंको एक-दूसरेका वध करनेके लिये दृढ़संकल्प देख भार्गव आदि मुनि बीचमें पड़ गये और उन्होंने दोनोंको शान्त किया। उन्होंने कहा कि 'नागलोग डसे हुए मुनिकुमारोंको जिला देनेके लिये कह रहे हैं; ऐसा होनेसे मरुत्तके द्वारा प्रजापालन सहज ही हो जायगा और मुनिकुमारोंकी रक्षा हो जानेपर सर्पोंको मारनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।' पिता-पुत्र इस बातपर राजी हो गये और सर्पोंने अपना विष खींचकर दिव्य ओषधियोंके प्रयोगसे मुनिकुमारोंको जिला दिया।

राजा नरिष्यन्तका अपूर्व यज्ञ-प्रेम

मरुत्तके पुत्र नरिष्यन्त हुए। नरिष्यन्तने इतने अधिक यज्ञ किये और ब्राह्मणोंको दक्षिणाके रूपमें इतना प्रचुर धन दिया कि उस धनसे वे स्वयं यज्ञ करने लगे। और इतने सम्पन्न हो गये कि फिर उन्हें जीवन-यात्राके लिये दूसरोंके यहाँ यज्ञ करानेकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। यहाँतक कि राजाको अब आवश्यकता होनेपर यज्ञ करानेके लिये ऋत्विज ही नहीं मिलते थे, क्योंकि ऋत्विजोंको अब अपने यज्ञोंसे ही फुरसत नहीं मिलती थी। राजा और प्रजाने मिलकर उनके राज्यमें करोड़ों यज्ञ किये।

नरिष्यन्तके पुत्र दम हुए। वे दुष्ट शत्रुओंका दमन करनेवाले थे। उनमें इन्द्रके समान बल था और साथ-ही-साथ मुनियों-जैसी दया और शील था। उस महायशस्वी पुत्रने नौ वर्षोंतक माताके उदरमें रहकर उसके द्वारा दमका पालन कराया था तथा वह स्वयं भी दमनशील था। इसीलिये त्रिकालवेत्ता पुरोहितने उसका नाम 'दम' रक्खा था। राजकुमार दमने दैत्यराज वृषपर्वासे सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा पायी, तपोवननिवासी दैत्यराज दुन्दुभिसे सम्पूर्ण अस्त्र प्राप्त किये, महर्षि शक्तिसे वेदों तथा समस्त वेदाङ्गोंका अध्ययन किया और राजर्षि आर्ष्टिषेणसे योगविद्या प्राप्त की। इस प्रकार वे राजोचित सभी गुणसे अलङ्कृत थे। ऐसे राजाओंके राज्यमें ही प्रजा सुखी रह सकती है। जिन दिनों भारतमें ऐसे प्रतापी, धर्मात्मा, बलवान् और शास्त्रज्ञ नृपति होते थे, उन्हीं दिनों भारतका मस्तक जगत्के सामने ऊँचा था और दुष्ट लोगोंकी नहीं चलती थी। जबसे भारतका क्षात्रबल क्षीण होने लगा और राजाओंमें नाना प्रकारके दोष आने लगे, तभीसे उसके खोटे दिन आ गये और वह सब प्रकारके दुःखों एवं उपद्रवोंका केन्द्र बन गया। राजा नरिष्यन्त जब वृद्ध हो गये, तब वे दमको राजपदपर अभिषिक्त करके स्वयं वनमें चले गये और अपनी पत्नीके साथ वानप्रस्थधर्मका पालन करने लगे। उन दिनों राजाओंमें प्रायः ऐसी चाल ही थी।

राजा दमको उनकी माताका कर्तव्य-पालनके लिये उपदेश

एक दिन दक्षिण देशका दुराचारी राजकुमार वपुष्मान्, जो एक बार दमसे युद्धमें हार गया था, शिकार खेलता हुआ उसी आश्रममें जा पहुँचा, जहाँ वृद्ध राजा नरिष्यन्त अपनी पत्नी इन्द्रसेनाके

साथ रहकर तपस्या करते थे। उसे जब नरिष्यन्तका परिचय मालूम हुआ, तब उसके मनमें सहसा अपने शत्रु दमसे बदला लेनेकी भावना जाग्रत् हो उठी। अवसर देखकर उसने नरिष्यन्तकी पकड़ ली और नृशंसतापूर्वक इन्द्रसेनाके सामने ही तलवारसे वृद्ध राजर्षिका सिर काट लिया। इन्द्रसेनाने एक तपस्वीके हाथ दमको इसकी सूचना करवा दी और बड़े ही जोशीले शब्दोंमें उन्हें अपने तपस्वी पिताका वध करनेवाले उस दुष्ट क्षत्रियाधमको दण्ड देनेके लिये प्रेरित किया। इन्द्रसेनाके शब्द बड़े ही मार्मिक थे। उन्होंने कहला भेजा—'बेटा दम! राजा होनेका अधिकार उसीको है, जो चारों वर्णों एवं आश्रमोंकी रक्षा करे। तुम तपस्वियोंकी रक्षा नहीं करते, यह क्या तुम्हारे लिये उचित है! तुम्हारे पिताका बिना किसी अपराधके तुम्हारे ही राज्यमें एक आततायी चुपचाप उनके आश्रममें आकर वध कर दे और तुम्हें इस बातका पता भी न चले—यह तुम्हारे लिये कितनी लज्जाकी बात है! ऐसी स्थितिमें तुम्हें वही कार्य करना चाहिये जिससे तुम्हारे धर्मका लोप न हो। इससे आगे मुझे कुछ नहीं कहना है, क्योंकि मैं तपस्विनी हूँ। तुम्हारे मन्त्री बड़े वीर तथा सब शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। उन सबके साथ विचार करके तुम्हारे लिये इस समय जो उचित हो, वही तुम्हें करना चाहिये। अपने पिता शक्तिको राक्षसके हाथसे मारा गया सुनकर महर्षि पराशरने समस्त राक्षसकुलको अग्निकुण्डमें होमकर भस्म कर दिया था। मैं तो ऐसा मानती हूँ कि तुम्हारे पिता नहीं तुम ही मारे गये हो; वपुष्मान्‌की तलवार उनपर नहीं गिरी, तुम्हारे ही ऊपर गिरी है। उसने तुम्हारे निरीह पिताको मारकर तुम्हारे ही शासनका उल्लङ्घन किया है,

तुम्हारी ही मर्यादाका लोप किया है। अब तुम्हें भृत्य, कुटुम्ब एवं बन्धु-बान्धवोंसहित वपुष्मान्‌के प्रति जो बर्ताव करना उचित हो, वही करो।' यों कहलाकर इन्द्रसेना अपने पतिके साथ ही अग्निमें प्रवेश कर गयी।

मर्यादा-रक्षाके लिये क्षात्रधर्मकी आवश्यकता

भारतकी वीर क्षत्राणियाँ प्राचीन कालमें अपनी सन्तानोंको इसी प्रकार धर्मयुद्धके लिये प्रेरित किया करती थीं। माता विदुलाने अपने पुत्र संजयको तथा कुन्तीदेवीने पाण्डवोंको इसी प्रकार उनके क्षत्रियोचित कर्तव्यका पालन करनेके लिये प्रेरणा की थी। जबसे भारतकी वीर रमणियोंने अपने पुत्रोंको इस प्रकार धर्मका उपदेश देना छोड़ दिया, तभीसे भारत तेजोहीन हो गया और उसमें अपने तथा अपनी संतानोंपर किये गये अत्याचारोंका बदला लेनेकी शक्ति नहीं रही। एक जानकीको राक्षसोंके चंगुलसे छुड़ानेके लिये मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने समस्त राक्षसकुलका संहार कर डाला तथा एक द्रौपदीके अपमानका बदला लेनेके लिये पाण्डवोंने कौरव-वंशका उच्छेद कर दिया। परन्तु आज हमारी आँखोंके सामने न जाने कितनी अबलाओंपर दुष्टोंद्वारा अत्याचार एवं बलात्कार किये जाते हैं, न जाने हमारी कितनी माता-बहिनें आज विधर्मियोंके चंगुलमें पड़ी हुई अपने भाग्यको कोस रही हैं, न जाने कितने वृद्ध एवं बालकोंके निर्दयतापूर्वक काटे जानेकी बातें हम सुनते हैं; परन्तु हमारे कानोंपर जूँ भी नहीं रेंगती, हमारे खूनमें जरा भी गरमाहट नहीं आती, मानो कुछ हुआ ही नहीं।

दमका अपने पिताके मारनेवालेको दण्ड देना

जिन दिनोंकी यह बात है, उन दिनों भारतके क्षत्रियोंकी

धमनियोंका खून गरम था। वे अपने कर्तव्यसे च्युत एवं नपुंसक नहीं हो गये थे। अत्याचार एवं अपमानका बदला लेनेकी उनमें शक्ति थी। राजा दमने जब यह दुःखपूर्ण संवाद सुना, तब उनका हृदय क्रोधसे जल उठा। जैसे घी डालते ही आग प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार दम क्रोधाग्निसे जलते हुए हाथ-से-हाथ मलने लगे और इस प्रकार बोले—"ओह, मुझ पुत्रके जीते-जी उस आततायीने मेरे पिताको अनाथकी भाँति मार डाला और इस प्रकार मेरे कुलका अपमान तथा मेरे शासनकी अवहेलना की। यदि मैं बैठकर उस घटनापर शोक मनाऊँ और चुप हो रहूँ अथवा उदारतापूर्वक क्षमा कर दूँ तो यह मेरी नपुंसकता होगी। दुष्टोंका दमन और साधु-पुरुषोंकी रक्षा—यही मेरा कर्तव्य है। मेरे पिताको मारकर भी यदि मेरा शत्रु जीवित है तो अब केवल 'हा तात! कहकर विलाप करनेसे क्या होगा। इस समय जो करना आवश्यक है, वही मैं करूँगा। उस कायर, पापी एवं दुष्ट क्षत्रियाधमको अपनी करनीका फल अच्छी तरह चखाऊँगा, जिससे फिर किसी दुष्टकी इस प्रकार अन्याय करनेकी हिम्मत न हो। यदि उसे न मार सका तो स्वयं ही अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा। यदि देवराज इन्द्र स्वयं वज्र हाथमें लिये युद्धमें पधारें, भयङ्कर दण्ड लिये साक्षात् यमराज भी कुपित होकर सामने आ जायँ, कुबेर, वरुण और सूर्य भी वपुष्मान्की रक्षाका यत्न करें, तो भी मैं उस नराधमको जीवित नहीं छोड़ूँगा। जो नियतात्मा, निर्दोष, वनवासी, अपने-आप वृक्षसे गिरे हुए फलोंका आहार करनेवाले तथा सब प्राणियोंके मित्र थे—ऐसे मेरे पिताकी मुझ-जैसे शक्तिशाली पुत्रके रहते हुए जिसने निर्दयतापूर्ण हिंसा की है, उसके मांस और रक्तसे आज गृध्र तृप्त हों।'

राजा दम यों कहकर चुप नहीं हो गये। उन्होंने जो कुछ कहा, उसे पूरा करके ही दम लिया। उन्होंने बड़ी भारी सेना लेकर दक्षिण देशपर चढ़ाई कर दी और वपुष्मान्‌को उसकी सेनासहित मारकर वे पुनः अपनी राजधानीको लौट आये।

इस प्रकार सूर्यवंशमें अनेक शूरवीर, विद्वान्, धर्मज्ञ एवं पराक्रमी राजा हो गये हैं। उन सब राजाओंके चरित्र सुनकर मनुष्य पवित्र हो जाता है। इन्हीं राजाओंका चरित्र सुनकर मार्कण्डेय मुनि विरत हो जाते हैं। यहीं मार्कण्डेयपुराणकी समाप्ति होती है।

अठारह पुराणोंकी नामावली तथा उनके पाठकी महिमा

मार्कण्डेयपुराणका पुराणोंकी गणनामें सातवाँ स्थान है। उनकी संख्या इस प्रकार दी गयी है —(१) ब्रह्मपुराण, (२)पद्मपुराण, (३) विष्णुपुराण, (४) शिवपुराण, (५) श्रीमद्भागवत, (६) नारदीयपुराण, (७) मार्कण्डेयपुराण, (८) अग्निपुराण, (९) भविष्यपुराण, (१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण, (११) नृसिंहपुराण, (१२) वाराहपुराण, (१३) स्कन्दपुराण, (१४)वामनपुराण, (१५) कूर्मपुराण, (१६) मत्स्यपुराण, (१७)गरुड़पुराण और (१८) ब्रह्माण्डपुराण। कहते हैं जो प्रतिदिन इन अठारहों पुराणोंका नाम लेता तथा प्रतिदिन तीनों समय इस नामावलीका जप करता है, उसे अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है। मार्कण्डेयपुराणके श्रवणका भी महान् फल बताया गया है, उसके सुननेसे करोड़ों कल्पोंके किये हुए पापसमूह नष्ट हो जाते हैं तथा परम योगकी प्राप्ति होती है। उसे न यमराजसे भय होता है, न नरकोंसे। इस पृथ्वीपर उसकी वंशपरम्परा सदा कायम रहती है।

ब्रह्मपुराणपर एक विहङ्गम-दृष्टि

ब्रह्मपुराणका उपक्रम तथा राजा पृथुका चरित्र

ब्रह्मपुराणमें लोमहर्षण सूतका शौनकादि ऋषियोंके साथ संवाद है। उसमें पहले-पहल सृष्टिकी उत्पत्ति तथा महाराज पृथुका पावन चरित्र वर्णित है। प्रजाका रञ्जन करनेके कारण वे सर्वप्रथम राजा कहलाये। वे जब समुद्रकी यात्रा करते, उस समय समुद्रका जल स्थिर हो जाता था। पर्वत उन्हें जानेके लिये मार्ग दे दिया करते थे और उनके रथकी ध्वजा कभी भङ्ग नहीं हुई। उनके राज्यमें पृथ्वी बिना जोते-बोये ही अन्न पैदा करती थी। यही नहीं, राजाका चिन्तन करने मात्रसे लोगोंका अन्न अपने-आप पक जाया करता था। सभी गौएँ कामधेनु बन गयी थीं और वृक्षोंके पत्तों-पत्तोंमें मधु भरा रहता था। सूत और मागधोंने जैसी-जैसी इनकी स्तुति की, उसी-उसीके अनुरूप इन्होंने कर्म कर दिखाये। तभीसे लोकमें सूत, मागध एवं वन्दीजनोंद्वारा आशीर्वाद दिलानेकी परिपाटी चल पड़ी। भूमिको सम करनेका कार्य भी राजा पृथुने ही किया। इससे पहले भूमि समतल न होनेके कारण पुरों अथवा ग्रामोंका कोई सीमाबद्ध विभाग

नहीं हो सका था। उस समय अन्न, गोरक्षा, खेती और व्यापार भी नहीं होते थे। यह सब पृथुके समयसे ही प्रारम्भ हुआ है। उस समयतक प्रजाका आहार केवल फल-मूल ही था और वह भी बड़ी कठिनाईसे मिलता था। राजा पृथुने पृथ्वीसे सब प्रकारके अन्नोंका दोहन किया। उन्हीं अन्नोंसे आज भी प्रजा जीवन धारण करती है। पृथुने ही इस पृथ्वीका विभाग एवं शोधन किया, जिससे यह अन्नकी खान और समृद्धिशालिनी बन गयी तथा गाँवों और नगरोंसे इसकी शोभा हो गयी। पृथुके सम्बन्धसे ही इसका नाम पृथ्वी हुआ।

भारतवर्षकी महिमा तथा भगवन्नामका अलौकिक माहात्म्य

इसके अनन्तर चौदह मन्वन्तरों तथा विवस्वान्‌की संततिका वर्णन है और फिर क्रमशः सूर्यवंश एवं चन्द्रवंशके नृपतियोंका उल्लेख है। इसी प्रसंगमें जम्बूद्वीप तथा उसके विभिन्न वर्षोंसहित भारतवर्षका वर्णन है। भारतवर्षमें ही पारलौकिक लाभके लिये यति तपस्या करते, यज्ञकर्ता अग्निमें आहुति डालते तथा दाता आदरपूर्वक दान देते हैं। यहाँ लाखों जन्म धारण करनेके बाद बहुत बड़े पुण्यके संचयसे जीव कभी मनुष्यजन्म पाता है। इसके बाद अन्य द्वीपोंका तथा पाताल एवं नरकोंका वर्णन है और उसी प्रसङ्गमें भगवन्नामकी अलौकिक महिमाका निरूपण किया गया है। तपश्चर्यात्मक सम्पूर्ण प्रायश्चित्तोंमें भगवान् श्रीकृष्णका निरन्तर स्मरण श्रेष्ठ है। पाप कर लेनेपर जिस पुरुषको उसके लिये पश्चात्ताप होता है, उसके लिये एक बार भगवान् श्रीहरिका स्मरण कर लेना ही सर्वोत्तम प्रायश्चित्त बताया गया है। भगवान् नारायणका स्मरण करनेवाला मनुष्य

तत्काल पापमुक्त हो जाता है। इसलिये जो पुरुष रात-दिन भगवान् विष्णुका स्मरण करता है, वह अपने समस्त पातकोंका नाश हो जानेके कारण कभी नरकमें नहीं पड़ता। यही नहीं, भगवान् विष्णुके स्मरण और कीर्तनसे सम्पूर्ण क्लेशराशिके क्षीण हो जानेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। उसके लिये फलरूपसे इन्द्रादिके पदकी प्राप्ति विघ्नमात्र है। कहाँ तो जहाँसे लौटना पड़ता है, ऐसे स्वर्ग-लोककी प्राप्ति और कहाँ मोक्षके सर्वोत्तम बीज वासुदेव-मन्त्रका जप! दोनोंमें कोई तुलना नहीं है।

भगवान् विष्णुका स्वरूप

इसके बाद सूर्य आदि ग्रहों तथा भुवः आदि लोकोंकी स्थिति तथा श्रीविष्णुके प्रभावका वर्णन है। भगवान् विष्णु ही परब्रह्म हैं। उन्हींसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, वे ही जगत्स्वरूप हैं तथा उन्हींमें इस जगत्का लय होगा। सत् और असत् दोनों वे ही हैं। वे ही परमपद हैं, वे ही अव्याकृत मूलप्रकृति और वे ही व्याकृत जगत् हैं। यह सब कुछ उन्हींमें लय होता है और उन्हींके आधार स्थित रहता है। वे ही क्रियाओंके कर्ता—यजमान हैं, उन्हींका यज्ञोंद्वारा यजन किया जाता है तथा यज्ञ और उसके फल भी वे ही हैं। युग आदि सब कुछ उन्हींसे प्रवृत्त होता है। उन श्रीहरिसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

ब्रह्माजीके द्वारा भारतकी महिमाका वर्णन

इसके बाद तीर्थोंका वर्णन और फिर व्यासजीका मुनियोंके साथ संवाद है। उसीके अन्तर्गत ब्रह्माजीका भृगु आदि मुनीश्वरोंसे

साथ संवाद है। ब्रह्माजीके द्वारा उपदिष्ट होनेके कारण ही इस पुराणकी ब्रह्मपुराण संज्ञा हुई है। ब्रह्माजीने सर्वप्रथम भारतवर्षकी महिमाका वर्णन किया। उन्होंने बताया कि यह परम प्राचीन तथा भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला उत्तम क्षेत्र है। यहीं किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और नरक प्राप्त होते हैं। यहाँ ब्राह्मण आदि वर्ण भलीभाँति संयमपूर्वक रहते हुए अपने-अपने कर्मोंका अनुष्ठान करके उत्तम सिद्धिको प्राप्त होते हैं। भारतवर्षमें संयमशील पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सब कुछ प्राप्त करते हैं। इन्द्रादि देवताओंने भारतवर्षमें शुभकर्मोंका अनुष्ठान करके ही देवत्व प्राप्त किया है। इसके सिवा अन्यजितेन्द्रिय पुरुषोंने भी भारतवर्षमें शान्त, वीतराग एवं मात्सर्यरहित जीवन विताते हुए मोक्ष प्राप्त किया है। देवता सदा इस बातकी अभिलाषा करते हैं कि हमलोग कब स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करनेवाले भारतवर्षमें जन्म लेकर निरन्तर उसका दर्शन करेंगे। इस प्रकार जिस सौभाग्यके लिये देवतालोग भी तरसते हैं, वह दुर्लभ सौभाग्य भगवान्‌की असीम अनुकम्पासे हम भारतवासियोंको अनायास प्राप्त है। हमें चाहिये कि हम शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌के चरणोंकी सन्निधि प्राप्तकर अपना जन्म और जीवन सफल करें। इसीके लिये हमें भगवान्‌ने दयापूर्वक यहाँ जन्म दिया है।

देवी पार्वतीकी अनुपम धर्मनिष्ठा

इसके बाद भगवान् सूर्यकी महिमा तथा अदितिके गर्भसे उनके अवतारका वर्णन है। इसके अनन्तर भगवती पार्वतीका पावन चरित्र है। वे बचपनसे ही भगवान् शङ्करको पतिरूपमें पानेके

लिये तपस्यामें प्रवृत्त हो गयी थीं । वास्तवमें तो वे शङ्करजीकी स्वरूपा-शक्ति होनेके कारण शङ्करजीसे सदा ही संयुक्त हैं, अभिन्न हैं; जगत्‌को शिक्षा देनेके लिये ही उन्होंने यह लीला की थी। देवताओंसे यह आश्वासन मिलनेपर कि 'शङ्करजी स्वयं शीघ्र ही तुम्हारा वरण करेंगे' वे तपस्यासे विरत हो गयीं । किन्तु फिर भी वे रहीं अपने आश्रममें ही । एक दिन भगवान् शङ्कर चन्द्रमाके आकारका तिलक लगाये नाटा एवं विकृतरूप धारण करके उनके पास आये । उनकी नाक कटी थी । कूबड़ निकला हुआ था। उनके मुखकी आकृति भी बिगड़ी हुई थी । उन्होंने पार्वतीसे कहा—'देवि ! मैं तुम्हारा वरण करता हूँ ।' देवी पार्वतीने उन्हें पहचान लिया और अर्घ्य पाद्य, एवं मधुपर्कके द्वारा उनका पूजन किया । फिर भी लोक-मर्यादाकी रक्षाके लिये उन्होंने विकृतरूपधारी शङ्करजीसे कहा—'भगवन् ! मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ । मेरे पिता घरपर हैं । वे ही मुझे देनेमें समर्थ हैं, मैं इस समय उन्हींके अधीन हूँ! भारतकी धर्मप्राणा देवियो ! जगज्जननी उमा ही तुम्हारे लिये सदासे आदर्श रही हैं, उन्हींके पदचिह्नोंपर चलनेमें तुम्हारी शोभा एवं तुम्हारा कल्याण है । स्त्री-स्वातन्त्र्यके पक्षपातियोंके बहकावेमें आकर अपनी प्राचीन मर्यादाका कभी त्याग न करना ।

देवी पार्वतीका ब्राह्मणकी रक्षाके लिये अपूर्व त्याग

पार्वतीका धर्मानुकूल उत्तर सुनकर बाबा भोलेनाथ वहाँसे चले गये । उनके चले जानेपर पार्वती देवी उन्हींमें मन लगाये एक शिलापर बैठ गयीं । इसी समय देवाधिदेव शङ्कर एक नयी लीला रचनेके लिये ब्राह्मण-बालकका रूप धारणकर निकटवर्ती सरोवरमें

प्रकट हुए। उस बालकको एक ग्राहने पकड़ रक्खा था। बालक चिल्ला रहा था—'मुझे बचाओ, मुझे बचाओ।' पीड़ित ब्राह्मणकी वह पुकार सुनकर कल्याणमयी देवी पार्वती सहसा उठ खड़ी हुईं और उस स्थानपर गयीं, जहाँ वह बालक ग्राहके मुखमें पड़ा थरथर काँप रहा था। भला, जगदम्बासे वह दृश्य कैसे देखा जाता। जिनके वात्सल्य-समुद्रके एक छोटे-से कणको पाकर संसारभरकी माताओंका हृदय वात्सल्यसे परिपूर्ण है, वे एक बालकको इस अवस्थामें देखकर कैसे अपनेको सँभाल सकती थीं। उन्होंने बड़े ही करुणापूर्ण शब्दोंमें ग्राहसे कहा—'ग्राहराज! इस दीन बालकको छोड़ दो।' ग्राहने कहा—'देवि! आपने अबतक जो कुछ भी तपस्या की है, वह सब-की-सब मुझे दे दें तो मैं इस बालकको छोड़ सकता हूँ।'

तपस्यासे ब्राह्मण ऊँचा है

दूसरा कोई होता तो इतने बड़े मूल्यको सुनकर सहम जाता। खासकर जो तपस्या भगवान् शङ्करको प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे की गयी हो, उसका इस प्रकार सहसा एक बालककी प्राणरक्षाके मूल्यपर बेच डालना अत्यन्त दुष्कर कार्य था; परन्तु एक असहाय बालकके प्राण बचानेके लिये जगज्जननी सब कुछ कर सकती हैं। उन्होंने कहा—'ग्राह! मैंने जन्मसे लेकर अबतक जो भी पुण्य किया है, वह सब तुम्हारे अर्पण है। तुम कृपया इस बालकको छोड़ दो।' इस उत्तरको सुनकर ग्राहको बड़ी प्रसन्नता हुई। देवी पार्वतीकी अनुपम तपस्याको पाकर वह दोपहरके सूर्यकी भाँति तेजसे प्रज्वलित हो उठा। उस समय उसकी ओर देखना कठिन

था। उसने कहा—'महाव्रते! तुमने यह क्या किया। भलीभाँति सोचकर देखो, तपस्याका उपार्जन बड़ी कठिनतासे होता है। अतः तुम अपनी तपस्या वापस ले लो। मैं तुम्हारे इस अनुपम त्यागसे ही प्रसन्न होकर इस बालकको छोड़े देता हूँ।' ग्राहके इस वचनको सुनकर देवीने जो उत्तर दिया, वह स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित करने योग्य है। वह उन्हींके अनुरूप था। देवीने कहा—'ग्राह! मुझे अपना शरीर देकर भी ब्राह्मणकी रक्षा करनी चाहिये। तपस्या तो मैं फिर भी कर सकती हूँ; किन्तु यह ब्राह्मण पुनः नहीं मिल सकता। महाग्राह! मैंने भलीभाँति सोचकर ही तपस्याके द्वारा बालकको छुड़ाया है। तपस्या ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ नहीं है, तपस्यासे मैं ब्राह्मणोंको ही श्रेष्ठ मानती हूँ। ग्राहराज! मैं तपस्या देकर फिर नहीं लूँगी। कोई भी भला आदमी दी हुई वस्तुको वापस नहीं लेता। अतः यह तपस्या तुममें ही शोभित हो। कृपया इस बालकको छोड़ दो।'

भगवान्‌को अर्पण किया हुआ सब कुछ अक्षय हो जाता है

पार्वतीके यों कहनेपर ग्राहने उनकी बड़ी प्रशंसा की, बालकको छोड़ दिया और देवीको नमस्कार करके वह वहीं अन्तर्धान हो गया। अपनी तपस्याकी हानि समझकर पार्वतीने पुनः नियमपूर्वक तप आरम्भ किया। इसपर भगवान् शङ्कर उनके सामने प्रकट हो गये और बोले—'देवि! अब और तपस्या न करो। तुमने अपना तप मुझीको अर्पण किया है, अतः वह अक्षय हो गया है।' सच है भगवान्‌को अर्पण किया हुआ पत्र-पुष्प अथवा जल भी अक्षय हो जाता है, फिर तपस्याकी तो बात ही क्या है।

पार्वती-स्वयंवर

पार्वतीके पिताने अब अपनी पुत्रीके लिये स्वयंवर रचा। स्वयंवरकी घोषणा होते ही सम्पूर्ण लोकोंमें निवास करनेवाले देवता सज-सजकर गिरिराज हिमालयके यहाँ जुटने लगे। भगवती उमा जयमाला हाथमें लिये देव-समाजमें उपस्थित हुईं। इतनेमें ही देवीकी परीक्षाके लिये भगवान् शङ्कर पाँच शिखाओंवाले शिशु बनकर सहसा उनकी गोदमें आकर सो गये। देवीने बालक बने हुए अपने स्वामी-को पहचान लिया और बड़े प्रेमके साथ उन्हें अपने अङ्कमें ले लिया। अपने अभीष्ट वरको पाकर देवी पार्वती स्वयंवरसे लौट पड़ीं। इधर देवीके अङ्कमें सोये हुए उस शिशुको देखकर देवतालोग चक्करमें पड़ गये और सोचने लगे कि यह कौन है। देवराज इन्द्रने अपनी एक बाँह ऊपर उठाकर उस बालकपर वज्रका प्रहार करनेकी चेष्टा की, किन्तु शिशुरूपधारी शङ्करने उन्हें स्तम्भित कर दिया। अब वे न तो वज्र चला सके और न हिल-डुल सके। तब भग नामके देवताने बालकपर एक तेजस्वी शस्त्र चलाना चाहा, किन्तु भगवान्ने उनकी बाँहको भी जडवत् बना दिया। साथ ही उनका बल, तेज और योगशक्ति भी हर ली। उस समय ब्रह्माजीने शङ्करजी-को पहचान लिया और शीघ्र उठकर उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया तथा देवताओंको भी उनका परिचय कराया। तब वे जडवत् बने हुए देवता शुद्धचित्तसे मन-ही-मन महादेवजीको प्रणाम करने लगे। इससे देवाधिदेव महादेवने प्रसन्न होकर उनका शरीर पहले-जैसा कर दिया। तत्पश्चात् देवेश्वरने परम अद्भुत त्रिनेत्रधारी विग्रह धारण किया। उस समय उनके तेजसे तिरस्कृत हो सम्पूर्ण देवताओंने नेत्र

बंद कर लिये । तब उन्होंने देवताओंको दिव्य दृष्टि प्रदान की, जिससे वे उनके दिव्य स्वरूपका दर्शन कर सके । तदनन्तर पार्वती देवीने अत्यन्त प्रसन्न हो देवताओंके देखते-देखते अपने हाथकी माला भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ा दी । यह देख सब देवता साधु-साधु कहने लगे । फिर उन लोगोंने भूमिपर मस्तक टेककर देवीसहित महादेवजीको प्रणाम किया । तत्पश्चात् शास्त्रोक्त विधिसे पार्वती-परमेश्वरका विवाह सम्पन्न हुआ ।

गौतमी गङ्गाका माहात्म्य

इसके अनन्तर दक्षयज्ञ-विध्वंसकी कथा, शरणागत दक्षपर भगवान् शङ्करकी कृपा, एकाम्रकक्षेत्र तथा श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रकी महिमा, मार्कण्डेय मुनिका चरित्र, भगवान् पुरुषोत्तमकी पूजा एवं दर्शनका फल आदि विविध विषयोंका वर्णन है । इसके बाद गौतमी गङ्गा (गोदावरी) तथा भागीरथी गङ्गाकी उत्पत्ति तथा गौतमी गङ्गाके माहात्म्यका विस्तृत वर्णन है । गौतमी गङ्गाके माहात्म्यका प्रसङ्ग किसी-किसी मुद्रित प्रतिमें अलग दिया गया है और किन्हीं-किन्हीं विद्वानोंका मत है कि यह ब्रह्मपुराणसे अलग है । हस्तलिखित प्रतियों-में भी इसकी सर्वत्र उपलब्धि नहीं होती । फिर भी कई मुद्रित प्रतियोंके आधारपर हमने इसे ब्रह्मपुराणका ही अङ्ग मान लिया है । वास्तवमें यह ब्रह्मपुराणके अन्तर्गत है या नहीं—इसका निर्णय विद्वान् समीक्षक करेंगे ।

कपोत-कपोतीका अद्भुत त्याग तथा अतिथि-सेवाका महत्त्व

गौतमी-माहात्म्यके अन्तर्गत कपोत-तीर्थके प्रसङ्गमें कपोत-दम्पतिका चरित्र बड़ा ही रोमाञ्चजनक एवं प्रभावोत्पादक है । अन्य

महाभारतादि ग्रन्थोंमें भी इसका उल्लेख मिलता है। कहते हैं, ब्रह्मगिरिपर एक बड़ा भयङ्कर व्याध रहता था। वह ब्राह्मणों, साधुओं, यतियों, गौओं, पक्षियों तथा मृगोंकी हत्या किया करता था। उस महापापी व्याधके मनमें सदा पापके ही संकल्प उठा करते थे। उसकी स्त्री और पुत्र भी वैसे ही क्रूर स्वभावके थे। एक दिन अपनी पत्नी-की प्रेरणासे वह घने जंगलमें घुस गया। वहाँ उस पापीने अनेक प्रकारके मृगों और पक्षियोंका वध किया। कितनोंको जीवित ही पकड़कर पिंजरेमें डाल दिया। इस प्रकार बहुत दूरतक घूम-फिरकर वह अपने घरकी ओर लौटा। रास्तेमें बड़े जोरकी वर्षा आयी। हवा भी तेज चलने लगी और पानीके साथ पत्थर भी गिरने लगे। व्याध राह चलते-चलते थक गया था। जलकी अधिकताके कारण मार्गका ज्ञान ही नहीं हो पाता था। जल, थल और गड्ढेकी पहचान असम्भव हो गयी थी। व्याध बड़ी चिन्तामें पड़ गया। उसे कोई ऐसा स्थान नहीं दिखायी दिया, जहाँ बैठकर वह वर्षा एवं वातसे त्राण पा सकता। इतनेमें ही उसे थोड़ी दूरपर एक बहुत बड़ा वृक्ष दिखायी दिया, जो शाखाओं एवं पल्लवोंसे सुशोभित था। वह उसीके नीचे आकर बैठ गया। उसके सारे वस्त्र भीग गये थे। उसे अब स्त्री और बच्चोंकी चिन्ताने आ घेरा। इतनेमें सूर्यास्त होनेको आ गया।

उसी वृक्षपर एक कपोत पक्षी अपनी स्त्री और बच्चोंके साथ रहता था। उस वृक्षपर रहते उसको कई वर्ष बीत गये थे। वह अपने परिवारके साथ बड़ा सुखी था। उसकी स्त्री कपोती बड़ी पतिव्रता थी। वह अपने पति एवं पुत्रोंके साथ उसी वृक्षके खोडरमें

रहती थी। वहाँ हवा और पानीसे पूरा बचाव था। उस
कपोत और कपोती दोनों चारा चुगने बाहर गये थे;
अकेला कपोत ही वापस आ पाया था। दैववश कपोती उसी
के जालमें फँस गयी थी; किन्तु जीवित थी। कपोत
लौटते न देख बड़ा चिन्तित हुआ। वर्षा अबतक जारी थी
सूर्य पश्चिममें डूब चुके थे। अब तो कपोत लगा रोने। उसे
पता था कि उसकी कपोती वहीं पिंजरेमें बंद है। कपोतका
विलाप सुनकर कपोती पिंजरेमेंसे बोली—'प्राणनाथ! मैं
पिंजरेमें बंद हूँ। आप मेरे लिये चिन्ता न करें।' कपोतीका यह
सुनकर कपोत वृक्षसे नीचे उतरा और कपोतीके पास चला
वहाँ उसने देखा कि उसकी प्रिया जीवित है और व्याध
भाँति निश्चेष्ट पड़ा है। तब उसने अपनी पत्नीको बन्धनसे
करनेका विचार किया। इसपर कपोतीने उन्हें रोकते हुए कहा—
'स्वामिन्! इसके लिये कष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है।
अपने धर्मपर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ रहें। आप जानते हैं,
गुरु अग्नि हैं, ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु है, स्त्रियोंका गुरु
पति है और अभ्यागत सबका गुरु है। जो लोग अपने घरपर
हुए अतिथिको वचनोंद्वारा सन्तुष्ट करते हैं, उनके उन
वाणीकी अधीश्वरी सरस्वती देवी प्रसन्न होती हैं; अतिथिको
देनेसे इन्द्र तृप्त होते हैं; उसके चरण धोनेसे पितर, उसे
करानेसे प्रजापति, उसकी सेवा-पूजासे लक्ष्मीसहित श्रीविष्णु
उसे सुखपूर्वक शयन करानेसे सम्पूर्ण देवता तृप्त होते हैं।
अतिथि सबके लिये परम पूज्य है। यदि सूर्यास्तके बाद

अतिथि घरपर आ जाय तो उसे देवता समझे; क्योंकि वह सब यज्ञोंका फलरूप है। थके हुए अतिथिके साथ गृहस्थके घरपर सम्पूर्ण देवता, पितर और अग्नि भी पधारते हैं। यदि अतिथि तृप्त हुआ तो उन्हें भी बड़ी प्रसन्नता होती है; और यदि वह निराश होकर चला गया तो वे भी निराश होकर ही लौटते हैं। अतः प्राणनाथ! आप सर्वथा दुःख छोड़कर शान्ति धारण करें और अपनी बुद्धिको शुभ-कर्ममें लगाकर धर्मका सम्पादन करें। दूसरोंके द्वारा किये हुए उपकार और अपकार दोनों ही साधु पुरुषोंके विचारसे श्रेष्ठ हैं। उपकार करनेवालोंपर तो सभी उपकार करते हैं; अपकार करनेवालोंके साथ जो अच्छा बर्ताव करे, वही पुण्यका भागी बताया गया है।'

अतिथि-सेवाके लिये धनकी आवश्यकता नहीं है

कपोतीके इन धर्ममय वचनोंको सुनकर कपोतको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह बोला—'प्रिये! तुम्हारी बात बिल्कुल यथार्थ है। परन्तु इस सम्बन्धमें मुझे भी एक बात तुमसे कहनी है। वह यह है कि कोई हजार प्राणियोंका भरण-पोषण करता है, दूसरा दसका ही निर्वाह करता है और कोई ऐसा है, जो सुखपूर्वक केवल अपनी जीविका चला लेता है। परन्तु हमलोग तो ऐसे जीवोंमेंसे हैं, जो अपना ही पेट बड़े कष्टसे भर पाते हैं। कुछ लोग खाईं खोदकर उसमें अन्न भरकर रखते हैं, कुछ लोग कोठेभर अन्नके धनी होते हैं और कितने ही घड़ोंमें धान भरकर रखते हैं। परंतु हमारे पास तो उतना ही संग्रह रहता है, जितना हमारी चोंचमें आ जाय। शुभे! तुम्हीं बताओ, ऐसी दशामें मैं थके-माँदे अतिथिका आदर-सत्कार किस प्रकार करूँ?' कपोतीने कहा—'प्राणनाथ! अग्नि, जल,

मीठी वाणी, तृण और काष्ठ आदि जिससे भी सम्भव हो, अतिथिकी सेवा करनी चाहिये ।'

कपोत-दम्पतिका स्वर्ग-गमन

अपनी प्यारी स्त्रीका कथन सुनकर पक्षिराज कपोतने पेड़के शिखरपर पहुँचकर सब ओर देखा तो कुछ दूरीपर उसे आग दिखायी दी । वहाँ जाकर वह चोंचसे एक जलती हुई लकड़ी उठा लाया और व्याधके आगे रखकर उसने अग्नि प्रज्वलित की । फिर सूखी लकड़ियाँ, पत्ते और तिनके ला-लाकर वह आगमें डालने लगा । उसे देखकर सर्दीसे दुखी व्याधने जडवत् बने हुए अपने अङ्गोंको सेंका । इससे उसे बड़ा आराम मिला । कपोतीने देखा, व्याध क्षुधा-की आगमें जल रहा है; अतः उसने अपने स्वामीसे कहा—'नाथ! मुझे आगमें डाल दीजिये । मैं अपने शरीरसे इस व्याधको तृप्त करूँगी ।' कपोतने कहा—'मेरे रहते तुम्हारा यह धर्म नहीं है। आज तो मुझे ही अतिथि-यज्ञ करने दो ।' यों कहते हुए पत्नीके उत्तरकी प्रतीक्षा न करके कपोतने भगवत्-स्मरणपूर्वक अग्निकी तीन बार प्रदक्षिणा की; फिर व्याधसे यह कहता हुआ अग्निमें कूद पड़ा कि 'मुझे सुखपूर्वक उपयोगमें लाओ ।' कपोतके इस दैवी व्यवहारको देखकर व्याध तो लज्जाके मारे गड़ गया और अपने मनुष्य-जीवनको धिक्कारने लगा । इसपर व्याधसे कपोतीने कहा—'महाभाग! अब मुझे छोड़ दो, मैं अपने पतिदेवका सहगमन करूँगी ।' उसकी बात सुनकर व्याध हक्का-बक्का-सा हो गया और उसने तुरंत ही कपोतीको बन्धनमुक्त कर दिया । व्याधके देखते-देखते कपोतीने भी अपने पति-के मार्गका ही अनुसरण किया । उसने पृथ्वी, देवता, गङ्गा तथा

वनस्पतियोंको नमस्कार किया और अपने बच्चोंको सान्त्वना देकर व्याधसे कहा—'महाभाग ! तुम्हारी ही कृपासे मुझे यह अनुपम सौभाग्य प्राप्त हुआ है । मैं पतिके साथ स्वर्गलोकमें जाती हूँ ।' यों कहकर वह पतिव्रता कपोती आगमें प्रवेश कर गयी । उसी समय आकाशमें जय-जयकारकी ध्वनि गूँज उठी । तत्काल ही सूर्यके समान तेजस्वी अत्यन्त सुन्दर विमान आकाशसे उतर आया । कपोत और कपोती दोनों देवताओंके समान दिव्य शरीर धारण करके उसपर आरूढ़ हुए और आश्चर्यचकित व्याधसे प्रसन्न होकर बोले—'महामते ! हम देवलोकमें जाते हैं और तुम्हारी आज्ञा चाहते हैं । तुम अतिथिके रूपमें हम दोनोंके लिये स्वर्गकी सीढ़ी बनकर आ गये । तुम्हें नमस्कार है ।'

गोदावरी-स्नानका माहात्म्य

उन दोनोंको श्रेष्ठ विमानपर बैठे देख व्याधने भी अपना धनुष और पिंजरा फेंक दिया और हाथ जोड़कर कहा—'महाभागो ! मेरा त्याग न करो । मैं अज्ञानी हूँ । मुझे भी कुछ उपदेश दो । मैं तुम्हारे लिये सम्मान्य अतिथि होकर आया था, इसलिये मेरे उद्धारका भी उपाय बताते जाओ ।' उन दोनोंने कहा—'व्याध ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम भगवती गोदावरीके तटपर जाओ और उन्हींको अपना पाप भेंट कर दो । वहाँ पंद्रह दिनोंतक डुबकी लगानेसे तुम पापमुक्त हो जाओगे । पापमुक्त होकर जब तुम पुनः गौतमी गङ्गामें स्नान करोगे, तब अश्वमेध यज्ञका फल पाकर अत्यन्त पुण्यवान् हो जाओगे ।' उन दोनोंकी बात सुनकर व्याधने वैसा ही किया । फिर वह भी दिव्यरूप धारण करके एक श्रेष्ठ विमानपर जा

बैठा । तभीसे वह स्थान कपोततीर्थके नामसे विख्यात हुआ । और स्नान, दान, पितृ-तर्पण, जप, यज्ञ आदि कर्म करनेपर वे अक्षय फलको देनेवाले बन जाते हैं ।

त्यागकी महिमा

अतिथि-सत्काररूप गृहस्थ-धर्मका पालन करनेके लिये उस कपोत-दम्पतिने जो अनुपम एवं आदर्श त्याग किया, वह जगत्के इतिहासमें अद्वितीय है । पशु-पक्षियोंकी तो बात ही क्या, मनुष्योंमें भी वैसी त्यागबुद्धि होनी अत्यन्त कठिन है । शिबि आदि थोड़े-से नररत्नोंमें ही ऐसे त्यागका उदाहरण मिलता है । जिस देशमें और जिस धर्मकी छत्रछायामें पले हुए पक्षियोंमें भी ऐसा अद्भुत त्याग पाया जाता है, उस देश और उस धर्मकी कहाँतक बड़ाई की जाय । वास्तवमें त्याग ही उन्नति एवं सुखका मूल है । जगत्‌ने आज त्यागके आदर्शको छोड़ दिया, इसीलिये वह दुःखोंका केन्द्र बना हुआ है । त्यागसे मनुष्य किसी प्रकार भी घाटेमें नहीं रहता । बीज बोये जाते हैं बहुत थोड़े, परंतु उनसे दाने कई गुने पैदा हो जाते हैं । फिर उन दानोंका उगना तो हमारे प्रारब्धपर निर्भर है, किंतु त्यागका फल तो अवश्य होता है । कपोत-कपोतीने त्याग किया था कपोत-शरीरका, जो सब प्रकारसे अधम और थोड़े दिन रहनेवाला था और उसमें वे सर्वथा कष्टका ही अनुभव करते थे । परंतु बदलेमें उन्हें मिले चिरकालतक रहनेवाले देवशरीर और दिव्यभोग । फिर भी मनुष्यको विश्वास नहीं होता, इसीलिये वह थोड़े लाभका त्याग न करके महान् लाभसे वञ्चित रह जाता है । इस आख्यानसे यह भी सिद्ध हो गया कि किसीकी सेवा-सत्कार

लिये विपुल धनकी आवश्यकता नहीं है। जो भी जिसके पास है, उसीसे सेवा हो सकती है। सेवामें प्रधान वस्तु भाव है। त्यागकी भावना होनेसे थोड़ी-सी भी सेवा महान् फलदायक हो जाती है। सेवामें ऊँची बात यह है कि सेवक सेवा स्वीकार करनेवालेका उपकार माने; यह न समझे कि मैं सेवा करके किसीका उपकार कर रहा हूँ। विचार करके देखा जाय तो बात भी ऐसी ही है। व्याध यदि कपोत-कपोतीके यहाँ अतिथि बनकर न आता और उन्हें सेवाका अवसर न देता तो उन्हें वह दिव्य सुख कैसे प्राप्त होता। आतिथ्यके लिये पात्रापात्रका भी विचार नहीं किया जाता। अतिथि चाहे वर्णमें नीचा हो, पापीसे भी पापी हो, हिंसक हो—यहाँतक कि अपना अपकारी अथवा शत्रु भी क्यों न हो—उसकी बिना विचारे तन-मन-धनसे सेवा करना गृहस्थका परम धर्म है। अतिथि और शरणागत—ये दो चाहे कैसे भी हों, ये सर्वथा हमारी सेवा एवं रक्षाके पात्र होते हैं। अतिथि और शरणागतके लिये प्राणोंका त्याग भी करना पड़े तो वह थोड़ा है; बल्कि उनके लिये त्याग न करनेमें बड़ी हानि और पाप बताया गया है। हमारे प्राचीन शास्त्रोंका ही अनुवाद करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीने यहाँतक कह दिया है—

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

हिंदू-धर्मकी महत्ता

शरणागत पापी है अथवा उसकी रक्षा करनेमें हमारी लौकिक हानि होगी—यह विचारकर उसकी रक्षासे मुँह मोड़नेवाला स्वयं पापी ही नहीं, मनुष्यके वेषमें राक्षस है। जिस धर्ममें अतिथि-सेवा

और शरणागतकी रक्षापर इतना जोर दिया गया हो, उस धर्मकी तुलनामें कौन धर्म ठहर सकता है । अतिथि-सेवा ही नहीं, जीवमात्रकी सेवाको हमारे यहाँ महायज्ञ—भगवान्‌की बहुत बड़ी पूजा माना गया है और उसे अवश्यकर्तव्य बताया गया है। पञ्चमहायज्ञ और क्या हैं ? उनमें देवताओंसे लेकर छोटे-से-छोटे जीवतककी सेवाका ही तो विधान है । प्राणियोंकी ही नहीं, पेड़-पौधोंतककी सेवा एवं रक्षा तथा भूमि एवं पर्वतों तथा चन्द्र और सूर्य आदि ग्रहोंतककी पूजाका हिंदू-धर्ममें विधान है, जिन्हें आजका जगत् जड मानकर अवहेलना करता है । आज लोग यह कहकर हमारी खिल्ली उड़ाते हैं कि हिंदू पत्थर पूजते हैं; परंतु इस रहस्यको कोई नहीं जानता कि हिंदू चेतन जीवमात्रको ही नहीं, कंकड़ और पत्थर तथा अग्नि और जल-जैसी जड वस्तुओंमें भी भगवान्‌को ही देखते हैं, उनके रूपमें भी भगवान्‌को ही पूजते हैं। हमारे भगवान् किसी देशविशेष अथवा वस्तुविशेषमें सीमित नहीं, वे तो अणु-अणुमें व्याप्त हैं । भगवान् और सीमित, यह तो वदतोव्याघात है । भगवान् ऐसे नहीं, वैसे हैं; वे निराकार हैं, साकार नहीं हो सकते; वे मनुष्य अथवा पशु-पक्षीके रूपमें अवतरित नहीं हो सकते—यह कहना तो भगवान्‌पर शासन करना हुआ। जो लोग भगवान्‌को इतना सीमित मानते हैं वे तो दयाके पात्र हैं। भगवान् क्या हैं इसे तो भगवान् ही जान सकते हैं, दूसरे किसकी सामर्थ्य है। हम तो इतना ही कह सकते हैं—वे सब कुछ हैं, सबसे परे हैं और सबमें भरे हैं । जिसे हम असत् कहते हैं, वह भी वे ही हैं । वे-ही-वे हैं । उनके सिवा कुछ नहीं । यही हिंदू-धर्मकी

धर्मनिष्ठाका अपूर्व उदाहरण

चक्षुस्तीर्थके माहात्म्यके प्रसङ्गमें मणिकुण्डल नामक वैश्यका चरित्र बड़ा ही उदात्त है। गौतमीके दक्षिण-तटपर भौवन नामका एक विख्यात नगर था। उसमें गौतम नामका एक ब्राह्मण रहता था। गौतमकी एक वैश्यके साथ मित्रता हो गयी। वैश्यका नाम मणिकुण्डल था। इनमें गौतम दरिद्र था, मणिकुण्डल धनी। एक बार गौतमकी प्रेरणासे दोनों मित्रोंने धन कमानेके उद्देश्यसे विदेश जानेका निश्चय किया। मणिकुण्डलने अपने घरसे बहुत-से रत्न लाकर गौतमको दिये और कहा—'मित्र! इस धनसे हमलोग सुखपूर्वक देश-देशान्तरोंमें भ्रमण करेंगे और धन कमाकर फिर घर लौट आयेंगे।' इस प्रकार आपसमें सलाह करके माता-पिताको सूचना दिये बिना ही दोनों घरसे निकल पड़े। किंतु मणिकुण्डलके रत्नोंको देखकर गौतमके मनमें पाप समा गया। वह जिस किसी प्रकार उन रत्नोंको हड़प जाना चाहता था। एक बार बातों-ही-बातोंमें दोनोंमें परस्पर विवाद छिड़ गया। गौतम कहता था—'पापसे ही जीवोंकी उन्नति होती है और वे मनोवाञ्छित सुख प्राप्त करते हैं। संसारमें धर्मात्मालोग प्रायः दुखी ही देखे जाते हैं। अतः एकमात्र दुःखको पैदा करने-वाले धर्मसे क्या लाभ।' इसके विपरीत वैश्य कहता था—'नहीं-नहीं, ऐसी बात कदापि नहीं है। वस्तुतः धर्ममें ही सुख है। पापमें तो केवल दुःख, भय, शोक, दरिद्रता और क्लेश ही रहते हैं। जहाँ धर्म है, वहीं मुक्ति है।' इस प्रकार विवाद करते हुए दोनोंमें यह शर्त लगी कि जिसका पक्ष श्रेष्ठ सिद्ध हो, वह दूसरेका धन ले ले। इस प्रकारकी शर्त करके दोनों जो भी मिलता था,

उससे यही पूछते थे—पृथ्वीपर धर्म बलवान् है या अधर्म ? इस
किसीने उनसे यह कह दिया—'जो धर्मके अनुसार चलते हैं,
दुःख भोगना पड़ता है और इसके विपरीत बड़े-बड़े पापी म
सुखी देखे जाते हैं।' यह निर्णय सुनकर वैश्यने अपना सारा
ब्राह्मणको दे दिया; किंतु मणिकुण्डलकी धर्ममें दृढ़ निष्ठा
बाजी हार जानेपर भी वह बराबर धर्मकी ही प्रशंसा करता रहा।

तब ब्राह्मणने कहा—'अच्छा, तो अब दोनों हाथोंकी
लगायी जाय। जो जीत जाय, वह दूसरेके हाथ काट ले।'
यह शर्त भी मंजूर कर ली। फिर दोनोंने जाकर पहलेकी ही
लौकिक मनुष्योंसे इसका निर्णय कराया। निर्णय ज्यों-का-त्यों रहा।
तब गौतमने मणिकुण्डलके दोनों हाथ काट लिये और उससे पूछा—
'मित्र! अब क्या कहते हो ?' मणिकुण्डल अपने निश्चयपर
था। उसने कहा—'भाई! मेरे प्राण कण्ठतक आ जायँ, तब
मैं धर्मको ही श्रेष्ठ मानता रहूँगा।' धर्म ही देहधारियोंकी
पिता, सुहृद् और बन्धु है।' इस प्रकार दोनोंमें विवाद
रहा। ब्राह्मण धनवान् हो गया और वैश्य धनके साथ-साथ
दोनों हाथ भी खो बैठा। धर्मपर दृढ़ रहनेवालोंको प्रारम्भमें
प्रकार कष्ट उठाने पड़ते हैं। इस तरह भ्रमण करते हुए दोनों
गौतमी गङ्गाके तटपर भगवान् योगेश्वरके स्थानमें आ पहुँचे।
पहुँचनेपर फिर दोनोंमें विवाद आरम्भ हो गया। वैश्य वहाँ
धर्मकी ही प्रशंसा करता रहा। इससे ब्राह्मणको बड़ा क्रोध हुआ।
वह वैश्यपर आक्षेप करते हुए बोला—'धन चला गया। दोनों हाथ
कट गये। अब केवल तुम्हारे प्राण बाकी हैं। यदि फिर मेरे

विपरीत कोई बात मुँहसे निकाली तो मैं तलवारसे तुम्हारा सिर उतार लूँगा।' वैश्य हँसने लगा। उसने पुनः गौतमको चुनौती देते हुए कहा—'मैं तो धर्मको ही बड़ा मानता हूँ; तुम्हारी जो इच्छा हो, कर लो। जो ब्राह्मण, गुरु, देवता, वेद, धर्म और भगवान् विष्णुकी निन्दा करता है, वह पापाचारी मनुष्य पापरूप है। वह स्पर्श करने योग्य नहीं है। धर्मको दूषित करनेवाले उस पापात्मा मनुष्यका परित्याग कर देना चाहिये।' तब ब्राह्मणने कुपित होकर कहा—'यदि तुम धर्मकी प्रशंसा करते हो तो हम दोनोंके प्राणोंकी बाजी लग जाय।' वैश्यने कहा—'ठीक है।' फिर दोनोंने साधारण लोगोंसे प्रश्न किया, परंतु लोगोंने पहले-जैसा ही उत्तर दिया। तब ब्राह्मणने वहीं गौतमीके तटपर भगवान् योगेश्वरके सामने वैश्यको गिरा दिया और उसकी आँखें निकाल लीं। फिर कहा—'वैश्य! प्रतिदिन धर्मकी प्रशंसा करनेसे ही तुम इस दशाको पहुँचे हो। तुम्हारा धन गया, दोनों हाथ गये और आँखें भी जाती रहीं। मित्र! अब तुमसे विदा लेता हूँ। फिर कभी भूलकर भी धर्मकी प्रशंसा न करना।' यों कहकर क्रूर गौतम चला गया।

धर्मनिष्ठाका अमृतमय फल

गौतमके चले जानेपर वैश्यप्रवर मणिकुण्डल धन, बाहु और नेत्रोंसे रहित होकर शोकग्रस्त हो गया; तथापि वह निरन्तर धर्मका ही स्मरण करता रहा। अनेक प्रकारकी चिन्ता करते हुए वह भूतलपर निश्चेष्ट होकर पड़ा था। उसके हृदयमें उत्साह नहीं रह गया था। वह शोकसागरमें डूबा हुआ था। दिन बीता, रजनीका आगमन हुआ और चन्द्रमण्डलका उदय हो गया। उस दिन

शुक्लपक्षकी एकादशी थी। एकादशीको वहाँ लङ्कासे विभीषण आया करते थे। उस दिन भी आये; आकर उन्होंने पुत्र और राक्षसों-सहित गौतमी गङ्गामें स्नान किया और योगेश्वर भगवान् विष्णुकी विधिपूर्वक पूजा की। विभीषणका पुत्र भी विभीषणके ही समान धर्मात्मा था। उसे लोग वैभीषणि कहते थे। उसकी दृष्टि उस वैश्यपर पड़ी। वैश्यका सारा वृत्तान्त जानकर उसने अपने पिता विभीषणसे कहा। लङ्कापतिने कहा—'पुत्र! इसी जगह विशल्यकरणी नामकी ओषधि है। उसे ले आकर तुम भगवान्‌का स्मरण करते हुए इसके हृदयपर रख दो। उसका स्पर्श होते ही वैश्यकी आँखें और हाथ फिर ज्यों-के-त्यों हो जायँगे।' वैभीषणि अपने पितासे ओषधिका परिचय प्राप्तकर उसकी एक शाखा ले आये और विभीषणके कथनानुसार उसे वैश्यके हृदयपर रख दिया। वैश्य तत्काल पुनः हाथ और नेत्रोंसे युक्त हो गया। मणि, मन्त्र और ओषधियोंके प्रभावको कोई नहीं जानता। वैश्यने धर्मका चिन्तन करते हुए गौतमी गङ्गामें स्नान किया और योगेश्वर भगवान् विष्णुको नमस्कार करके पुनः आगे बढ़ा। उसने अपने साथ ओषधिकी टूटी हुई शाखा भी ले ली थी।

यतो धर्मस्ततो जयः

देश-देशान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ मणिकुण्डल एक राजधानीमें पहुँचा, जो महापुरके नामसे विख्यात थी। वहाँके राजा महाराजके नामसे प्रसिद्ध थे। राजाके कोई पुत्र नहीं था, एक पुत्री थी, उसकी भी आँखें नष्ट हो चुकी थीं। राजाने यह निश्चय कर लिया था कि 'देवता, दानव, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निर्गुण या गुणवान्—कोई भी क्यों न हो—मैं उसीको यह कन्या दूँगा, जो इसकी आँखें

अच्छी कर देगा। कन्या ही नहीं, यह राज्य भी उसीका होगा।' महाराजने यह घोषणा सब ओर करा दी थी। वैश्यने यह घोषणा सुनकर कहा—'मैं निश्चय ही राजकुमारीकी खोयी हुई आँखें पुनः ला दूँगा।' राजकर्मचारी शीघ्र ही वैश्यको महाराजके पास ले गये और उसने उस काष्टका स्पर्श कराके राजकुमारीके नेत्र ठीक कर दिये। राजाको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने मणिकुण्डलका परिचय पूछा। तब मणिकुण्डलने अपना सारा वृत्तान्त राजासे कह सुनाया। राजाने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कन्याके साथ ही अपना राज्य भी मणिकुण्डलको दे दिया। इस प्रकार मणिकुण्डलको प्रारम्भमें कष्ट होनेपर भी अन्तमें उसकी धर्मनिष्ठाने उसे न केवल उसकी आँखें और हाथ ही वापस दिलाये, अपितु उसे राज्य भी दिलवाया। इसीलिये शास्त्रोंने कहा है—'यतो धर्मस्ततो जयः'। जहाँ धर्म है, वहाँ विजय होकर रहती है।

शत्रुके प्रति उपकार

परंतु मणिकुण्डलको राज्य पाकर भी मित्रके बिना संतोष नहीं हुआ। वह रात-दिन यही कहा करता था कि मित्रके बिना न तो राज्य अच्छा है और न सुख ही अच्छा लगता है। इस प्रकार वह सदा गौतम ब्राह्मणका ही चिन्तन किया करता था। इस पृथ्वीपर उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए साधु पुरुषोंका यही लक्षण है कि अहित करनेवालोंके प्रति भी उनके मनमें सदा करुणा ही भरी रहती है। एक दिन महाराज मणिकुण्डल वनमें गये हुए थे। वहाँ उन्होंने अपने पूर्वमित्र गौतम ब्राह्मणको देखा। पापी जुआरियोंने उसका सारा धन छीन लिया था। धर्मज्ञ मणिकुण्डलने अपने ब्राह्मण मित्रको

साथ ले लिया, उसका विधिपूर्वक पूजन किया और धर्मका सब प्रभाव भी बतलाया। शत्रुके प्रति ऐसा सद्व्यवहार धार्मिक पुरुष ही कर सकते हैं।

एकादशीको रात्रि-जागरणका माहात्म्य

इस प्रकार गौतमी गङ्गासे सम्बद्ध तीर्थोंका माहात्म्य वर्णन करके अनन्त वासुदेवकी महिमा कही गयी है। फिर कण्डुमुनिका चरित्र एवं उनपर भगवान् पुरुषोत्तमकी कृपाका वर्णन करके पुरुषोत्तम-क्षेत्रके माहात्म्यका उपसंहार किया गया है। इसके अनन्तर भगवान्के अवतारका रहस्य बतलाते हुए श्रीकृष्णचरित्रका संक्षेपमें वर्णन किया गया है। फिर भगवान्के अन्य मुख्य अवतारोंका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन करके यमलोकके मार्ग, यमपुरीके चारों द्वार तथा विविध नरकोंका वर्णन, धर्मकी महिमा, भगवद्भक्तिका प्रभाव, अन्नदानका माहात्म्य तथा श्राद्धविषयक आवश्यक बातें बतलायी गयी हैं। इसके बाद गृहस्थोचित सदाचार एवं कर्तव्याकर्तव्यका वर्णन करते हुए वर्णाश्रम-धर्मका निरूपण किया गया है। फिर स्वर्ग और नरकमें ले जानेवाले धर्माधर्मका स्वरूप बताकर भगवान् वासुदेवके माहात्म्यके प्रसङ्गमें एकादशीके दिन रात्रिमें जागरणपूर्वक भगवद्गुण-गानकी महिमा कहते हुए एक भगवद्भक्त चाण्डालका आख्यान वर्णित हुआ है। अवन्तिकापुरी (उज्जैन) में एक भक्त चाण्डाल रहता था, जो संगीतमें कुशल था। वह उत्तम वृत्तिसे धन पैदा करके अपने कुटुम्बके लोगोंका भरण-पोषण किया करता था। भगवान् विष्णुके प्रति उसकी बड़ी भक्ति थी। वह नियम-पालनमें बड़ा दृढ था। प्रत्येक मासकी एकादशी तिथिको वह नियमपूर्वक उपवास करता

और रात्रिके समय भगवान्‌के मन्दिरके समीप जाकर उन्हें भगवल्लीला-सम्बन्धी गीत सुनाया करता था। द्वादशीको प्रातःकाल भगवान्‌को प्रणाम करके अपने घर लौटता और पहले दामाद, भानजे और कन्याओं-को भोजन कराके पीछे स्वयं सपरिवार भोजन करता था। इस प्रकार करते हुए उसके जीवनका अधिकांश भाग बीत चुका था।

भक्तिनिष्ठाका अपूर्व उदाहरण

एक बार चैत्र कृष्णपक्षकी एकादशीको वह भगवान् विष्णुकी सेवाके लिये जंगली पुष्पोंका चयन करनेके निमित्त भक्तिपूर्वक उत्तम वनमें गया। क्षिप्राके तटपर महान् वनके भीतर एक बहेड़ेका पेड़ था। उसके नीचे पहुँचनेपर किसी राक्षसने उस चाण्डालको देखा और भक्षण करनेके लिये पकड़ लिया। यह देख उस चाण्डालने राक्षससे कहा—'भाई! आज तुम मुझे न खाओ, कल प्रातःकाल खा लेना। मैं शपथपूर्वक कहता हूँ, मैं स्वयं तुम्हारे पास लौट आऊँगा। राक्षस! आज मेरा बहुत बड़ा कार्य है, अतः मुझे छोड़ दो। मुझे भगवान् विष्णुकी सेवाके लिये रात्रिमें जागरण करना है। तुम्हें उसमें विघ्न नहीं डालना चाहिये।' राक्षसने उसकी बातपर विश्वास करके उसे छोड़ दिया। तब चाण्डाल फूल लेकर भगवान् विष्णुके मन्दिरपर आया। उसने सभी फूल ब्राह्मणको दे दिये। ब्राह्मणने उन्हें जलसे धोकर उनके द्वारा भगवान्‌का पूजन किया और अपने घरकी राह ली; किंतु चाण्डालने उपवासपूर्वक मन्दिरके बाहर ही भूमिपर बैठकर भगवान्‌के गीत गाते हुए रातभर जागरण किया। रात्रि बीतनेपर उसने स्नान करके भगवान्‌को प्रणाम किया। फिर अपनी प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिये वह राक्षसके पास चला आया।

भक्तकी निर्भयता

चाण्डालको आया देख ब्रह्मराक्षसके नेत्र आश्चर्यसे चकित हो उठे। उसने चाण्डालसे उसकी उपासनाका सारा हाल जानकर कहा—'भैया ! तुम्हें बड़ा पुण्य होगा, तुम अपने एक रातके जागरणका फल मुझे दे दो। ऐसा करनेसे तुम्हें छुटकारा मिल सकता है, अन्यथा तुम्हें मैं कदापि नहीं छोड़नेका।' चाण्डालने कहा—'निशाचर ! मैंने तुम्हें अपना शरीर अर्पण कर दिया है। अतः अब दूसरी बात करनेसे क्या लाभ। तुम मुझे इच्छानुसार खा जाओ।' तब राक्षसने फिर कहा—'अच्छा, रातके दो ही पहरके जागरण एवं संगीतका पुण्य मुझे दे दो। तुम्हें मुझपर भी कृपा करनी चाहिये।' यह सुनकर चाण्डालने राक्षससे कहा—'यह कैसी बेसिर-पैरकी बात करते हो। मुझे इच्छानुसार खा लो। मैं तुम्हें अपने जागरणका पुण्य नहीं दूँगा।' चाण्डालकी बात सुनकर ब्रह्मराक्षसने कहा—'भाई ! तुम तो अपने धर्म-कर्मसे सुरक्षित हो; कौन ऐसा अज्ञानी और दुष्ट-बुद्धिका पुरुष होगा, जो तुम्हारी ओर ताकने, तुमपर आक्रमण करने अथवा तुम्हें पीड़ा देनेका साहस करेगा। महाभाग ! तुम मुझपर कृपा करके एक ही पहरके जागरणका पुण्य दे दो, अथवा अपने घर लौट जाओ।' चाण्डालने फिर उत्तर दिया—'न तो मैं अपने घर लौटूँगा और न तुम्हें किसी तरह एक यामके जागरणका पुण्य ही दूँगा।' यह सुनकर ब्रह्मराक्षस हँस पड़ा और बोला—'भाई ! रात्रि व्यतीत होते समय जो तुमने अन्तिम गीत गाया हो, उसीका फल मुझे दे दो और पापसे मेरा उद्धार करो।'

भक्त चाण्डालकी राक्षसपर कृपा

तब चाण्डालने उससे कहा—'यदि तुम आजसे किसी भी प्राणीका वध न करो तो मैं तुम्हें अपने पिछले गीतका पुण्य दे सकता हूँ; अन्यथा नहीं।' 'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्मराक्षसने उसकी बात मान ली। तब चाण्डालने उसे आधे मुहूर्तके जागरण एवं गानका फल दे दिया। उसे पाकर ब्रह्मराक्षसने चाण्डालको प्रणाम किया और प्रसन्न होकर वह पृथूदक तीर्थकी ओर चल दिया। वहाँ निराहार रहनेका संकल्प लेकर उसने प्राण छोड़ दिये। उस एक गीतके फलसे उसका राक्षस-योनिसे उद्धार हो गया। इधर चाण्डालके मनमें भी इस घटनासे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने अपनी पत्नीकी रक्षाका भार पुत्रोंपर डालकर स्वयं पृथ्वीकी परिक्रमा आरम्भ कर दी। फिर पापरहित हो उसने उत्तम गति प्राप्त की।

भक्ति और मर्यादा

इस आख्यानसे हमें कई प्रकारकी शिक्षाएँ मिलती हैं। पहली बात तो यह है कि भगवान्‌की भक्तिमें नीच-ऊँच सबका समान अधिकार है। भगवान्‌का द्वार सबके लिये समानरूपसे खुला है; किंतु भक्तिके साथ-साथ जीविका भी विशुद्ध होनी चाहिये। भक्तिका अर्थ यह नहीं कि भक्त चाहे जो कुछ करे। आज हमारे अछूत भाइयोंको मन्दिरोंमें घुसानेका तो सभी लोग प्रयत्न करते हैं; परंतु उनका जीवन पवित्र हो, उनके दुर्गुण-दुराचार दूर हों—इसकी बहुत कम लोगोंको परवा है। यहाँ एक बात और समझ लेनेकी है। भक्ति और चीज है, सामाजिक व्यवस्था एवं शास्त्रीय मर्यादा दूसरी चीज है। भक्ति करनेका अधिकार तो सबको है, परंतु

शास्त्रीय मर्यादाकी रक्षा करते हुए। भक्तिका जहाँ प्रश्न है, वहाँ एक भगवद्भक्त चाण्डालको एक अभक्त ब्राह्मणकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। परंतु किसी चाण्डाल भक्तको यह अधिकार नहीं कि वह शास्त्रकी मर्यादाका लोपकर दूसरे भक्तोंके साथ बैठकर ही भक्ति करे। यह तो भक्ति नहीं, दुराग्रह है। भक्त तो सदा अपनेको छोटा—तृणसे भी लघु—मानता है, वह अभिमानसे कोसों दूर भागता है। इसीलिये चाण्डाल भगवान्‌के लिये पुष्प तोड़कर तो लाता था, परंतु उन्हें भगवान्‌पर स्वयं चढ़ानेका आग्रह छोड़कर उन्हें ब्राह्मणको दे देता था और ब्राह्मण देवता उन्हें पवित्र करके उपयोगमें लेते थे। इसी प्रकार वह मन्दिरके अंदर जानेका आग्रह न करके बाहर जमीनपर बैठकर ही उन्हें गान सुनाया करता था। ऐसा करनेसे चाण्डालकी भक्तिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आती थी। भगवान् तो ऐसे भक्तके मर्यादा, प्रेम एवं विनयसे उल्टे प्रसन्न होते हैं। वे तो हमारा हृदय देखते हैं।

भक्तिमें नियमपालनका महत्त्व

भक्तके लिये यह भी आवश्यक नहीं कि वह घर छोड़कर ही भक्ति करे। घरमें रहकर अपने कुटुम्बका न्यायोचित रीतिसे भरण-पोषण करना भी भक्तिका ही एक अङ्ग है, ऐसे भक्तपर भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं। यदि गृहत्याग करना आवश्यक ही हो तो अपने आश्रितजनोंकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध करके ही ऐसा करना उचित है। नियम-पालन भी भक्तिमें बड़ा सहायक है। इससे हमारी तत्परताका पता लगता है कि भगवान्‌की ओर पैर बढ़ानेके लिये हम कहाँतक तैयार हैं। जहाँ अन्य वर्णोंके लिये द्वादशीके

दिन ब्राह्मणको खिलाकर स्वयं खानेका विधान है, वहाँ चाण्डालके लिये यही आज्ञा है कि वह अपने दामाद, भानजों तथा कन्याओंको भोजन कराके फिर स्वयं भोजन करे। उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह औरोंकी भाँति ब्राह्मणको ही जिमानेका आग्रह करे। सत्य आदि दैवी गुण भी भक्तमें स्वाभाविक ही रहते हैं। सारांश यह कि भक्तके लिये ईमानदार एवं बातका धनी होना परमावश्यक है; क्योंकि भक्तकी बदनामी भगवान्पर आती है।

भगवच्छरणागतिसे निर्भयता तथा भक्त-सङ्गकी अमोघता

भक्तका सबसे बड़ा गुण है—उसकी निर्भयता। जो भगवान्के शरण हो गया, उसे फिर भय कैसा! वह किसी भी मूल्यपर अपनी भक्तिको नहीं बेचेगा। वह तुच्छ प्राणोंके लिये भक्तिका सौदा नहीं करेगा। असलमें तो जिसने भक्तिका कवच धारण कर रक्खा है, उसका जगत्में कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। भगवान्की सारी शक्ति उसकी रक्षामें नियुक्त रहती है। वस्तुतः हम भगवान्पर सच्चे अर्थमें निर्भर ही नहीं करते। नहीं तो, किसी प्रकारका भय हमारे पासतक नहीं फटक सकता। हमें दुःख और भय तभीतक सताते हैं, जबतक हम वास्तवमें भगवान्को अपना रक्षक नहीं मानते। भगवान्के शरण हो जानेके बाद किसीकी क्या मजाल है जो हमारी ओर आँख उठाकर भी देखे। मृत्युका भय ही सबसे बड़ा भय है; जो मृत्युसे निडर हो गया, वह जगत्से निडर हो जाता है। सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षा इस आख्यानसे हमें यह मिलती है कि सच्चे भगवद्भक्तका सङ्ग अमोघ होता है। वह जिस किसीको प्राप्त हो गया, उसके कल्याणकी मानो बीमा हो

गयी । भक्त चाण्डालके सङ्गका ही यह प्रभाव था कि उस क्रूर ब्रह्मराक्षसका मन ही पलट गया । उसकी भगवद्भक्तिमें प्रवृत्ति हो गयी और वह उस चाण्डालके आधे मुहूर्तके जागरणका पुण्य पाकर कृतार्थ हो गया ।

भक्तकी मृदुता

निर्भय होनेके साथ-साथ भक्तका हृदय बड़ा कोमल भी होता है । शरणागतके लिये वह बड़े से-बड़ा त्याग करनेमें भी संकोच नहीं करता । अवश्य ही उसे कोई धोखा नहीं दे सकता और न डरा-धमकाकर ही कोई उससे काम निकाल सकता है । भक्त पिघलते हैं तो हमारी दीनतापर, हमारी सच्ची लगनपर ही । अपनी ईमानदारी, अपनी सच्ची लगनका विश्वास दिलाकर ही हम उनकी कृपा एवं सहायता प्राप्त कर सकते हैं ।

ब्रह्मपुराणका उपसंहार

इसके अनन्तर नैमित्तिक, प्राकृत एवं आत्यन्तिक—तीन प्रकारके प्रलयका तथा आध्यात्मिक आदि त्रिविध तापोंका वर्णन करके भगवत्तत्त्वकी व्याख्या की गयी है । उसके पश्चात् योग और सांख्यका वर्णन करके कर्म तथा ज्ञानका अन्तर बतलाते हुए परमात्मतत्त्वका निरूपण तथा अध्यात्मज्ञान और उसके साधनोंका वर्णन किया गया है और अन्तमें क्षर-अक्षर तत्त्वोंका विवेचन करके ग्रन्थका उपसंहार किया गया है । इस प्रकार मार्कण्डेयपुराणकी भाँति ब्रह्मपुराणमें भी बड़े ही अमूल्य उपदेशोंका संग्रह है । सबको इन उपदेशोंसे लाभ उठाना चाहिये ।

स्त्रियोंके लिये कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग

(एक उपदेशप्रद दृष्टान्त)

किसी संयुक्त परिवारमें दो स्त्री-पुरुष, उनके पाँच लड़के और दो लड़कियाँ थीं। लड़कोंका विवाह हो चुका था। उनमेंसे चारके बाल-बच्चे भी थे। लड़कियाँ दोनों क्वारी थीं। सबसे छोटे लड़केका ब्याह कुछ ही दिन पहले हुआ था। उसकी स्त्री अभी मैकेमें ही थी। इस प्रकार दोनों लड़कियोंको मिलाकर घरमें कुल सात स्त्रियाँ थीं। वे चाहतीं तो सब मिलकर घरका काम-काज अच्छी तरह कर सकती थीं; परन्तु उनकी आपसमें बनती न थी। वे एक दूसरीसे जला करती थीं और घरके काम-काजसे जी चुराती थीं। उनमेंसे प्रत्येक यही चाहती कि उसे कम-से-कम काम और अधिक-से-अधिक आराम मिले। आये दिन उनमें तू-तू, मैं-मैं हो जाया करती थी; घरमें अशान्ति और कलहका साम्राज्य था। इसी परिस्थितिमें सबसे छोटे लड़केकी स्त्री भी अपने मैकेसे आ गयी। वह उत्तम घरानेकी लड़की थी। उसे बचपनसे ही बड़ी अच्छी शिक्षा मिली थी। वह अपनेको उस क्षुब्ध वातावरणमें पाकर घबरा उठी। अपनी सास और जिठानियोंको आपसमें लड़ते-झगड़ते देख वह एक दिन रो पड़ी और अत्यन्त आर्त होकर मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना करने लगी—'प्रभो! क्या यही सब देखने-सुननेके लिये मुझे आपने इस घरमें भेजा है? यहाँ तो मैं एक दिन भी न रह सकूँगी। मुझे रात-दिनका झगड़ा अच्छा नहीं लगता। न जाने मैंने पिछले जन्मोंमें

ऐसे कौन-से दुष्कर्म किये हैं, जिनके कारण मेरा इस घरमें ब्याह हुआ है ?' रोते-रोते उसकी आँख लग गयी। उसे स्पष्ट सुनायी दिया मानो उसे कोई सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें कह रहा है—'बेटी! घबरा मत, इस घरका सुधार करनेके लिये ही तुझे यहाँ भेजा गया है। तुझ-जैसी लड़कीकी यहाँ आवश्यकता थी।'

इन शब्दोंको सुनकर छोटी बहूको बड़ी सान्त्वना मिली। उसकी सारी घबराहट जाती रही। उसने मन-ही-मन अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। उसने कलहका मूल जानना चाहा। उसे मालूम हुआ कि उसकी सास और जिठानियों तथा ननदोंने आपसमें घरका काम बाँट लिया है। सास और ननदें ऊपरका काम करतीं और बहुएँ पारी-पारीसे भोजन बनातीं। और-और कामोंके लिये भी पारी बाँध ली गयी थी; परन्तु यदि उनमेंसे दैवात् कोई बीमार हो जाती तो दूसरी बहुएँ उसके बदलेका काम करनेमें आनाकानी करतीं। वे उसपर बहानेबाजीका आरोप करतीं और अनेक प्रकारके आक्षेप करतीं। लड़ाईका दूसरा कारण यह होता कि जब कभी घरमें बाहरसे कोई खाने-पीनेकी चीज आती तो सब-की-सब यह चाहतीं कि अच्छी-से-अच्छी चीज अधिक-से-अधिक मात्रामें मुझे मिले। बस, इसीपर झगड़ा शुरू हो जाता और आपसमें गाली-गलौजतककी नौबत आ जाती। कभी-कभी मामूली बातोंको लेकर बखेड़ा खड़ा कर लिया जाता। यदि कभी एक भाईका लड़का दूसरे भाईके लड़केसे लड़ पड़ा तो इसीपर दोनोंकी माताएँ एक दूसरीको खूब खोटी-खरी सुनातीं। इन सब बातोंको देखकर छोटी बहूको बड़ा दुःख हुआ। जिस दिन उसने भगवान्‌का आदेश सुना, उसी दिनसे

वह झगड़ा मिटानेका उपाय सोचने लगी। उसने सोचा कि भगवान्‌ने इसी बहाने उसे सेवाका बड़ा ही सुन्दर अवसर प्रदान किया है। वह एक दिन चुपकेसे अपनी सबसे बड़ी जिठानीके पास गयी। उस दिन उसकी सवेरे रसोई बनानेकी पारी थी। उसने जिठानीसे कहा—'जिठानीजी ! मैं आप सबसे छोटी हूँ। मेरे रहते आप रसोई बनायें—यह उचित नहीं मालूम होता। फिर आपको तो बाल-बच्चोंकी भी सँभाल करनी पड़ती है। मेरे जिम्मे और कोई काम है नहीं। इसलिये बड़ा अच्छा हो यदि आप अपनी रसोई बनानेकी पारी मुझे दे दें। मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगी।' जिठानी पहले तो बड़ी देरतक आनाकानी करती रही। वह बोली—'बहू ! अभी तो तुम्हारे खाने-पहननेके दिन हैं। जब कुछ सयानी हो जाओ, तब चूल्हा फूँकनेके काममें पड़ना। अभी कुछ दिन आराम कर लो, गृहस्थीका सुख भोग लो। आखिर तो यह सब करना ही है।' छोटी बहूने कहा—'जिठानीजी ! मैं आपके पैरों पड़ती हूँ, मुझे इस तरह निराश न करो। यही दिन तो मेरे काम करनेके हैं। अभीसे यदि मुझे आपलोग आरामतलब बना देंगी तो आगे जाकर मैं किसी कामकी न रह जाऊँगी। अवश्य ही मुझसे कोई बड़ा अपराध हो गया है, जिसके कारण मुझे आप अपने अधिकारसे वञ्चित कर रही हैं।' यह कहकर वह रोने लगी। अब तो जिठानी और अधिक उसकी बातको न टाल सकी। उसने अपनी पारी उसे दे दी। इस प्रकार क्रमशः उसने सभी जिठानियोंसे अनुनय-विनय करके उन सबकी पारी ले ली। यह काम अपने जिम्मे लेकर वह इतनी प्रसन्न हुई मानो उसे कोई निधि मिल गयी

हो । वह प्रतिदिन सबेरे बड़े चावसे सबके लिये रसोई बनाती और सबको खिला-पिलाकर अन्तमें स्वयं भोजन करती । उसे ऐसा करनेमें तनिक भी थकान नहीं माळूम होती, बल्कि उसे इसमें बड़ा सुख मिलता । वह दिनोंदिन दूने उत्साहसे इस कामको करने लगी । वह रसोई भी बहुत अच्छी बनाती और फुर्तीसे बनाती । बात-की-बातमें बहुत-सी सामग्री तैयार कर लेती । यदि कभी कोई मेहमान भी आ जाते तो वह उकताती न थी । उन्हें भी बड़े प्रेमसे भोजन कराती; क्योंकि वह इसमें अपना लाभ समझती थी । उसकी इस अद्भुत लगन एवं सेवाभावको देखकर सभी कोई उसकी प्रशंसा करने लगे । एक दिन उसकी सास उसके पास आयी और बोली—'बेटी ! तूने यह क्या किया ? सबकी पारी अपने जिम्मे क्यों ले ली ?' उसने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया—'माताजी ! मेरे माता-पिताने मुझे यही शिक्षा दी है कि यह शरीर तो एक दिन मिट्टीमें मिल जानेवाला है । इसे अधिक-से-अधिक दूसरोंकी सेवामें लगाना चाहिये । यही इसका सबसे अच्छा उपयोग है । सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है । अतः आपसे भी मेरी यही प्रार्थना है कि आप मुझे इस कामके लिये बराबर उत्साह दिलाती रहें ।' उसका यह उत्तर सुनकर सास चकित हो गयी । उसने सोचा कि यह तो कोई देवी है, किसी मानुषीका ऐसा सुन्दर भाव हो ही नहीं सकता ।

दूसरे दिन ससुरजी बहुओंको देनेके लिये बहुत-सी साड़ियाँ लाये । उन्होंने प्रत्येक बहूको वर्षभरके लिये बारह-बारह साड़ियाँ दीं । छोटी बहू अपने हिस्सेकी साड़ियोंमेंसे दो साड़ियाँ लेकर अपनी सबसे बड़ी जिठानीके पास गयी और विनयपूर्वक बोली—

'जिठानीजी ! मुझे यहाँ आते समय पिताजीने बहुत-सी साड़ियाँ दी थीं। मेरा उनसे अच्छी तरह काम चल सकता है। आप मुझपर दया करके ये दो साड़ियाँ अपने लिये रख लीजिये। मुझे इससे बड़ा सुख मिलेगा और मैं आपका बड़ा अहसान मानूँगी।' जिठानीने बहुत आनाकानी की, परन्तु उसका अत्यधिक आग्रह देखकर वह उसे अस्वीकार न कर सकी। इसी प्रकार आग्रह करके उसने दो-दो साड़ियाँ अपनी अन्य जिठानियोंको तथा दो अपनी सासको दीं और एक-एक साड़ी अपनी ननदोंको दे दीं। उसके इस औदार्यपूर्ण व्यवहारकी भी सबके मनपर गहरी छाप पड़ी। सासके पूछनेपर उसने कहा—'माताजी ! मैं इस कार्यमें भी आपकी मदद एवं प्रोत्साहन चाहती हूँ। शरीरकी भाँति ये वस्त्र आदि भी क्षणभङ्गुर हैं। इनका संग्रह आत्मकल्याणमें बाधक है। जीते-जी मोह एवं आसक्ति आदिके कारण इनमें फँसावट हो जाती है और मरते समय भी यदि इनमें मन अटका रहा तो प्रेत आदि योनियोंमें भटकना पड़ता है। सेवाके काममें लगाना ही इन सबका सर्वोत्तम उपयोग है। नहीं तो एक दिन ये यों ही नष्ट हो जायँगी।' सास उसका यह उत्तर पाकर बहुत प्रसन्न हुई और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी। इधर घरमें पैसा भी बढ़ गया। ससुरजीने प्रत्येक बहूको छः-छः गहने तैयार कराके दिये। छोटी बहूने अपने हिस्सेके गहनोंको भी अपनी चारों जिठानियों और ननदोंमें बाँट दिया और अपने लिये उसने एक भी न रक्खा। पूछनेपर उसने यही कहा कि 'मेरे पास अपने पिताजीके दिये हुए बहुत-से गहने पड़े हैं। मेरे लिये उतने ही पर्याप्त हैं।' इस प्रकार उसने अपने साधु व्यवहार एवं

उदारतासे सभीके हृदयमें स्थान कर लिया। सभी उससे अत्यधिक सन्तुष्ट थे।

फिर एक दिन मौका देखकर उसने अपनी बड़ी जिठानीसे सायंकालकी रसोई बनानेकी भी आज्ञा माँगी। उसने कहा—'मेरे रहते आप रसोई बनानेका कष्ट करें, यह मेरे लिये बड़ी ही लज्जाकी बात है।' वह इस प्रकार कह ही रही थी कि उसकी सास वहाँ आ पहुँची। वह बड़ी उत्सुकतासे अपनी बड़ी बहूसे पूछने लगी—'यह किस बातके लिये आग्रह कर रही है?' जब उसे मालूम हुआ कि छोटी बहू सायंकालकी रसोई भी अपने ही हिस्सेमें कर लेना चाहती है, तब तो वह हँसकर बोली—'तुमलोग अपनी इस छोटी देवरानीसे सावधान रहना। यह तुमलोगोंसे वास्तविक लाभकी वस्तु ठग लेना चाहती है।' बड़ी बहू सासके अभिप्रायको न समझकर बोल उठी—'सासजी! आप यह क्या कह रही हैं? आपकी यह छोटी बहू तो बड़ी ही साध्वी है, सब प्रकार प्रशंसाके योग्य है। इसके सम्बन्धमें आप ऐसी बात कैसे कह रही हैं?' सासने कहा—'तुम समझी नहीं। यह हमलोगोंकी सेवा करके—हमें गहने-कपड़े तथा शारीरिक आराम आदि तुच्छ वस्तुएं देकर बदलेमें तप आदि हमारी आध्यात्मिक कमाई—जो आत्मोद्धारमें सहायक है, हमसे छीन रही है। इससे बढ़कर ठगई और क्या होगी? इसने मुझे एक दिन बताया था कि दूसरोंकी सेवा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मकल्याणमें समर्थ हो जाता है। इसने यह भी कहा था कि शुद्ध भावसे रसोईके रूपमें घरवालोंकी सेवा करनेसे एक ही सालमें कल्याण हो जायगा। इसलिये बहू!

सायंकालकी रसोईका काम तो मैं अपने जिम्मे लूँगी। मुझे भी तो आत्माका कल्याण करना है। मैं ही उससे वञ्चित क्यों रहूँ?' सासकी यह बात सुनकर सबकी आँखें खुल गयीं। फिर तो सबको अपने-अपने कल्याणकी फिक्र पड़ गयी। कहाँ तो सब-की-सब कामसे जी चुराती थीं और छोटी बहूके एक समयकी रसोईका भार अपने सिरपर ले लेनेसे एक प्रकारके सुख एवं सुविधाका अनुभव करती थीं; इसके विपरीत अब सबने अपनी-अपनी सबेरेकी रसोई बनानेकी पारी छोटी बहूसे वापस ले ली। जहाँ कामको लेकर कुछ ही दिन पहले सबमें झगड़ा होता था, अब सब-की-सब बड़े उत्साह एवं दिलचस्पीके साथ अपने-अपने हिस्सेका काम करने लगीं। छोटी बहूका उपाय काम कर गया।

जब छोटी बहूने देखा कि ये लोग कोई भी अब रसोईका काम मुझे नहीं सौंपेंगी, तब उसने सेवाका दूसरा ढंग सोचा। उसने विचार किया कि घरमें रोज आठ-दस सेर आटेकी खपत है, वह सारा-का-सारा बाजारसे खरीदा जाता है। इससे तो अच्छा है कि मैं बड़े सवेरे उठकर स्वयं गेहूँ पीस लिया करूँ। इसमें कई लाभ हैं। जो आटा बाजारसे आता है, वह प्रायः पुराने घुने हुए गेहुँओंका होता है। उसमें मिट्टी मिली हुई रहती है। फिर कलकी चक्कियोंमें जो आटा पिसता है, उसका सार मारा जाता है। वह स्वास्थ्यके लिये हानिकारक होता है। मेरी जिठानियोंने रसोईका काम तो मुझसे वापस ले लिया। अब आत्मकल्याणके लिये मुझे यही काम करना चाहिये। उसने तुरंत यह प्रस्ताव अपने पतिके सामने पेश कर दिया। तुरंत गेहूँकी व्यवस्था हो गयी। बाजारसे

आटा खरीदना बंद कर दिया गया । छोटी बहूने दिनमें गेहूँ साफ करके रख दिये और दूसरे दिन सबेरे ही मुँह-हाथ धोकर वह गेहूँ पीसनेके काममें जुट गयी । शरीर स्वस्थ एवं सबल था और मन उत्साहसे भरा था । काम करनेका अभ्यास था । बात-की-बातमें उसने आठ-दस सेर गेहूँ पीसकर रख दिये । सासको जब इस बातका पता लगा तो वह दौड़ी हुई छोटी बहूके पास आयी और बोली—'बहू ! यह आत्मकल्याणका कोई नया तरीका ढूँढ़ निकाला है क्या ?' बहूने गद्गद स्वरमें कहा—'माताजी ! जिठानियोंने रसोई बनानेका काम तो मुझसे वापस ले लिया । इसलिये मुझे आत्मकल्याणका यह दूसरा मार्ग ढूँढ़ना पड़ा । इसमें शारीरिक श्रम अधिक है । इसलिये जहाँ आध्यात्मिक लाभके लिये रसोईका काम करनेसे सालभरमें आत्माका कल्याण होता, वहाँ आटा पीसनेसे छः ही महीनेमें काम बन जायगा । फिर इसमें दुहरा लाभ है । आत्माका कल्याण तो होता ही है, साथ-ही-साथ शारीरिक व्यायाम भी हो जाता है, जिससे शरीरमें फुर्ती और बल आता है तथा शरीर नीरोग रहता है । इससे गर्भवती स्त्रियोंको प्रसव भी जल्दी और सुखपूर्वक होता है । घरवालोंको शुद्ध आटा मिलता है, जिससे उनके स्वास्थ्य और मन दोनोंपर अच्छा प्रभाव पड़ता है । इन सब कारणोंसे यह काम मेरे लिये अत्यन्त श्रेयस्कर है । आशा है, आप मेरे इस काममें मेरी सहायता करेंगी ।' अब तो सास अपनी छोटी बहूको गुरुवत् मानने लगी । उसकी एक-एक बात उसको सारगर्भित प्रतीत होने लगी । वह उसके प्रत्येक कार्यको गौरवकी दृष्टिसे देखने लगी और स्वयं भी उसीका अनुकरण करनेकी चेष्टा करने

लगी। जहाँ छोटी बहूने पहले दिन सबेरे छः बजे आटा पीसनेका कार्य आरम्भ किया था, वहाँ यह दूसरे दिन पाँच ही बजे उस काममें जुट गयी। उसकी देखा-देखी तीसरे दिन उसकी दूसरी बहुओंने चार ही बजे उस कामको शुरू कर दिया। इस प्रकार पहले जहाँ वे सब-की-सब कामसे जी चुराती थीं, अब उन सबमें काम करनेकी एक प्रकार होड़-सी होने लगी। सभी चाहती थीं कि अधिक-से-अधिक काम मुझे करनेको मिले; क्योंकि सबको उसमें आत्मकल्याणके दर्शन होते थे। छोटी बहूकी यह दूसरी विजय थी।

अब छोटी बहूने कमरे साफ करने तथा कुएँसे पानी खींचकर लानेका काम अपने जिम्मे ले लिया। सबेरे नौकर झाड़ू लगाने तथा पानी भरने आता, तो उससे पहले ही यह सारा काम स्वयं कर लेती। सासने उससे फिर पूछा—'बेटी! इस कामके करनेमें तुम्हारा क्या अभिप्राय है?' छोटी बहूने बड़े ही मधुर स्वरोंमें कहा—'माताजी! आपको इन सब बातोंका भेद बतला देनेसे सेवासे वञ्चित होना पड़ता है। इसलिये अब मैं इसका रहस्य आपको नहीं बतलाना चाहती। इस अविनयके लिये आप मुझे क्षमा करें।' सासने कहा—'बेटी! अब मैं तेरे कार्यमें बाधा नहीं डालूँगी। तू मुझे इसका आध्यात्मिक रहस्य समझा दे।' बहूने कहा—'सासजी! जहाँ रसोईका काम करनेसे सालभरमें और आटा पीसनेका काम करनेसे छः महीनोंमें आत्म-कल्याण होता, वहाँ पानी भरनेकी सेवासे तीन ही महीनोंमें काम बन जायगा; क्योंकि यह काम उन सबकी अपेक्षा अधिक कठिन है। इसमें श्रम एवं कष्ट

अधिक है तथा जानकी भी जोखिम है।' फिर क्या था, सास भी उसके इस काममें हाथ बँटाने लगी। दोनोंका उसमें साझा हो गया। दूसरी बहुओंने यह देखकर साससे कहा—'आपकी अवस्था अब पानी भरने लायक नहीं है। इसलिये यह काम आपको नहीं करना चाहिये।' इसपर सासने उन्हें उत्तर दिया—'क्या मुझे आत्मकल्याण नहीं चाहिये ? मैं वृद्धा हूँ, इसलिये मुझे तो जल्दी-से-जल्दी आत्माका कल्याण कर लेना चाहिये।' फिर क्या था, दूसरी बहुएँ भी इस काममें शामिल हो गयीं। अब छोटी बहूने बरतन माँजनेका काम अपने जिम्मे लिया। सासने इसपर आपत्ति की। वह बोली—'इससे तुम्हारे कपड़े खराब होंगे और आभूषण घिस जायँगे। इस प्रकार महीनेमें जहाँ तुम नौकरकी मजदूरीके पाँच रुपये बचाओगी, वहाँ उसके बदलेमें तुम्हारा दस रुपयोंका नुकसान हो जायगा।' इसपर बहूने कहा—'माना कि ऐसा करनेसे आर्थिक लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक होगी; किन्तु मेरे कपड़े चाहे मैले हो जायँ, मेरा अन्तःकरण तो इससे बहुत जल्दी शुद्ध होगा। बात यह है कि जो काम जितना कठिन और लौकिक दृष्टिसे जितना नीचा होता है, आध्यात्मिक दृष्टिसे वह उतना ही ऊँचा और कल्याणकारक होता है। बरतन माँजनेसे मुझे विश्वास है कि दो ही महीनोंमें मेरा कल्याण हो जायगा। और यदि कभी भगवान् ऐसा संयोग भेज दें, जब कि किसी रोगीकी टट्टी-पेशाब उठाना पड़े, तब तो एक ही महीनेमें कल्याण निश्चित है। अवश्य ही भाव हमारा ऊँचे-से-ऊँचा—पूर्ण निष्कामताका होना चाहिये।'

सासकी तो छोटी बहूके वाक्योंमें अब वेदवाक्योंके समान

श्रद्धा हो गयी थी। वह भी बरतन माँजनेके काममें उसे सहयोग देने लगी। अन्य बहुओंने उसे मना किया। उसने कहा—'अपने लड़कोंके वर्तन तो मैं अवश्य ही माँज सकती हूँ। फिर वृद्धावस्थाके कारण मेरा आत्मकल्याणके साधनमें सबसे अधिक अधिकार है। इसलिये इस विषयमें तुम्हारा आग्रह नहीं माना जा सकता।' फिर तो सब-की-सब बहुएँ उसी काममें जुट गयीं। सब काम बड़े उत्साहसे होने लगे। काम-काजकी जो पारी बाँधी गयी थी, वह टूट गयी। जो मौका पाती, वह आगे-से-आगे काम करनेको तैयार रहती। सबमें परस्पर प्रेम और सद्भावकी स्थापना हो गयी। जिस घरमें कलह और अशान्तिका एकच्छत्र साम्राज्य था, वही अब सुख-शान्तिका निकेतन हो गया। जो लोग यहाँकी स्त्रियोंको लड़ते-झगड़ते देखकर हँसते थे, वे ही उनका आदर्श व्यवहार देखकर आश्चर्य करने लगे। शहरके लोग दर्शकरूपसे उन लोगोंका व्यवहार देखनेके लिये आने लगे। स्त्रियोंके इस आदर्श व्यवहारका पुरुषोंपर भी कम प्रभाव नहीं पड़ा। इनकी देखा-देखी वे सब भी आलसी हो चले थे। अब इनका आदर्श व्यवहार देखकर वे सब भी कर्तव्यपरायण हो गये। जहाँ पहले दूकानका काम प्रायः चढ़ा रहता था वहाँ अब कामकी अपेक्षा काम करनेवाले अधिक हो गये। जहाँ उनमें पहले कामसे जी चुरानेके कारण झगड़ा होता था, वहाँ अब वे सब-के-सब एक दूसरेका काम छीनकर करने लगे। जहाँ पहली लड़ाई नरकोंमें ले जानेवाली थी, वहाँ यह दूसरी लड़ाई कल्याण करनेवाली थी। कहना न होगा कि यह सब परिवर्तन छोटी बहूके सद्भाव, सद्विचार और सच्चेष्टाओंका सत्फल था। जिस

प्रकार एक मछली सारे तालाबको निर्मल कर देती है, उसी प्रकार एक ही महान् एवं पवित्र आत्मा घरभरका ही नहीं मुहल्ले, गाँव और नगरभरका सुधार कर देती है। सङ्गकी ऐसी ही महिमा है। सभी माता-बहिनोंको इस आख्यायिकासे शिक्षा लेकर आत्माके कल्याणके लिये निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवाका व्रत ले लेना चाहिये। ऐसी सेवा बहुत शीघ्र मुक्तिका कारण बन जाती है—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' (गीता २। ४०) श्रीमद्भगवद्गीतामें ऐसे अनेकों वाक्य मिलते हैं, जिनसे इस बातकी पुष्टि होती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
(५। १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलको परमेश्वरके अर्पण करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है।'

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(३। १९)

'आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(१८। ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

अत्याचारका प्रतीकार

साम्प्रदायिक दंगोंके विषयमें पाठकोंको चेतावनी दी जाती है कि इनसे सर्वथा सजग रहना चाहिये। ये दंगे कोई नयी बात नहीं हैं। सत्ययुगमें देवासुरसंग्राम, त्रेतामें श्रीराम-रावण-युद्ध और द्वापरमें कौरव-पाण्डवोंका युद्ध तो इनसे भी भयङ्कररूपमें हुए थे; किन्तु अत्याचार करनेवालोंकी एक बार विजय होकर भी अन्तमें पराजय ही हुई है। इसलिये किसी सम्प्रदायवालेको किसीपर भी कभी अत्याचार नहीं करना चाहिये। किसीके घरमें आग लगाना, जगह-जमीन-मकान हड़पना, धन-सम्पत्ति लूटना, विष देना, निरीह-निःशस्त्र व्यक्तिको मार डालना, कन्याओं, बालकों एवं स्त्रियोंका अपहरण करना, किसीको धर्म-परिवर्तनके लिये बाध्य करना, किसीके धर्मको भ्रष्ट करना, किसी स्त्रीपर बलात्कार करना, कोमल बच्चे-बच्चियोंको जलती आगमें झोंक देना अथवा उनको शस्त्रसे काट डालना आदि सब अत्याचार हैं। उपर्युक्त अत्याचार करनेवालेको ही आततायी कहते हैं। ऐसे आततायियोंको बिना विचारे ही मृत्युदण्डतक देनेके लिये शास्त्र कहते हैं—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

(मनु० ८। ३५०-५१)

'अपना अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना विचारे ही मार डालना चाहिये। आततायीके मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं होता।'

इसमें सरकारी कानूनकी भी कोई बाधा नहीं है; क्योंकि

अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले अत्याचारियोंको मनुष्य अन्य किसी उपायसे न रोक सके तो अन्तमें अपनी इज्जत, धर्म और प्राणोंकी रक्षाके लिये उनको मार डालना भी दोष नहीं है। स्त्रियाँ भी अपने ऊपर अत्याचार और बलात्कार करनेवाले अत्याचारीको अपनी इज्जत, धर्म और प्राणोंकी रक्षाके लिये प्राण-वियोगतकका दण्ड दे सकती हैं।

पाठकोंसे प्रार्थना है कि अपनी ओरसे कभी किसी निर्दोष व्यक्तिपर किंचिन्मात्र भी हमला या अत्याचार नहीं करना चाहिये; किंतु आक्रमणकारी अत्याचारियोंका अत्याचार रोकनेके लिये यदि उसका उचित प्रतीकार किया जाय तो उसमें कोई दोष नहीं है। ऐसा प्रतीकार होना चाहिये अत्याचारको मिटानेके लिये, द्वेषबुद्धिसे नहीं; बल्कि अत्याचारीका परिणाममें जिस प्रकार हित हो, उसको खयालमें रखकर प्रतीकार करना चाहिये। भगवान्‌ने जो कहा है 'विनाशाय च दुष्कृताम्' (गीता ४। ८), उसका अभिप्राय भी यही है। अत्याचारका निवारण करना अत्याचारीके तथा संसारके, सभीके लिये हितकर है। अत्याचारको मिटाना चाहिये, अत्याचारीको नहीं; किंतु बिना अत्याचारीको मिटाये अत्याचार न मिट सकता हो, तो ऐसी हालतमें अत्याचारीको भी मिटाना दोषयुक्त नहीं समझा जाता। जब किसी रोगीका कोई अङ्ग सड़ जाता है और उसपर अन्य उपाय काम नहीं देता तो डाक्टर सारे शरीरपर जोखिम आते देखकर उस दोषी अङ्गको काट डालते हैं; इसी प्रकार बिना अत्याचारीको मारे यदि अत्याचार न मिटता हो तो इस हालतमें जन-समुदायके हित एवं प्राणरक्षाके लिये अत्याचारीको मारा जा सकता है, चाहे वह किसी भी सम्प्रदायका हो। यह मनुष्यमात्रका धर्म है।

द्वेषभाव न रखते हुए अत्याचारीका प्रतीकार करना चाहिये; किंतु यह कठिन बात है। क्योंकि इसमें कहीं-कहीं मन धोखा भी दे देता है। मनुष्य समझता है कि जैसे माता-पिता अपने बालकोंको तथा गुरु अपने शिष्योंको उनके सुधारके लिये ताड़ना देते हैं, इसी प्रकार मैं भी अत्याचारीको दण्ड देता हूँ, वह उसके सुधारके लिये ही देता हूँ। किंतु इसमें हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करके देखना चाहिये कि कहीं इसमें हमारा छिपा हुआ द्वेषभाव तो नहीं है। जिसका द्वेषभाव नहीं होगा, उसके हृदयमें घृणा, अशान्ति, चिन्ता, दुःख, शोक, उद्वेग, क्रोध, भय आदि विकार नहीं होंगे। बल्कि उसके हृदयमें शान्ति, समता, सन्तोष, सरलता, प्रसन्नता आदि गुण ही विद्यमान रहेंगे। अत्याचारको मिटानेके लिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराज अर्जुनको शुद्ध भावसे युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

इस भावको खयालमें रखकर यदि कोई आदमी सद्भावसे अत्याचारका प्रतीकार करे तो उसके लिये वैसा करना धर्मपालन है। इसलिये हमारी सबसे यह प्रार्थना है कि ऐसा भाव हृदयमें रखकर ही अत्याचारीसे मुकाबला करना चाहिये। इस प्रकार

व्यवहार करनेवालेका ही इस लोक और परलोकमें हित होता है, इसीलिये इसे धर्म माना गया है। धर्मको खयालमें रखकर जो मनुष्य अत्याचारीके साथ व्यवहार करता है, उसके द्वारा बदलेमें अत्याचार कभी नहीं हो सकता।

अत्याचारीका स्वभाव परिवर्तन करनेके लिये दूसरा यह भी उपाय है कि अत्याचारीके साथ बिना द्वेषभावके पूर्ण असहयोग कर देना चाहिये अर्थात् उसे अपनी तरफसे धन-सम्पत्ति, व्यापार आदिकी किसी भी प्रकारकी किञ्चिन्मात्र भी कर्म सहायता नहीं देनी चाहिये। कोई अत्याचारी चूड़ी, साड़ी, कपड़ा, गोटा-किनारी आदि बनानेवाला हो तो उससे वे चीजें न तो बनवानी चाहिये और न खरीदनी ही चाहिये। अथवा कोई अत्याचारी बादाम, पिस्ता, किशमिश आदि मेवा, फल, सब्जी, मिठाई, चाय वगैरह बेचनेवाला हो तो उससे वे चीजें नहीं खरीदनी चाहिये। कोई अत्याचारी रँगाई-छपाईका काम करनेवाला हो तो उससे कपड़ा रँगाना-छपाना नहीं चाहिये और न किसी अत्याचारीसे कपड़ोंकी बुनाई, सिलाई, धुलाईका ही काम कराना चाहिये। अत्याचारीसे चित्रकारी, मकान बनवाने और किसी प्रकारके ठेके आदिका काम भी नहीं कराना चाहिये तथा न पत्थर, लकड़ी, तैल, घी, दूध, गल्ला, किराना, स्टेशनरी, मनिहारी आदि चीजें ही खरीदनी चाहिये एवं न अत्याचारीको कारखानोंमें अथवा व्यक्तिगत नौकरीपर ही भरती करना चाहिये। दलाली, आढ़त और व्यापार आदिका भी सम्बन्ध उनसे नहीं जोड़ना चाहिये तथा कोई अत्याचारी ताँगा-इक्का, रिक्शा, मोटर आदि सवारी चलानेवाला हो तो

उसकी सवारीपर नहीं बैठना चाहिये। मतलब यह है कि जहाँतक हो सके, किसी प्रकारसे भी अत्याचारीको जरा भी न तो आर्थिक मदद देनी चाहिये और न उससे किसी प्रकारका सम्बन्ध ही रखना चाहिये। ऐसा करनेके लिये कानूनकी दृष्टिसे भी कोई हमें बाध्य नहीं कर सकता। इसपर भी यदि हम अत्याचारीके कामोंमें किसी प्रकारसे भी सहयोग देते हैं अथवा उसकी चीजें खरीदते हैं तो यह हमारा अन्याय, कायरता और अर्थपरायणता है। किन्तु ऐसा असहयोग भी राग-द्वेषसे रहित होकर शुद्ध भावसे ही करना चाहिये। क्योंकि जो ईश्वरपर निर्भर होकर आपत्तिकालमें भी अपने धर्मका त्याग नहीं करता, वही मनुष्य प्रशंसाके योग्य है और वही उच्च कोटिके पुरुषोंकी पंक्तिमें गिना जाने योग्य है।

जो मनुष्य किसीपर अत्याचार नहीं करता और सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत एवं ईश्वरपर निर्भर रहता है, उसके हृदयमें धीरता, गम्भीरता, वीरता आदि भावोंकी जागृति रहती है, इससे वह सदा निर्भय होकर विचरण करता है। उसपर किसी भी अत्याचारीका अत्याचार करनेका कभी साहस ही नहीं होता। यदि अपने किसी पूर्वके संस्कारके कारण कोई अपनेपर अत्याचार कर भी ले तो उसको उसे अपने प्रारब्धका फल मानकर अत्याचारीसे अत्याचारके द्वारा बदला नहीं लेना चाहिये। किंतु संसारके हितके लिये, अत्याचारको मिटानेके लिये शुद्धभावसे अत्याचारीका मुकाबला करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त हरेक भाईको कानूनको खयालमें रखकर व्यायाम तथा अस्त्र-शस्त्र आदिकी विद्याका आत्मरक्षाके लिये शुद्धभावसे

अभ्यास करना चाहिये, पर दूसरोंको पीड़ा देनेके लिये नहीं। अत्याचारियोंके द्वारा पीड़ित जिस किसी भी जाति, धर्म, सम्प्रदायके आतुर नर-नारी हों, उनकी भेदभावसे रहित होकर तन, मन, धन वस्त्र आदिसे सेवा करनेमें विशेष दिलचस्पी लेनी चाहिये। क्योंकि रोगीका इलाज करना, घायलकी मरहम-पट्टी करना, भयभीतको भयमुक्त करना, नंगेको वस्त्र देना, भूखोंको अन्न देना, बेकारोंकी जीविकाका प्रबन्ध कर देना, अनाथ, वृद्ध और अपाहिजको दान देना परम धर्म है। उपर्युक्त धर्मका निःस्वार्थभावसे पालन करनेपर मनुष्य परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

प्रत्येक भाईको यह ध्यान रखना चाहिये कि लोभसे, भयसे अथवा कामसे—किसी भी प्रकार अपने धर्मका त्याग न करे।

महाभारतमें कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गा० ५। ६३)

अर्थात् 'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवनरक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।

इसलिये स्वधर्मका त्याग किसी भी हालतमें न करे; क्योंकि जहाँ धर्म, न्याय और सत्य है, वहीं विजय और वहीं कल्याण है।

सामयिक चेतावनी

बहुत गई थोरी रही, नारायन ! अब चेत ।
काल चिरैया चुग रही निसिदिन आयू खेत ॥
काल करै सो आज कर, आज करै सो अब ।
पलमें परलै होयगी, बहुरि करैगो कब ॥
कबिरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय ।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखौ आय ॥
चलती चाकी देख कै दिया कबीरा रोय ।
दो पाटन बिच आय कै साबित बचा न कोय ॥
दो बातन कूँ याद रख, जो चाहै कल्यान ।
नारायन एक मौत कूँ, दूजे श्रीभगवान ॥

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

(९ । ३३)

'तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।

यह मनुष्य-जीवन क्षणभङ्गुर और दुःखरूप है । आज जिसे हम भला-चंगा और मोटा-ताजा देखते हैं, कल ही हम उसके बारेमें सुनते हैं कि अचानक उसके हृदयकी गति बंद हो गयी और उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी । हम जीवनमें अनेक प्रकारके मनसूबे बाँधते हैं, जमीन-आसमानको एक करनेकी चेष्टा करते हैं परन्तु मृत्युका निर्दय हाथ सहसा आकर हमारे मनके महलोंको ढहा देता है और हमारी सारी स्कीमें यों ही पड़ी रह जाती हैं। जीवनकी अपेक्षा मृत्यु ही अधिक निश्चित है । हम कितने दिन जियेंगे, यह कोई नहीं बता सकता; परन्तु हमारी मृत्यु निश्चित है । जो जन्मा है, वह मरेगा अवश्य । किसी कविने कहा है—

नौ द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन।
रहनेको आचरज है, गए अचंभा कौन॥

श्वास आया-आया, न आया । इसका कौन भरोसा है। जरा-सा बुखार आया, न्यूमोनिया हो गया, चलते बने । जरा-सा फोड़ा हुआ, उसमें जहर पैदा हो गया और वह जहर सारे शरीरमें फैलकर हमारी मृत्युका कारण बन गया । बच्चोंसे लेकर बुड्ढों तकका यही हाल है । बुड्ढे तो फिर भी रोगके आक्रमणको कुछ दिन सहते हुए देखे जाते हैं । आजकलके नौजवानोंकी तो यह हालत है कि दस दिन मियादी बुखार आया कि समाप्त । रोज दिन ऐसी मौतें देखने और सुननेमें आती हैं, जिन्हें देख-सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं, दिल दहल उठता है । किसीका छः ही महीने पहले विवाह हुआ था, तो कोई अपने बुड्ढे माँ-पिताका इकलौता लाल था, उनकी आँखोंका तारा था, उनके जीवनका

का एकमात्र सहारा था। फिर आजकल तो मृत्यु और भी सुलभ हो गयी है। कहीं बाढ़ आयी और गाँव-के-गाँव एक साथ बह गये। लोग सोये-के-सोये रह गये। एक भूकम्प आया और उससे नगर-का-नगर ध्वंस हो गया। शहरमें हैजा फैला, प्रतिदिन सैकड़ों आदमियोंका सफाया होने लगा। कभी रण-चण्डी भयानक रूप धारणकर लाखों मनुष्योंका संहार कर रही है तो कभी प्रतिदिन हजारों नर-नारी भूखकी ज्वालासे तड़प-तड़पकर मर रहे हैं! जिस-पर हम इतना नाज करते हैं, इतना इतराते हैं, जिसके बलपर हम किसीको कुछ नहीं समझते, पीढ़ियोंका प्रबन्ध करते हैं, हमारे उस जीवनका यह हाल है। फिर भी हम चेतते नहीं, क्षणिक विषय-सुखोंके पीछे इस अमूल्य जीवनको, जिसे शास्त्रोंने देवदुर्लभ बताया है, व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं। हमारा एक-एक श्वास इतना अमोल है कि उसे हम लाख रुपया देकर भी खरीद नहीं सकते। ऐसी अमूल्य निधिको हम आलस्य-प्रमाद, मौज-शौक, ऐश-आराम और भोग-विलासमें गँवा रहे हैं मानो हीरेको कौड़ियोंके मोल बेच रहे हैं। इससे बढ़कर हमारी मूर्खता क्या होगी।

यह जीवन केवल अनित्य और क्षणभङ्गुर ही नहीं, दुःख-रूप भी है। हम जिधर दृष्टि दौड़ाते हैं, उधर हमें दुःख-ही-दुःख नजर आता है। बचपनसे लेकर मृत्युपर्यन्त दुःखका ही एकच्छत्र साम्राज्य है। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिने हमें चारों ओरसे जकड़ रक्खा है। जन्ममें दुःख, मृत्युमें दुःख, जरामें दुःख और व्याधि तो दुःखरूप है ही। जन्मते ही, बल्कि यों कहिये कि माताके गर्भमें आते ही इस जीवको दुःख चारों ओरसे आ घेरते हैं। माताके

उदरमें जबतक यह जीव रहता है, तबतक घोर कष्टका अनुभव करता रहता है। वह चारों ओर मांस-मज्जा, रुधिर-कफ-मल-मूत्र आदि दूषित एवं दुर्गन्धयुक्त पदार्थोंसे घिरा रहता है। हिल-डुल सकता नहीं। ऊपर टाँगें और नीचे सिर किये सिकुड़ा हुआ पड़ा रहता है। सुखपूर्वक साँस भी नहीं ले पाता। नाना प्रकारके कृमि और कीटाणु उसकी कोमल त्वचाको नोचते रहते हैं। माता यदि भूलसे कोई क्षारयुक्त अथवा दाहक पदार्थ खा लेती है तो उससे गर्भस्थ शिशुकी त्वचा जलने लगती है। वह चुपचाप इन सारे कष्टोंको सहता रहता है। उस समय उसकी कोई कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। फिर उसे पूर्वजन्मोंकी स्मृति जाग्रत् होकर अलग सताने लगती है। इस प्रकार वह अत्यन्त दुखी होकर अपने गर्भजीवनको व्यतीत करता है। गर्भसे बाहर निकलते समय भी उसे घोर यन्त्रणा होती है, वह चेतनाशून्य हो जाता है। उस समय कई बालक तो उस कष्टको न सह सकनेके कारण प्राण त्याग देते हैं। मृत्युके समयका दुःख भी हम सब लोग बराबर देखते ही हैं। उस समय मनुष्यकी कैसी असहाय अवस्था हो जाती है! उसके रोम-रोमसे नैराश्य टपकने लगता है। वह कैसे कष्टसे प्राण त्यागता है। जिन घर-जमीन, स्त्री-पुत्र, धन-दौलतको उसने बड़ी ममतासे पाला-पोसा था, अपने जीवनसे भी बढ़कर समझा था और जिनकी रक्षाके लिये उसने नाना प्रकारके कष्ट सहे थे, लोक-परलोककी भी परवा नहीं की थी, जिनके पीछे उसने न जाने कितनोंका जी दुखाया था, कितनोंका हक मारा था, कितनोंसे वैर बाँधा था, कितनोंसे मुकद्मेबाजी की थी, उन्हें सहसा बाध्य होकर त्यागनेमें

उसे कितने महान् कष्टका अनुभव होता है—इसे मरनेवाला ही जानता है । हम सबने अपने पूर्वजन्मोंमें इस कष्टका अनुभव किया है और इस जीवनका अन्त होनेपर हममेंसे अधिकांशको फिर करना होगा । बुढ़ापेके दुःख भी हमसे छिपे नहीं हैं । वृद्धावस्थामें मनुष्यकी सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, दृष्टि मन्द हो जाती है, कानोंसे ठीक तरह सुनायी नहीं देता, चमड़ी सिकुड़ जाती है, दाँत जवाब दे देते हैं, बिना सहारेके चलना कठिन हो जाता है, घरके लोग अनादर करने लगते हैं; बुद्धि भी सठिया जाती है और नाना प्रकारकी चिन्ताएँ आ घेरती हैं । व्याधिका तो किसी-न-किसी रूपमें थोड़ा-बहुत हम-सभीको अनुभव है । हमारे शास्त्रकारोंने इस शरीरको व्याधियोंका घर ही बताया है—'शरीरं व्याधिमन्दिरम् ।' भगवदवतारों और कारक पुरुषोंको छोड़कर प्रायः सभीको न्यूनाधिक रूपमें व्याधियों-का शिकार होना पड़ता है । बड़े-बड़े महात्माओं और लोकोपकारी व्यक्तियोंका भी व्याधियोंसे पिण्ड नहीं छूटता । स्वस्थ-से-स्वस्थ और बलवान्-से-बलवान् मनुष्यको भी इनके आगे सिर झुकाना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवनमें चारों ओर दुःखका ही बोलबाला है। जिसे हम सुख कहते हैं, वह भी दुःख मिश्रित, परिणाममें दुःखदायी और वास्तवमें दुःखरूप ही है ।* वियोग तो सबके साथ

---

* महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।' (२ ।१५)

(१) प्रत्येक सुखका परिणाम दुःखदायी होता है। (२) इसके

लगा ही हुआ है। जिस वस्तुके समागमसे हमें सुखकी अनुभूति होती है, वही वियोग होनेपर दुःखका कारण बन जाती है। स्त्री-पुत्र, धन-मान, पद-प्रतिष्ठा, ऐश-आराम—सबका यही हाल है। एक धनको ही ले लीजिये। धनके उपार्जनमें कष्ट होता है, उसकी रक्षा करनेमें कष्ट उठाना पड़ता है, उसके बढ़ानेमें भी कष्टोंका सामना करना पड़ता है, उसे अनिच्छापूर्वक त्यागनेमें—खर्च करनेमें भी कष्ट होता है और उसके नाश होनेमें—चले जानेमें तो कष्ट होता ही है। यदि राजा उसे छीन ले, दण्ड अथवा करके रूपमें ले ले, चोर चुरा ले जाय, अग्नि जला दे, पानी बहा ले जाय अथवा उसे सुरक्षित दशामें छोड़कर हमींको इस संसारसे विदा होना पड़े—प्रत्येक स्थितिमें हमें महान् दुःख होगा।

अब प्रश्न यह होता है कि इस दुःखसे बचनेका उपाय क्या है? शास्त्र कहते हैं कि स्वेच्छापूर्वक विषयोंके त्यागमें ही सुख है। भोग-बुद्धिसे विषयोंका संग्रह दुःखका मूल है। हमलोगोंने भ्रमसे विषयोंमें सुख मान रखा है। वास्तवमें जिसके पास जितना अधिक विषयोंका संग्रह है, वह उतना ही दुखी है और जो जितना अपरिग्रही है,

---

अतिरिक्त प्रत्येक सुखमें तारतम्य तो होता ही है। ऐसी दशामें थोड़े सुखवालेको दूसरेका अधिक सुख देखकर स्वाभाविक ही ईर्ष्या होती है और ईर्ष्या दुःखरूप ही है। (३) इतना ही नहीं, जो सुख प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है, उसकी स्मृति बड़ी दुःखदायिनी होती है—उसे याद कर-करके मनुष्य बड़ा दुखी हो जाता है। (४) फिर कोई भी सुख दुःखसे रहित नहीं होता, प्रत्येकमें दुःखका मिश्रण अवश्य होता है। (५) इसके सिवा सुखी मनुष्य भी सात्त्विक, राजस एवं तामस वृत्तियोंके संघर्षसे दुखी रहता है। इन पाँच कारणोंसे विवेकी पुरुष सब कुछ दुःखमय ही देखते हैं।

वह उतना ही सुखी है। धनकी तीन गतियाँ मानी गयी हैं—दान, भोग और नाश ! हमारे शास्त्रोंने दानको ही सर्वोत्तम गति माना है, यही धनका सर्वश्रेष्ठ सत्य उपयोग है। धनकी रक्षाका भी सर्वोत्तम उपाय दान ही है। वही धन सुरक्षित है, जिसे हम दूसरोंकी सेवामें, भगवान्‌की सेवामें लगा देते हैं। धनका नाश एक-न-एक दिन अवश्यम्भावी है—चाहे उसे हम भोगोंके निमित्त खर्च करके नष्ट कर दें, चाहे उसे दूसरे हड़प जायँ, सरकार करके रूपमें ले ले अथवा हम ही उसे छोड़कर संसारसे चल बसें। हर हालतमें हमारा उससे वियोग होगा ही। उसे अक्षय बनानेका—स्थायी बनानेका एक-मात्र उपाय उसे भगवान्‌की सेवामें—जनता-जनार्दनकी सेवामें अथवा दरिद्र-नारायणकी सेवामें लगाना ही है। सच्ची बात तो यह है कि हमारा सारा धन भगवान्‌का है। लक्ष्मीदेवी—जो धनकी अधिष्ठात्री देवी हैं—उनकी अर्द्धाङ्गिनी हैं, चरण-सेविका हैं, उन्हें सबसे अधिक सुख भगवान्‌के चरण-प्रान्तमें ही मिलता है। इसीलिये वे भगवान्‌के चरणोंको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाना चाहतीं, उन्हींसे सर्वदा लिपटी रहती हैं। ऐसी दशामें प्रत्येक लक्ष्मीपात्रका कर्तव्य है कि वह उन्हें माता समझकर भगवान्‌के चरणोंमें ही नियुक्त कर दे और उनके प्रसादरूपमें ही विषयोंका शरीर-निर्वाहमात्रकी दृष्टिसे सेवन करे। भगवान्‌की वस्तुका भगवान्‌की सेवामें विनियोग न करके जो उसे केवल अपने कामोपभोगमें लेता है, वह तो अपराधी है, दण्डका पात्र है। पञ्च महायज्ञका भी अभिप्राय यही है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३।१३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। और जो पापीलोग अपना शरीर पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।' आगे चलकर ऐसे लोगोंको भगवान्ने अघायु—पापजीवी कहा है और उनका संसारमें जीना व्यर्थ बताया है—'अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति (३।१६)। श्रुति भगवती भी कहती है—'केवलाघो भवति केवलादी।'

परन्तु यदि ऐसा न हो सके—हम सब कुछ भगवान्का न समझ सकें तो फिर कम-से-कम अपनी आयका—अपनी सम्पत्तिका षष्ठांश तो अवश्य ही भगवान्की सेवामें—धर्मकार्योंमें लगायें। यह हमारे ही किये हो सकता है। धर्मको शास्त्रोंने पङ्गु बताया है—वह हमारे चलाये ही चल सकता है। राजाकी तरह वह हमसे बलपूर्वक कर वसूल नहीं करता। हमें चाहिये कि जो हम भोगोंके निमित्त धनको पानीकी तरह बहाते हैं, व्याह-शादियोंमें तथा अन्य सामाजिक कार्योंमें अनाप-शनाप-खर्च करते हैं, कीर्तिके लिये अथवा उपाधि आदिके रूपमें सरकारकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये बड़ी-बड़ी रकमें चंदेके रूपमें देते हैं तथा सरकारी अफसरोंको बड़ी-बड़ी पार्टियाँ देते हैं, ऐसा न करके अपनी आयका अथवा सम्पत्तिका कम-से-कम षष्ठांश लोकोपकारके कार्योंमें लगायें, अपने कारबारके कई विभागोंमेंसे एक विभागको अथवा एक ही विभाग हो तो

उसके एक हिस्सेको लोकसेवक ट्रस्टके रूपमें परिवर्तित कर दें, ताकि उसकी सारी-की-सारी आय लोकोपकारके कार्योंमें खर्च की जा सके और उसपर हमारा निजी स्वत्व बिल्कुल न रहे। कहना न होगा कि उपर्युक्त कार्योंके निमित्त धनव्यय करनेमें सरकार भी हमें प्रोत्साहन देती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि धार्मिक एवं लोकोपकारके कोषोंपर सरकारकी ओरसे 'इन्कम-टैक्स' आदि किसी प्रकारका कर नहीं लिया जाता। आजकल 'इन्कम-टैक्स' आदि करसे बचनेके लिये हमारे बहुत-से व्यापारी भाई 'झूठ-कपटका' आश्रय लेते देखे जाते हैं। इस प्रकार अन्यायसे लाखों रुपयोंकी जो बचत की जाती है, वैसा न करके लोकोपकारार्थ ट्रस्ट बनाकर उस धनको लोकोपकारमें ही खर्च करें। अपने निजी कार्यमें कतई नहीं। इस प्रकार लोकोपकारके कार्योंमें जो कुछ व्यय किया जायगा, वह अक्षय हो जायगा। हम भोग-बुद्धिसे जो कुछ बटोरते हैं, वह तो हमारे मरनेके बाद यहीं पड़ा रह जायगा, उसमेंसे एक पाई भी हमारे साथ नहीं जा सकेगी, एक सूईपर भी हमारा अधिकार नहीं रह जायगा। किन्तु धर्मके लिये हम जो कुछ भी खर्च करेंगे, वह परलोकमें भी हमें प्राप्त होगा। यदि हम किसी फलकी कामनासे ऐसा करेंगे,तो मरनेके बाद हमें स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होगी—जहाँके सुख यहाँके सुखोंकी अपेक्षा कई गुने अधिक हैं। और यदि भगवत्सेवाकी भावनासे—भगवदर्थ अथवा भगवदर्पण-बुद्धिसे या निष्कामभावसे हम लोकोपकारी कार्योंमें धनव्यय करेंगे तो वही हमारे कल्याणका परम साधन बन जायगा—हम जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये छूटकर भगवान्‌में विलीन हो जायँगे, अथवा

भगवान्‌के परमधाममें चले जायँगे, जहाँ अक्षय सुखका निवास है और दुःखका लेश भी नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' (२।४०) धर्मके निमित्त जो कुछ निष्कामभावसे व्यय किया जाता है, उसकी बीमा हो जाती है—उसे चोर चुरा नहीं सकते, डाकू लूट नहीं सकते, राजा छीन नहीं सकता और अन्यायी हड़प नहीं सकता। परन्तु हम अज्ञानी जीव चोरी, डाका, राजदण्ड, अग्नि आदिका उपद्रव—सब कुछ सह लेते हैं, पर स्वेच्छासे धर्मका दण्ड स्वीकार नहीं करते। किसीने कहा है—

> अगिन पलीता राजदँड, चोर मूस धन खाय।
> इतना तो दँड नर सहै, हरिदँड सहा न जाय॥

दानके लिये यों तो अनेकों मार्ग हैं; परन्तु इस समय सबसे अधिक आवश्यकता हमारे इस देशमें भूखोंको अन्न, वस्त्रहीनोंको वस्त्र तथा रोगियोंको औषध देनेकी, जिज्ञासुओं और विद्यार्थियोंको गीता-रामायण आदि सद्ग्रन्थोंके वितरणद्वारा सहायता करनेकी तथा चारा आदिके द्वारा गौओंकी रक्षा करनेकी है। आज देशके कई भागोंमें अन्नका बड़ा भारी कष्ट दिखायी दे रहा है। अन्नके बिना हाहाकार मचा हुआ है, प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें हमारे नेत्रोंके सामने हमारे ही-जैसे हमारे बहिन-भाई और बच्चे भूखके मारे बेमौत मर रहे हैं। कहीं सियार और कुत्ते उन्हें जीते-जी नोचते सुने जाते हैं और वे उनसे अपनी रक्षा नहीं कर पाते। भूखकी भयानक यन्त्रणासे बचनेके लिये लोग फाँसी लगाकर तथा रेलकी पटरियोंपर लेटकर प्राण देते देखे-सुने जाते हैं। माताएँ अपने

बच्चोंको त्याग देती हैं। कई जगह लोग भूखसे पीड़ित होकर अपनी वयस्क कन्याओंको बेच रहे हैं। कलकत्ते आदि नगरोंमें लोग सड़कोंपर पड़े कराहते नजर आते हैं। निर्बलताके कारण वे विशेष हिल-डुल भी नहीं सकते।* यह करुण दृश्य देखकर पत्थरका हृदय भी पसीज जाता है। हमारी माता और बहिनोंके पास लज्जा ढकनेके लिये वस्त्र भी नहीं है और भूखसे निर्बल नर-नारी नाना प्रकारके रोगोंके शिकार हो रहे हैं। इस समय हमारे धनी भाइयोंका सबसे बड़ा कर्तव्य है खुले हाथों अपने दुःखी गरीब भाइयोंकी सहायता करना, उन्हें मौतके मुँहसे बचाना, अन्नहीनोंके लिये अन्नकी, वस्त्रहीनोंके लिये वस्त्रकी, रोगियोंके लिये औषधकी तथा विद्यार्थियोंके लिये विद्याकी व्यवस्था करना तथा जो लोग दान न लेना चाहें उनके लिये सस्ते अनाजकी दूकानें खोलना।

गोजातिपर भी इस समय हमारे देशमें बड़ा संकट है। प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें हमारे देशकी दूध देनेवाली जवान गायें, बछिया तथा बैल हमारे ही सामने कटते हैं और हम अपनी आँखों यह सब देखकर भी इसका कुछ भी प्रतिकार नहीं कर रहे हैं। बहुत-सी गायें तो चारे आदिके अभावसे मर रही हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उनके लिये चारे आदिकी समुचित व्यवस्था करें और इस प्रकार उनके बढ़ते हुए ह्रासको रोकनेकी चेष्टा करें। गोधन हमारा सबसे बड़ा धन है—उससे हमारा धर्म-कर्म सब कुछ चलता है तथा हमारे शरीरोंका पोषण होता है। गाय और बैलोंके बिना हमारा जीवन ही कठिन हो जायगा। ऐसी दशामें प्रत्येक भारतवासीका

* यह लेख बंगालके घोर दुर्भिक्षके समय लिखा गया था।

यह कर्तव्य हो जाता है कि वह गौओंकी रक्षाके लिये तन, मन और धनसे भी कटिबद्ध हो जाय। प्रत्येक भारतीय गृहस्थको चाहिये कि वह कष्ट सहकर भी कम-से-कम एक गौ अपने घरमें अवश्य रक्खे। जिस समय भारतमें गौओंकी अधिकता थी, उस समय हमारा यह भारतवर्ष सुख-समृद्धिसे पूर्ण था। यहाँ दूध-दहीकी नदियाँ-सी बहती थीं। जिस मक्खन और घीके आज हमलोगोंको दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं, उसे भगवान् श्रीकृष्ण तो बाल्यावस्थामें बंदरोंको भी लुटाते थे। अकेले नन्दबाबाके यहाँ नौ लाख गायें थीं और एक-एक राजा लाख-लाख गायोंका दान कर देते थे। आज हमारे गो-धनका जो भयंकर ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है, वह हमारे ही प्रमादका दुष्परिणाम है। हमें चाहिये कि अब भी चेतें और इस लुटते हुए धनको बचानेकी चेष्टा करें।

प्राचीन समयमें लोग गो-रक्षाके लिये बड़े-बड़े कष्ट सहनेके लिये तैयार रहते थे, गौके प्राण बचानेके लिये अपने प्राणोंकी भी आहुति देनेमें नहीं हिचकते थे। महाराज दिलीपकी गो-भक्ति और अर्जुनके गो-रक्षा-व्रत इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। राजा दिलीप चक्रवर्ती सम्राट् थे। गुरु वसिष्ठकी आज्ञासे उन्होंने उनकी गौ नन्दिनीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया। इतने बड़े सम्राट् होनेपर भी उन्हें गो-सेवा करनेमें लज्जा नहीं आयी। वे स्वयं उसे चरानेके लिये जंगलमें ले जाते और इष्टदेवीकी भाँति उसकी सेवामें दत्तचित्त रहते। वे उसके बैठनेपर बैठते, खड़े होनेपर स्वयं खड़े हो जाते, उसके भरपेट चर लेनेपर ही स्वयं अपनी भूख शान्त करते और उसको जल पिलाकर ही स्वयं जल ग्रहण करते। एक

दिन नन्दिनी हरी-हरी घासोंसे सुशोभित हिमालयकी कन्दरामें प्रवेश कर गयी। उस समय उसके हृदयमें तनिक भी भय नहीं था। राजा दिलीप हिमालयके सुन्दर शिखरकी शोभा निहार रहे थे। इतनेमें ही एक सिंहने आकर नन्दिनीको बलपूर्वक धर दबाया। राजाको उस सिंहके आनेकी आहटतक नहीं मालूम हुई। सिंहके चंगुलमें फँसकर नन्दिनीने दयनीय स्वरमें बड़े जोरसे चीत्कार किया। राजाने सहसा पर्वतकी ओरसे दृष्टि हटाकर गौके चिल्लानेका कारण जानना चाहा। उन्होंने देखा, गौका मुख आँसुओंसे भीगा हुआ है और उसके ऊपर भयङ्कर सिंह चढ़ा हुआ है। यह दु:खपूर्ण दृश्य देखकर राजा व्यथित हो उठे। उन्होंने सिंहके पंजेमें पड़ी हुई गौको फिरसे देखा और तरकससे एक बाण निकालकर उसे धनुषकी डोरीपर रक्खा तथा सिंहका वध करनेके लिये धनुषकी प्रत्यञ्चाको खींचा। इसी समय सिंहने राजाकी ओर देखा। उसकी दृष्टि पड़ते ही उनका सारा शरीर जडवत् हो गया। अब उनमें बाण छोड़नेकी शक्ति न रही। इससे वे बड़े विस्मित हुए। जब राजाने देखा कि और किसी उपायसे गौकी रक्षा होनी कठिन है, तब वे स्वयं जाकर सिंहके सामने पड़ गये और उससे कहने लगे कि 'तू इस गायको छोड़ दे और इसके बदलेमें मेरे मांससे अपनी भूख शान्त कर ले।' वह सिंह और कोई नहीं था, नन्दिनीकी माया थी। राजाकी परीक्षाके लिये ही उसने यह माया रची थी। राजाके इस अनुपम त्यागको देखकर नन्दिनी प्रसन्न हो गयी। थोड़ी देरके बाद राजाने देखा कि कहीं कुछ नहीं है, अकेली नन्दिनी मौजसे घास चर रही है।

अर्जुनके गोरक्षा-व्रतकी बात भी प्रसिद्ध ही है। देवी द्रौपदीके सम्बन्धमें देवर्षि नारदके उपदेशसे पाण्डवोंमें परस्पर यह तय हो गया था कि द्रौपदी पारी-पारीसे पाँचों भाइयोंके पास रहेंगी और जिस समय वे एक भाईके पास एकान्तमें होंगी, उस समय कोई दूसरा भाई यदि उनके कमरेमें चला जायगा तो उसे बारह वर्षतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वनमें रहना होगा। एक समयकी बात है, कुछ लुटेरे एक ब्राह्मणकी गौको चुराकर लिये जा रहे थे। ब्राह्मणने आकर अर्जुनके सामने पुकार की। अर्जुनके धनुष-बाण उस समय महाराज युधिष्ठिरके कमरेमें थे, जो उस समय देवी द्रौपदीके साथ एकान्तमें थे। अर्जुन धर्म-संकटमें पड़ गये। यदि वे शस्त्र लेने युधिष्ठिरके कमरेमें जाते हैं तो नियम-भङ्ग होता है, जिसके दण्डस्वरूप उन्हें बारह वर्षका वनवास भोगना पड़ता है; और यदि वे अपने धनुष-बाण नहीं लाते तो ब्राह्मणकी गौकी रक्षा नहीं हो सकती। अन्तमें उन्होंने दोनों पक्षोंके बलाबलका विचार करके यही निश्चय किया कि नियम-भङ्गके लिये कठोर-से-कठोर दण्ड भोगकर भी मुझे गौकी रक्षा हर हालतमें करनी चाहिये। यह निश्चय करके वे चुपचाप महाराज युधिष्ठिरके कमरेमें चले गये और अपने धनुष-बाणको ले आये। ब्राह्मणकी गौको डाकुओंके हाथसे छुड़ाकर ब्राह्मणके सुपुर्द कर दिया और फिर महाराज युधिष्ठिरके पास आकर उनसे नियम-भङ्गके दण्डरूपमें बारह वर्षतक वनमें रहनेकी आज्ञा माँगी। आज्ञा ही नहीं माँगी, युधिष्ठिरके समझानेपर भी न रुके और वनवासके लिये चल दिये तथा इस प्रकार अपने लिये कठोर दण्ड स्वीकार करके भी अपने गोरक्षा-व्रतको निबाहा। जिन दिनों हम भारतवासी गौ-माताके लिये इस प्रकार

प्राण देने और घोर-से-घोर कष्ट उठानेके लिये तैयार रहते थे, उन्हीं दिनों हम अपनेको सच्चा गोरक्षक कह सकते थे। आजकल तो हमलोग गो-रक्षाका खाली दम भरते हैं।

गो-रक्षाके लिये यह आवश्यक है कि हमलोग गौओंके प्रति अपने कर्तव्यको समझें, उनके लिये चारा सुगमतासे मिल सके— इसके लिये अधिक-से-अधिक गोचरभूमि छुड़वानेका प्रयत्न करें, गौएँ, बछड़े और बैल कसाइयोंके हाथोंमें तथा बूचड़खानोंमें न जाने पावें—इसके लिये प्राणपणसे चेष्टा करें, गौओंके पालन-पोषण तथा आरामका अधिक-से-अधिक ध्यान रक्खें, बूढ़ी तथा ठाठ गायोंकी तथा बछड़ोंकी रक्षाका भी समुचित प्रबन्ध करें, एवं गौओंकी नस्ल सुधारनेके लिये अच्छे-अच्छे साँड़ोंकी व्यवस्था करें। इन सब कामोंके लिये पुष्कल द्रव्यके साथ-साथ उत्साह एवं लगनकी आवश्यकता है। धनकी सहायता तो हमारे धनी भाइयोंको विशेषरूपसे करनी चाहिये। वैश्योंके लिये तो गो-रक्षा एक मुख्य व्यवसाय और धर्म माना गया है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
(१८।४४)

'खेती, गो-पालन तथा व्यापार—ये वैश्यके स्वाभाविक धर्म हैं।' कालके विपर्ययसे खेती और गो-पालन—इन दो कर्मोंको वैश्य-जातिने एक प्रकारसे छोड़ ही रक्खा है, व्यापार ही उनकी जीविकाका प्रधान साधन रह गया है। धार्मिक दृष्टिसे हमारे वैश्य भाइयोंको चाहिये कि व्यापारकी भाँति वे इन दो व्यवसायोंको भी अपनायें, जिससे इनकी भी उन्नति हो। हमारे नगरोंमें लोगोंको शुद्ध दूध

आदि गव्य पदार्थ सुगमतासे मिल सकें, इसके लिये डेरी फार्मोंका बृहद्रूपमें आयोजन करें। धार्मिक दृष्टिके साथ-साथ व्यवसायकी दृष्टिसे भी जब हम गो-पालनके कार्यको हाथमें लेंगे, तभी गौओंकी रक्षा और वृद्धि सम्भव है। गोधन तो हमारी प्रधान सम्पत्ति रही है। पूर्वकालमें धनवानोंकी हैसियत गौओंकी संख्यासे ही आँकी जाती थी। जिसके पास जितनी अधिक गौएँ होती थीं, वह उतना ही सम्पन्न माना जाता था। हमारे यहाँ भूमि और गौ—ये दो ही उत्पादनके प्रधान साधन माने गये हैं। भूमि और गौका परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। गौओंका पालन-पोषण बिना भूमिके नहीं हो सकता। गोचर-भूमियोंकी कमी इस समय गो-जातिके ह्रासका एक प्रधान कारण बन रही है। इसी प्रकार गौओंकी सहायताके बिना भूमि उपजाऊ नहीं हो सकती। आधुनिक विज्ञान-के युगमें भी गोबरके समान और किसी खादका आविष्कार अबतक नहीं हो सका है। भूमिको जोतने तथा बराबर करनेके लिये भी बैल ही अधिक उपयोगमें आते हैं। संस्कृतमें भूमिका एक नाम 'गौ' भी है; क्योंकि पृथ्वी जब-जब अत्याचारोंके भारसे पीड़ित होती है, तब-तब वह गौका रूप धारण कर ब्रह्माजीके सामने अपना दुखड़ा रोती है। इस प्रकार खेती और गो-पालनका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है और एकको दूसरेकी सहायताकी बहुत अधिक आवश्यकता है। वैश्य भाइयोंसे प्रार्थना है कि वे इन दोनों व्यवसायोंको भी अपने हाथमें लेकर इन्हें समुन्नत बनावें।

सारांश यह है कि वर्तमान समय लोक-सेवाके लिये अत्यन्त उपयोगी है। हमारे धनिकसमाजको चाहिये कि इस सुनहरे

अवसरसे लाभ उठाकर अपनी सम्पत्तिका सेवाके कार्योंमें अधिक-से-अधिक उपयोग करें। धनकी सार्थकता इसीमें है कि उसका जनता-जनार्दनकी सेवामें उपयोग किया जाय। यह मौका यदि हाथसे चला गया तो फिर सिवा पछतानेके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। धनके साथ-साथ जीवनका भी कोई भरोसा नहीं है। आज है और कल नहीं। आज यदि हम चल बसे तो फिर यह धन हमारे किस काम आयेगा। इसलिये जीवन रहते इसे सत्कार्योंमें लगा देना चाहिये। कहते हैं—'तुरत दान महापुण्य।' यही बात सभी उत्तम कार्योंके सम्बन्धमें लागू समझनी चाहिये। किसी भी अच्छे कामको कलके लिये नहीं छोड़ना चाहिये, तुरंत कर ही डालना चाहिये। इसीलिये किसी कविने कहा है—

> काल करै सो आज कर आज करै सो अब।
> पलमें परलै होयगी बहुरि करैगो कब॥

हमें ऐसे कई धनियोंका पता है, जिन्होंने परोपकारके लिये बड़ी-बड़ी स्कीमें सोच रक्खी थीं; परंतु इच्छा रहते भी वे अपनी उन स्कीमोंको पूरा नहीं कर पाये। वे अचानक मृत्युके गालमें चले गये। मृत्युपर किसीका वश नहीं चलता। वह किसीकी प्रतीक्षा नहीं करती। इसलिये शरीरमें जबतक श्वास है, तभीतक हमें इसका लाभ उठा लेना चाहिये। मरनेके बाद फिर हम कुछ नहीं कर सकेंगे। वर्तमान जीवनमें हम जो कुछ कमा लेंगे वही आगे हमारे काम आयेगा। यदि जीवनभर हम पाप बटोरनेमें ही लगे रहे एवं न्याय-अन्याय, झूठ-कपट, चोरी और बेईमानीसे अर्थ-संग्रह करनेमें तथा इच्छानुसार भोग भोगनेमें ही हमने अपने

कर्तव्यकी इतिश्री कर दी तो हमारा यह मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही नहीं जायगा, आगेके लिये भी हम बहुत बड़े दुःखका सामान तैयार कर जायँगे।

जो बात व्यक्तिके लिये है, वही समष्टिके लिये भी समझनी चाहिये। आज जगत्में चारों ओर जो हाहाकार मचा हुआ है, उसका कारण क्या है ? पाप ही दुःखका मूल है और धर्म सुखकी जड़ है। हम आज दुःखके बाह्य कारणोंका अनुसन्धान करके उन्हींके दूर करनेमें लगे हुए हैं; इसीसे हमारे दुःख कम होनेके बदले बढ़ते ही जा रहे हैं। जबतक व्याधिका निदान ठीक नहीं होगा, तबतक हम चाहे कितना ही उपचार क्यों न करें, उसमें हमें सफलता नहीं मिल सकती। व्याधिका नाश करनेके लिये हमें उसके मूलका नाश करना होगा। आज जगत् जिस व्याधिसे ग्रस्त है उसका मूल पापोंकी वृद्धि है। जबतक पापोंकी बाढ़ नहीं रुकेगी, तबतक हम कदापि व्याधिमुक्त नहीं हो सकते। अतः यदि हम अपनेको तथा संसारको सुखी देखना चाहते हैं तो हमें यथाशक्ति पापोंसे बचकर धर्म-सञ्चय करना चाहिये। तभी हम और हमारे आस-पासके लोग सुखी रह सकेंगे। भगवान् व्यासने डंकेकी चोट कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥
(महा० स्वर्गा० ५। ६२)

'मैं दोनों भुजाएँ उठा चिल्ला-चिल्लाकर कहता हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। भाइयो ! धर्मसे ही धन और सुखकी

प्राप्ति होती है; फिर क्यों नहीं धर्मका सेवन करते ?' परन्तु हम इन त्रिकालदर्शी महर्षियोंकी हितभरी वाणीको सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं। हम चाहते तो हैं सुख, पर चलते हैं दुःखके रास्ते। चाहते हैं दुःखसे छूटना, पर दुःखके हेतु पापको गले लगाये हुए हैं। महर्षि व्यास यही कहते हैं—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

यह मनुष्य-देह हमें बड़े पुण्योंसे मिला है। इतना ही नहीं, भारतवर्ष-जैसा देश, हिंदू-धर्म-जैसा धर्म और कलियुग-जैसा युग— हमें प्राप्त हुआ है। महात्माओंने कलियुगको सभी युगोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ बताया है। अन्य युगोंकी अपेक्षा इसमें कल्याण बहुत सुगमतासे हो सकता है। गोसाईं तुलसीदासजीने कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

ऐसे अपूर्व संयोगको पाकर भी यदि हम सच्चे सुखसे वञ्चित रहे, अनित्य विषय-सुखोंमें ही रमा किये और पाप बटोरनेमें ही यदि हमने अपना अमूल्य जीवन खो दिया तो फिर हमसे बढ़कर मूर्ख और कृतघ्न कौन होगा ? गोस्वामी तुलसीदासजीने ऐसे लोगोंको आत्महत्यारा कहा है। वे कहते हैं—

जो न तरइ भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

सच्चा सुख केवल परमात्मामें है। इसलिये जो सच्चा सुख

चाहते हैं, उन्हें अन्य सब ओरसे मुँह मोड़कर एकमात्र परमात्माकी ही शरण लेनी चाहिये—उन्हींमें मन लगाकर उन्हींकी भक्ति, उन्हींकी सेवा करनी चाहिये। जगत्‌को जनार्दन समझकर जगत्‌की सेवा करना भी भगवान्‌की ही सेवा है। फिर हमारे लिये सर्वत्र कल्याण-ही-कल्याण है। जो लोग परमात्मासे विमुख रहकर विषयोंमें ही मन लगाये रहते हैं, उन अज्ञानी जीवोंके लिये क्या कहा जाय। उनकी दशा तो उस अबोध विधवा बालिकाकी-सी है, जिसे पति-वियोगके दुःखका कुछ भी अनुभव नहीं होता। वह तो सदाकी भाँति खाने-पीने और खेलनेमें मस्त रहती है। उसे पता नहीं रहता कि आगे चलकर उसे जीवनमें कैसे-कैसे कष्टोंका सामना करना पड़ेगा, कैसी-कैसी विपत्तियाँ झेलनी होंगी। उसके माता-पिता, सगे-सम्बन्धी एवं अड़ोसी-पड़ोसी उसकी दशापर तरस खाते हैं, रोते-कलपते हैं और उसके भावी कष्टोंका स्मरण करके विसूरते हैं। परंतु वह भोली-भाली बालिका उनके इस प्रकार रोने-धोनेका कारण नहीं समझ पाती। इसी प्रकार भगवद्विमुख जीवोंको देखकर संत-महात्मा उनकी दशापर तरस खाते हैं और उन्हें आनेवाली विपत्तिकी सूचना देते हैं; परन्तु फिर भी वे अज्ञानी जीव चेतते नहीं। अपने राग-रंग, भोग-विलासमें ही भूले रहते हैं। हमें चाहिये कि उन महात्मा पुरुषोंकी चेतावनीपर ध्यान देकर समय रहते-रहते चेत जायँ; नहीं तो फिर हमारी वही दशा होगी।

का बरषा सब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें॥

ईश्वर और धर्म क्यों ?

वर्तमान युग तर्कप्रधान युग है। जो बात तर्ककी कसौटीपर खरी न उतरे, उसे आँख मूँदकर माननेके लिये बीसवीं शताब्दीके प्रायः मनुष्य तैयार नहीं हैं। किसी भी वस्तुका अस्तित्व स्वीकार करनेके पूर्व उसके मनमें यही जिज्ञासा उत्पन्न होती है—क्यों और किसलिये ? ईश्वर और धर्मकी बात भी जब उससे कही जाती है, तब वह यही प्रश्न करता है—'ईश्वर और धर्मको हम क्यों मानें उनपर विश्वास करनेसे हमें क्या लाभ है ?' बात बिल्कुल ठीक है यदि ईश्वर और धर्मको माननेसे हमें कोई लाभ नहीं और उन्हें न माननेसे हमारी कोई हानि नहीं होती तो फिर हम उन्हें क्यों मानें ? प्रस्तुत निबन्धमें यही दिखलानेकी चेष्टा की जायगी कि ईश्वर और धर्मको माननेमें लाभ-ही-लाभ है और न माननेमें हमारी अत्यन्त हानि है।

आजके तार्किक मनुष्यका पहला प्रश्न यही होता है—'ईश्वरको हम क्यों मानें ?' इसका उत्तर संक्षेपमें यही है कि वेद-पुराणादि हिंदूशास्त्र, ईसाई-मुसल्मान आदि अन्यान्य मजहबोंके धर्मग्रन्थ तथा प्रायः सभी मतोंके प्रवर्तक, सम्प्रदायाचार्य तथा

महापुरुष एक स्वरसे ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। इन सबकी सम्मिलित अनुभूतिके सामने नास्तिकोंके निषेधका क्या मूल्य है। यहाँ वादी यह कह सकता है कि 'जिस प्रकार वेदादि शास्त्रों तथा अन्य मजहबोंके धर्मग्रन्थोंमें ईश्वरके अस्तित्वका समर्थन करनेवाले वाक्य मिलते हैं, उसी प्रकार नास्तिकोंके ईश्वर-निषेधक वाक्य भी पाये जाते हैं। जिस प्रकार आस्तिक अपनी अनुभूतिको सत्य मानता है, उसी प्रकार नास्तिक अपनी अनुभूतिको ठीक समझता है। ऐसी दशामें किसकी अनुभूतिको प्रमाण माना जाय?' इसका उत्तर यह है कि नास्तिककी अनुभूतिकी अपेक्षा आस्तिककी अनुभूति बलवती होती है। असलमें किसी भी वस्तुके सम्बन्धमें 'वह नहीं है' ऐसा कहना तो बनता ही नहीं। जिसने किसी वस्तुका साक्षात्कार कर लिया है, किसी वस्तुको जान लिया है, वह तो अधिकारपूर्वक यह कह सकता है कि अमुक वस्तु है, उसे मैंने देखा है, जाना है, अनुभव किया है; परन्तु जिसने किसी वस्तुको जाना या देखा नहीं है, अनुभव नहीं किया है, वह क्योंकर कह सकता है कि अमुक वस्तु नहीं है। उसका ऐसा कहना अज्ञतापूर्ण एवं दुःसाहस ही नहीं अपितु असत्य भी है। क्योंकि किसी भी वस्तुका अभाव हमें किसी देशविशेषमें तथा कालविशेषमें ही प्रत्यक्ष हो सकता है। सर्वत्र एवं सब कालमें तो हमारी खुदकी भी गति नहीं है। फिर हम निश्चयपूर्वक कैसे कह सकते हैं कि ईश्वर कहीं और किसी कालमें भी नहीं है। जिसकी सर्वत्र गति हो, जो सब कालमें मौजूद हो और जिसे सब कुछ ज्ञात हो, वही यह कहनेका साहस कर सकता है कि अमुक वस्तु

सर्वथा नहीं है। और यदि ऐसा कोई व्यक्ति है तो वही हमारा ईश्वर है। ईश्वरके ही सम्बन्धमें क्यों, सभी अपार्थिव एवं अप्राकृत वस्तुओंके लिये यह कहा जाता है कि अमुक वस्तु देखनेमें नहीं आती, अतः वह नहीं है; कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, देवादि योनियाँ, स्वर्गादि लोक—ये सब वस्तुएँ देखनेमें नहीं आतीं, अतः इनमेंसे कोई भी नहीं है—यह कहना सर्वथा दुःसाहस है। हाँ, यदि कोई यह कहे कि मैंने ईश्वरको देखा नहीं, मुझे ईश्वरका पता नहीं तो यह बिल्कुल सत्य है। ईश्वरके सम्बन्धमें हम अपना अज्ञान, अपना असामर्थ्य प्रकट कर सकते हैं; परंतु यह कदापि नहीं कह सकते कि 'वह नहीं है।'

थोड़ी देरके लिये यह भी मान लिया जाय कि ईश्वरका अस्तित्व संदेहास्पद है, उसके सम्बन्धमें निश्चितरूपसे न यह कहा जा सकता है कि 'वह है' और न यही कहा जा सकता है कि 'वह नहीं है'। परंतु संदेहकी स्थितिमें भी न माननेकी अपेक्षा मानना अधिक लाभदायक है। यदि वास्तवमें ईश्वर नहीं है, तो भी उसे माननेवाला किसी प्रकार घाटेमें नहीं रहेगा। ईश्वरको माननेवाला कम-से-कम पाप एवं अनाचारसे बचा रहेगा; जीवमात्रको ईश्वरका स्वरूप, अंश अथवा संतान मानकर सबके साथ प्रेम एवं सहानुभूतिका बर्ताव करेगा; और इस प्रकार कम-से-कम लोकमें तो उसकी ख्याति होगी, और बदलेमें औरोंसे भी उसे सद्भाव एवं सहानुभूति ही मिलेगी। फलतः उसका जीवन अपेक्षाकृत सुख-शान्तिसे बीतेगा और जगत्‌में भी उसके द्वारा सुख-शान्तिका ही विस्तार होगा। ईश्वरके न होनेपर भी उसके माननेसे इतना लाभ

तो उसे प्रत्यक्ष ही होगा। इसके विपरीत, यदि ईश्वर है तो उसके माननेवाले तो सब प्रकार लाभमें रहेंगे—उसके कानूनको मानकर उसकी आज्ञाके अनुसार चलकर उसके प्रीतिभाजन बनेंगे और फलतः इस लोकमें सुख-शान्तिसे रहेंगे एवं मृत्युके बाद परम शान्तिको प्राप्त होंगे। परंतु ईश्वरके रहते भी जो उन्हें न मानकर उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, उनके जीवोंको सताते हैं, उन्हें जीते-जी कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा तथा मरनेके बाद उनकी कैसी दुर्गति होगी—इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इतना ही नहीं, ईश्वरपर विश्वास करनेसे साधकोंको प्रत्यक्ष लाभ होते देखा जाता है। ईश्वरको माननेवालोंके अंदर धीरता, वीरता, गम्भीरता, सहृदयता, दयालुता, क्षमा, निर्भयता, शान्ति, श्रद्धा, प्रेम आदि सद्गुण अपने-आप आ जाते हैं और दुर्गुण-दुराचारका नाश हो जाता है। जगत्के इतिहासमें, विशेषकर भारतके इतिहासमें, ऐसे अनगिनत उदाहरण मौजूद हैं, जिनमें भगवान्ने अपने विश्वासियोंको प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे अनेक प्रकारके संकटोंसे बचाया है तथा उन्हें सब प्रकारसे सुखी किया है। अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि भगवान् न होते तो उनपर विश्वास करनेवालोंका उनके द्वारा इस प्रकार लौकिक एवं पारमार्थिक लाभ किस प्रकार सम्भव था।

जिस प्रकार सूर्योदय हो जानेपर अन्धकारका समूल नाश हो जाता है, उसका लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहता, उसी प्रकार भगवान्का ज्ञान, भगवान्का साक्षात्कार हो जानेपर अविद्या अथवा अज्ञानका सर्वथा अभाव हो जाता है, मायाका लेश भी नहीं रह

जाता। अन्धकार अथवा अज्ञान कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है; क्योंकि इनकी सत्ता कल्पित मानी है। अतएव ज्ञानरूप प्रकाशका आविर्भाव होते ही अज्ञानरूप अन्धकार सर्वथा विलीन हो जाता है। जब अज्ञान ही नहीं रहता तब उसके कार्यरूप काम-क्रोधादि विकार, दुर्गुण एवं दुराचार तो रह ही कैसे सकते हैं। और जब दुर्गुण-दुराचार नहीं रहे, तब उनके फलरूप, दुःख-शोकादिका भी अत्यन्ताभाव हो जाता है। इस प्रकार परमात्मविषयक ज्ञान अथवा भगवत्साक्षात्कार हो जानेपर माया एवं उसका सारा परिवार— दुःख-शोक, दरिद्रता, दीनता, पराधीनता, ममता-मोह, राग-द्वेष आदि नष्ट हो जाते हैं। सूर्योदय हो जानेके बाद अन्धकार-निवृत्तिके लिये स्वतन्त्र प्रयत्न नहीं करना पड़ता। सूर्योदयके निकट आते ही अन्धकार अपने-आप भागने लगता है और सूर्योदय हो जानेपर तो उसके कहीं पदचिह्न भी नहीं मिलते।

माया जड है, परमात्मा विशुद्ध चेतन-तत्त्व है। अन्धकार एवं प्रकाशकी भाँति दोनों एक दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण हैं। मायाका ही दूसरा नाम प्रकृति है। इस मायाके दो रूप हैं— विद्या और अविद्या। सत्त्वगुण और तमोगुण भी इन्हींके नामान्तर हैं। गीताके अनुसार सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके ही कार्य हैं—'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।' (१४।५)। वेदोंमें आता है कि जीवोंके कर्मोंकी प्रेरणासे इच्छाहीन परमात्मामें एकसे अनेक होनेकी इच्छा प्रकट होती है—'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।' (तैत्तिरीय० २। ६) भगवान्‌के इस सङ्कल्पसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है—यही रजोगुणका स्वरूप

है। जिस प्रकार दहीमें हलचल होनेसे उसमेंसे नवनीत प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर उसमेंसे सत्त्वगुणरूप महत्तत्त्व यानी समष्टि-बुद्धि उत्पन्न होती है। इस बुद्धिकी वृत्ति-विशेषका नाम ही ज्ञान अथवा विद्या है और इसीका विरोधी अज्ञान अथवा अविद्या है; जिसे 'तमोगुण' भी कहते हैं। महत्तत्त्वसे अहंकारकी और अहंकारसे पञ्चतन्मात्राओं अर्थात् सूक्ष्मभूतोंकी उत्पत्ति होती है। इन भूतोंमें अग्निसे अभिव्यक्त होनेवाला जो स्वरूप है, उसीका नाम प्रकाश है और अन्धकार उसका विरोधी है। प्रकाश सत्त्वका कार्य है और अन्धकार तमोगुणका। जो मायातीत विशुद्ध चेतन-तत्त्व है, उसीका नाम निर्गुण निराकार ब्रह्म है। जो बुद्धि-विशिष्ट समष्टिचेतन परमात्माका ज्ञानस्वरूप है, वही सगुण निराकार परमेश्वर है। और उनका जो प्रकाशमय दिव्य विग्रह है, वही सगुण-साकार भगवान् हैं। इन्हींके श्रीविष्णु, श्रीशिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीदुर्गा आदि विविध रूप हैं।

इन सभी रूपोंमें भगवान् अपनेको मायाके पर्देके भीतर छिपाये रखते हैं, इसीलिये ये सब रूप मायाविशिष्ट कहलाते हैं। भगवान् स्वयं श्रीगीताजीमें कहते हैं—

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'

(७। २५)

अर्थात् 'मैं योगमायासे अपनेको छिपाये रखनेके कारण सबके सामने प्रकट नहीं होता।' परंतु जो भगवान्‌के ज्ञानी भक्त हैं, उनसे भगवान् अपनेको छिपा नहीं सकते। उनके सामने वे निरावरण होकर अपने असली रूपमें प्रकट हो जाते हैं। परंतु इसका अर्थ यह नहीं

समझना चाहिये कि भगवान्‌के राम-कृष्णादि विग्रह मायिक हैं, असली नहीं हैं। भगवान्‌के वे सभी स्वरूप उनके अपने स्वरूप हैं, चिन्मय हैं। परंतु जनसाधारणके सामने वे अपनी योगमायाका पर्दा डाले रहते हैं, जिसके कारण लोग उन्हें जन्मने-मरनेवाला साधारण मनुष्य मान लेते हैं—

'मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्'

(गीता ७। २५)

तत्त्वतः भगवान्‌के साकार-निराकार सभी रूप चिन्मय मायातीत ही होते हैं। उनमें रहनेवाले जो अनन्त कल्याणगुण हैं, वे भी चिन्मय, दिव्य—उनके स्वरूपभूत ही हैं और मायिक गुणोंसे अत्यन्त विलक्षण होते हैं। मायिक गुण सब इन्हीं गुणोंके प्रतिबिम्बरूप होते हैं। संसारमें जितने गुण दिखायी देते हैं, देवताओं तथा मनुष्योंमें भी जितने गुण दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब मिलकर भी उस अनन्तदिव्य गुणार्णवकी एक बूँदके आभासके तुल्य भी नहीं हैं। भगवान् श्रीगीताजी-में भी कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

(१०। ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

संसारमें दीखनेवाले गुण घटते-बढ़ते हैं, विनाशी हैं तथा पकड़में आनेवाले हैं। इसके विपरीत, भगवान्‌में रहनेवाले गुण सदा

एकरस रहते हैं, वे भगवान्‌की भाँति ही एकरस, अविनाशी और स्वतन्त्र हैं।

ऐसे अनन्तगुणागार, परमोदार, दयासागर, जीवके परम हितैषी प्रभुके अस्तित्वमें विश्वास करके उनकी एकान्त भक्ति तथा उनके अनुकूल आचरणद्वारा शीघ्र-से-शीघ्र उन्हें पा लेना और उन्हें तत्त्वतः जान लेना ही जीवका परम पुरुषार्थ, सच्चा लाभ है। इसीके लिये हमें यह दुर्लभ मनुष्य-देह प्राप्त हुआ है; उन्हीं करुणावरुणालय, सर्वसुहृद्, सबके माता-धाता-पितामह भगवान्‌की खोजमें यह जीव अनादि कालसे भटक रहा है और इसका भटकना तबतक बंद नहीं होगा, जबतक यह उन्हें पा न लेगा। परंतु यह काम किसी दूसरेके किये नहीं होगा, यह तो जीवको स्वयं ही करना होगा। भगवान् स्वसंवेद्य एवं स्वतः प्रापणीय हैं। अतः उनकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको मृत्युपर्यन्त प्राणपणसे चेष्टा करनी चाहिये। जबतक उसका यह कार्य सिद्ध न हो जाय, तबतक उसे चैन नहीं मिलना चाहिये, किसी दूसरी ओर ताकना भी नहीं चाहिये। विषयोंको पानेके लिये तो सभी लालायित रहते हैं और विषय प्रारब्धानुसार सभी योनियोंमें मिल जाते हैं। परंतु भगवान्‌की प्राप्ति तो केवल मनुष्यजीवनमें ही सम्भव है अतः सब ओरसे चित्तवृत्तिको हटाकर केवल भगवान्‌को पानेके लिये अथक प्रयत्न करना ही मनुष्यमात्रका प्रथम कर्तव्य है। दूसरे सब कर्तव्य इसके सामने गौण हैं। विषयोंमें सुखकी प्राप्तिके लिये चेष्टा करना तो मनुष्यके लिये वैसा ही है, जैसा किसी बालकका सूर्य अथवा चन्द्रमाके प्रतिबिम्बको पकड़नेका प्रयत्न करना। प्रतिबिम्बको पकड़नेके लिये प्रयत्नशील बालकके बिम्ब तो हाथ लगता ही नहीं, प्रतिबिम्ब भी उसकी पकड़में नहीं आता

क्योंकि उसकी वास्तविक सत्ता ही नहीं है। केवल छटपटाना ही हाथ लगता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण सुखोंके आकर (खान) परमानन्दरूप श्रीभगवान्को छोड़कर मायिक विषय-सुखके पीछे दौड़नेवाले मनुष्यको वास्तविक सुख तो प्राप्त होता ही नहीं, विषय-सुख भी उसकी पकड़के बाहर ही रहते हैं। पकड़में आ जानेपर भी वे उसके पास टिकते नहीं, क्योंकि उनका स्वरूप ही क्षणिक एवं विनाशी है। वास्तवमें तो उनकी कोई सत्ता ही नहीं है; हमने उनकी सत्ता मान रक्खी है, इसीलिये उनकी प्रतीति होती है।

अब जब युक्ति एवं शास्त्रके प्रमाणोंसे यह निश्चित हो गया कि भगवान् हैं और उन्हें पाना ही जीव-जीवनकी सबसे बड़ी साध है, तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि उन्हें किस प्रकार प्राप्त किया जाय ? इसका सरल उत्तर यह है कि निष्कामभावसे उनकी आज्ञाका पालन करना अथवा अनन्यशरण होकर उनकी उपासना करना—उनकी भक्ति करना ही उन्हें पानेका सर्वोत्तम उपाय है।

ईश्वर है तो उसका कानून भी है। उसी कानूनका नाम धर्म है। धर्म दो प्रकारका है—सामान्य और विशेष। मनुष्यमात्रके लिये पालनीय धर्म अर्थात् उत्तम आचरणका नाम सामान्य अथवा मानव-धर्म है। गीताके सोलहवें अध्यायमें दैवीसम्पत्तिके नामसे, सत्रहवेंमें कायिक-वाचिक-मानसिक—त्रिविध तपके नामसे और तेरहवें अध्यायमें ज्ञानके नामसे इसी सामान्य धर्मका निरूपण है। (देखिये १६ । १–३; १७ । १४–१६; १३ । ७–११)। योगदर्शनमें यम-नियमोंके नामसे तथा मानव-धर्म-शास्त्रमें दशविध धर्मके नामसे भी इसी मानव-धर्मका उल्लेख हुआ है। उपर्युक्त धर्मका

निष्कामभावसे पालन करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होकर मनुष्य ईश्वरको प्राप्त कर लेता है। श्रुति, स्मृति एवं पुराणोंमें बताये हुए विभिन्न वर्णों एवं आश्रमोंके आचारका नाम 'विशेष धर्म' है; यह सबके लिये अलग-अलग है। इसीका गीतामें जगह-जगह स्वधर्म, स्वभावनियत कर्म, स्वकर्म, सहज कर्म, स्वभावज कर्म आदि नामोंसे उल्लेख हुआ है। सामान्य धर्मके साथ-साथ इस विशेष धर्मके पालनपर भी गीताने बहुत जोर दिया है और परधर्मको स्वीकार करनेकी अपेक्षा—चाहे वह हमारे धर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ भी क्यों न हो और हमारा धर्म उतना ऊँचा न हो—स्वधर्मका पालन करते हुए मर जाना श्रेष्ठ बतलाया है। गीता डंकेकी चोट कहती है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३। ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याण-कारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

अठारहवें अध्यायमें इसी श्लोकके पूर्वार्द्धकी ज्यों-की-त्यों पुनरावृत्ति की गयी है और उसी प्रसङ्गमें यह भी कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

(१८। ४८)

'अतएव हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मको नहीं त्यागना चाहिये; क्योंकि धुएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं।'

तात्पर्य यह है कि गीताने समाजकी शृङ्खलाको सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित रखनेके लिये वर्णाश्रमधर्मका पालन अनिवार्य माना है और साथ ही यह भी बताया है कि कर्मकी छोटाई-बड़ाई उसके स्वरूपपर नहीं बल्कि कर्ताके भावपर निर्भर करती है। हमारे सनातन वर्णाश्रमधर्मकी यही विशेषता है कि उसमें लोक-परलोक—स्वार्थ-परमार्थ दोनोंपर दृष्टि रक्खी गयी है और समाजधर्म एवं अध्यात्मका अद्भुत ढंगसे सामञ्जस्य किया गया है। हमारे यहाँ धर्म-की परिभाषा ही यह की गयी है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' (वैशेषिकदर्शन) जिसके पालनसे हमारा लौकिक अभ्युदय—जागतिक उन्नति हो और साथ ही हमारा परलोक भी बने अर्थात् जिससे हमारे स्वार्थ-परमार्थ दोनों सिद्ध हों, वही धर्म है। परलोक बननेके कई अर्थ हो सकते हैं। मरनेके बाद लोकमें हमारी कीर्ति हो और हमें स्वर्गादि दिव्य लोकोंके दिव्य सुख प्राप्त हों—इसे भी संसारमें परलोक बनना कहते हैं। कई मजहबों एवं दर्शनों-ने तो इसीको मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य माना है। परंतु गीता अथवा हिंदूधर्मका परलोक बनाना यहींतक सीमित नहीं है। हमारा तो अन्तिम लक्ष्य सीमारहित अनन्त सुख है। हमारे ऋषियोंने स्वर्गादिके सुखोंका अनुभव करके हमें यह बताया है कि पार्थिव सुखोंकी भाँति वे सुख भी अल्प—अस्थायी हैं, उनका भी एक-न-एक दिन अन्त हो जाता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(८।१६)

'अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; [क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं] ।'

ब्रह्मलोक ऊपरके स्वर्गादि लोकोंमें सबसे ऊँचा और सबसे दिव्य माना गया है । वहाँके निवासियोंकी आयु भी सबसे लंबी होती है । परंतु ब्रह्माकी आयु बीत जानेपर ब्रह्मलोकका भी लय हो जाता है, और यद्यपि वहाँके बहुत-से जीव उस समय मुक्त हो जाते हैं, फिर भी वहाँके सभी निवासियोंकी मुक्ति निश्चित नहीं है । जब ब्रह्मलोकतककी यह बात है, तब स्वर्गादि नीचेके लोकोंकी तो बात ही क्या है ? उनके सम्बन्धमें तो भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि पुण्य क्षीण हो जानेपर वहाँके निवासी वहाँसे नीचे ढकेल दिये जाते हैं और उन्हें पुनः इस मर्त्यलोकमें आना पड़ता है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९ । २१) । सदा रहनेवाला सुख तो एकमात्र श्रीभगवान्‌में ही है, जिन्हें पाकर जीव सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है; सब प्रकारके बन्धनोंसे छूट जाता है । इसीका नाम मुक्ति है और इसीको शास्त्रोंमें 'निःश्रेयस' कहा है—जिससे बढ़कर कोई दूसरा सुख न हो । इस निःश्रेयसकी प्राप्ति ही हिंदुओंका परम लक्ष्य है ।

प्रत्येक मनुष्य अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्यका निष्कामभावसे पालन करके इस परम गतिको प्राप्त कर सकता है । निःश्रेयसकी प्राप्तिमें छोटे-बड़े सबका समान अधिकार है; जो जहाँ है वह उसी स्थितिमें रहकर स्वधर्मका पालन करता हुआ भगवान्‌को प्राप्त कर

सकता है । भगवान्‌की प्राप्तिके लिये किसीको भी अपना धर्म छोड़ने अथवा दूसरेका धर्म स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है। शम-दमादिसम्पन्न वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन आदि रूप स्वधर्मके अनुष्ठानसे जिस पदको प्राप्त कर सकता है, नीचे-से-नीचा कर्म करनेवाला शूद्र अपने सेवारूप कर्मसे उसी गतिको पा सकता है । शूद्रके लिये यह उचित नहीं कि वह ब्राह्मणका कर्म करे । आवश्यकता है केवल कर्तव्यबुद्धिसे अथवा भगवत्प्रीत्यर्थ अपने विहित कर्मका अनुष्ठान करनेकी । निष्कामभाव अथवा भगवत्प्रीति-की भावना होनेपर स्वधर्मपालनसे अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है और अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न होकर भगवान्‌की प्राप्ति सहज हो जाती है । कहिये, कितना सरल उपाय है भगवान्‌को प्राप्त करनेका ! इस प्रकार वर्णाश्रमकी आदर्श व्यवस्था बाँधकर हमारे यहाँके ऋषियोंने न केवल व्यक्तियोंके कल्याणका पथ सुगम कर दिया, अपितु प्रत्येक वर्गके कर्म निश्चित करके समाजको भी सुव्यवस्थित बना दिया । हमलोगोंका यह परम दुर्भाग्य है कि आज हम पाश्चात्त्योंका अन्धानुकरण करने जाकर अपने त्रिकालज्ञ ऋषियोंकी बनायी हुई मर्यादाकी अवहेलना कर रहे हैं और इस प्रकार दुःख एवं अशान्ति मोल ले रहे हैं ।

भगवान्‌को प्राप्त करनेका इससे भी सरल एवं सफल उपाय है—भगवान्‌की भक्ति । ईश्वरभक्तिसे दैवी गुण अपने-आप आने लगते हैं; क्योंकि दैवी गुण भगवान्‌के ही तो गुण हैं और भगवान् भक्तके हृदयमें बसते हैं । अतः जहाँ भगवान् रहते हैं वहाँ उनके गुण अवश्य रहने चाहिये । इस प्रकार भगवद्भक्तके द्वारा सामान्य

धर्मका पालन अपने-आप होता है। इसके लिये उसे अलग चेष्टा नहीं करनी पड़ती। सदाचार उसका स्वभाव बन जाता है। भगवद्भक्ति और सदाचारमें अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। भक्तिसे सद्गुण-सदाचारकी प्रतिष्ठा होती है और सद्गुण-सदाचारसे अन्तःकरण शुद्ध होकर भगवान्‌के प्रति श्रद्धा, प्रेम और भक्ति उत्पन्न होती है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

> येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
> ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥
> (७।२८)

'परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं।'

> महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
> भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
> (९।१३)

'परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

भक्तिसे परमात्मविषयक ज्ञान भी अपने-आप हो जाता है। भगवान् अपने भक्तोंको अनायास ही अपना ज्ञान दे देते हैं। वे कहते हैं।

> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(गीता १० । १०-११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। और हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

यही नहीं, भक्तोंको किस बातकी आवश्यकता है—इसका ध्यान भगवान् स्वयं रखते हैं और वे सब प्रकारकी विपत्तियों तथा विघ्नोंसे उनकी रक्षा करते हैं। भगवान् कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

भगवान्‌की भक्तिसे बड़े-से-बड़ा पापी भी बहुत शीघ्र धर्मात्मा बनकर शाश्वती शान्ति प्राप्त कर लेता है, इसे भी भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। यही नहीं, वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

और तो और, अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करनेवाले भक्तको स्वयं भगवान् अनायास मिल जाते हैं (देखिये गीता ८। १४)। जिस भक्तिसे अखिल ब्रह्माण्डनायक, अनन्त ऐश्वर्य एवं माधुर्यके अचिन्त्य महासागर, कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुं समर्थ, सर्वभूतमहेश्वर, सर्वसुहृद्, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वसाक्षी, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वनियन्ता भगवान् सुलभ हो जाते हैं, उस भक्तिभगवतीकी कहाँतक महिमा कही जाय। अतः अनन्यभावसे प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करना ही जीवका सर्वोपरि कर्तव्य है। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
(१। २। ६)

'मनुष्यमात्रके लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान्

विष्णुमें भक्ति हो—ऐसी भक्ति, जिसका और कोई उद्देश्य न हो, जिसकी धारा कभी टूटे नहीं और जिससे चित्त भलीभाँति शान्त हो जाय।'

जहाँ यह समझमें आ गया कि विश्वब्रह्माण्डका रचयिता एवं नियामक एक सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी एवं सर्वसाक्षी चेतन ईश्वर है, वहीं यह भी मानना पड़ेगा कि इस विश्वका संचालन कतिपय अनादि एवं अपरिवर्तनीय नियमोंके अनुसार होता है। उन्हीं नियमोंकी समष्टिका नाम धर्म अथवा सनातनधर्म है और उन नियमोंका उल्लेख तथा विधान जिन ग्रन्थोंमें है, उन्हींका नाम है—शास्त्र। अतः यह मानना पड़ेगा कि जगत्में सुख-शान्ति तथा समृद्धि तभी हो सकती है, जब कि जगत्के जीव उन ईश्वरीय नियमोंका आदर करें और उनके अनुसार चलें। पृथ्वीपर रहनेवाले जीवोंमें मनुष्यका दर्जा सबसे ऊँचा है; पृथ्वीके समस्त जीवोंमें मनुष्य ही एक ऐसा जीव है, जिसे भगवान्ने विवेक-बुद्धि, अपना हिताहित सोचने और बुरे-भलेको पहचाननेकी शक्ति दी है। जिसमें हिताहित सोचनेकी बुद्धि, सत्को ग्रहण करने तथा असत्का त्याग करनेकी सामर्थ्य है, कानून भी उसीपर लागू होता है। नाबालिग बालकों तथा तिर्यक्-योनिके जीवोंपर जगत्का कोई भी कानून इसीलिये लागू नहीं होता कि उनमें अपना हिताहित सोचने और तदनुसार कार्य करनेकी क्षमता नहीं है। इसलिये नियमानुकूल आचरणकी जिम्मेवारी पृथ्वीके जीवोंमें केवल मनुष्यपर है। अतः मनुष्यजातिके आचरणोंपर ही जगत्का सुख-दुःख निर्भर करता है। मनुष्योंका आचरण यदि धर्मानुकूल होता है तो जगत्में सर्वत्र सुख-शान्ति

रहती है। इसके विपरीत मनुष्योंकी आस्था जब धर्मसे हट जाती है और वे मनमाना आचरण करने लगते हैं, तब जगत्में सर्वत्र विप्लव मच जाता है और समस्त जीव दुःख एवं शोककी ज्वालासे जलने लगते हैं।

इसीलिये भगवान् वेदव्यासने महाभारतमें कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

(महा० स्वर्गा० ५। ६२)

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'मैं दोनों भुजाएँ उठा—चिल्ला-चिल्लाकर कहता हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। भाइयो! धर्मसे ही धन एवं सुखकी प्राप्ति होती है; फिर क्यों नहीं धर्मका सेवन करते? मैं धर्मका सार बतलाता हूँ, उसे सब लोग सुनें और सुनकर उसपर ध्यान दें—वह यही कि जो व्यवहार अपनेको अच्छा न लगे, उसे दूसरोंके साथ कभी न करे।'

इसीलिये शास्त्रोंमें जगह-जगह यही घोषणा की गयी है कि जहाँ धर्म है, वहीं विजय है—'यतो धर्मस्ततो जयः।'(महा०भीष्म०२१।११, ६६।३५)जहाँ धर्म है, वहाँ भगवान् अवश्य हैं, क्योंकि विधाता और उनका विधान एक ही वस्तु है। बल्कि यों भी कहें तो कोई हानि नहीं कि विधानके रूपमें स्वयं विधाता ही विद्यमान हैं। और जहाँ भगवान् स्वयं हों, वहाँ जय तो निश्चित ही है। इसीलिये एक जगह महाभारतमें यह भी कहा गया है—'यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो

जयः ।' (भीष्मपर्व ४३ । ६०) 'जहाँ धर्म है वहाँ भगवान् अवश्य रहते हैं; और जहाँ भगवान् हैं, वहाँ विजय निश्चित है ।' विजय ही नहीं, वहाँ तो लक्ष्मी, ऐश्वर्य, नीति आदि सभी अभीष्ट वस्तुएँ एकत्रित रहती हैं । यही बात संजयने गीताके अन्तमें कही है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥
(१८ । ७८)

'हे राजन् ! (विशेष क्या कहूँ,) जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है, ऐसा मेरा मत है ।'

परंतु आज तो सब कुछ विपरीत हो रहा है । आजकी स्थितिका दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि वेदव्यास कहते हैं—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

'लोग पुण्यका फल—सुख तो चाहते हैं, परंतु पुण्य करना नहीं चाहते । पापका फल—दुःख हम नहीं चाहते, परंतु पाप प्रयत्नपूर्वक करते हैं ।'

ऐसी हालतमें भला सुख कैसे हो सकता है, परंतु फिर भी लोग चेतते नहीं, धर्मकी ओर किसीका ध्यान ही नहीं है । जगत्‌में सुख-शान्तिके विस्तारके लिये साम्यवाद, जनतन्त्रवाद आदि अनेकों वाद प्रचारित किये जा रहे हैं, परंतु इन सब वादोंसे हमारा दुःख घटनेके बदले क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है । धर्मका फल सुख और

पापका फल दु:ख होता है—इसे भारतका बच्चा-बच्चा जानता है। फिर भी आज हम इस सिद्धान्तको भूलकर अधर्मकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। आज हमारी धारासभाओंमें आये दिन नये-नये कानून बनाये जाते हैं, जो हमारे धर्म एवं संस्कृतिका मूलोच्छेद करनेवाले हैं। कहीं सगोत्र-विवाह-बिल, कहीं अस्पृश्यता-निवारण-बिल और कहीं तलाक-बिल—चारों ओर नये-नये कानूनोंका ही दौरदौरा है; परंतु हमलोग आँखें मूँदकर इन सबका समर्थन किये जा रहे हैं! इतिहास इस बातका साक्षी है कि जब-जब संसारमें अधर्म और अनीति बढ़ती है, तब-तब जगत्का शोक-संताप भी बढ़ता है और अन्याय करनेवालोंका अन्ततोगत्वा पतन ही होता है। कभी स्वयं प्रकट होकर, कभी, महापुरुषोंके द्वारा उनके मनमें प्रेरणा करके भगवान् जगत्को अधर्मियोंके चंगुलसे बचाते हैं; क्योंकि उनकी यह घोषणा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और

धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

ईश्वरमें विश्वास उठ जाने और धर्मसे च्युत हो जानेके कारण ही आज भारत दुखी हो रहा है। धर्मपर दृढ़ता न होनेके कारण ही आज अल्पसंख्यक जातियाँ भी हमारे साथ समान अधिकारका दावाकर हमारा नाम-निशानतक मिटा देनेका प्रयत्न कर रही हैं और हम चुपचाप सब कुछ सहन किये चले जा रहे हैं। एवं कहा यह जाता है कि 'धर्म और ईश्वरवाद ही हमारे पतनका कारण हैं; जबतक धर्मका ढकोसला नहीं मिटेगा, तबतक भारतमें एकता नहीं स्थापित होगी और एकता हुए बिना भारत कभी सुखी नहीं होनेका।' इधर विधर्मी लोग तो धर्मके नामपर संघटित होकर क्रमशः अपनी शक्ति बढ़ाते और हमपर नृशंसतापूर्ण अत्याचार करते जा रहे हैं और उधर हमारे ही भाई हमसे यह कहते हैं कि 'तुम अपने धर्म और संस्कृतिको तिलाञ्जलि देकर उनसे मेल करो और उनके साथ रोटी-बेटीका व्यवहार करो।' बलिहारी है इस वुद्धिकी ! भगवान्ने क्या ही ठीक कहा है कि जब बुद्धिपर तमोगुणका पर्दा छा जाता है, तब सब कुछ विपरीत दिखायी देने लगता है, अधर्मको ही लोग धर्म समझने लगते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(गीता १८। ३२)

'हे अर्जुन ! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह

धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है ।'

हमारे ही देशके कई आततायी भाई आज धर्मके नामपर अन्य मतावलम्बियोंको मारने तथा उनकी बहू-बेटियोंकी आवरू लेनेमें सबाब (पुण्य) मानते हैं, यद्यपि यह उनकी उल्टी बुद्धिका ही परिणाम है । इधर हमारा धर्मप्रेम इतना कम हो गया है कि हमलोग धर्मके लिये अपने प्राण देनेको भी तैयार नहीं हैं, जब कि गीता हमें यही उपदेश देती है कि स्वधर्मके लिये मर जाना अच्छा है किन्तु पर-धर्मको स्वीकार करना कदापि अच्छा नहीं । परंतु आज हम झूठी राष्ट्रियताके मोहमें पड़कर गीताके इस अमर उपदेशको भूल गये हैं और स्वधर्मके त्यागपर उतारू हो रहे हैं । अहा ! आज गुरुगोविन्दसिंहके उन वीर बालकोंको स्मरण करना चाहिये जिन्होंने धर्मके लिये दीवालमें चुनवा दिया जाना स्वीकार कर लिया, किंतु अपने धर्मका परित्याग नहीं किया । उन वीर बालकोंने चोटीकी रक्षाके लिये प्राण दे दिये, परंतु हम आज नकली एकताके नामपर चोटीतक देनेको तैयार हैं । बल्कि हमारे कई भाई तो यहाँतक कहते हैं कि मुसल्मानोंके साथ प्रेमसम्बन्ध स्थापित करनेके लिये हमें अपनी लड़कियाँ सहर्ष उनको ब्याह देनी चाहिये । जिन्होंने धर्मके लिये आजीवन कष्ट सहा, वे नल, राम और युधिष्ठिर आज कहाँ हैं ? जो धर्मपर दृढ़ रहते हैं, धर्म उनकी रक्षा करता है और अन्तमें विजय उन्हींकी होती है । अन्यायी और पापाचारी भले ही थोड़े दिन फूल लें, फल लें; परंतु अन्तमें उनका विनाश अवश्यम्भावी है । दमयन्तीके पातिव्रतधर्मने ही उसकी लाज रक्खी और उसे कुदृष्टिसे देखनेवाला

पापी व्याध उसके तेजसे भस्म हो गया। सती-शिरोमणि सावित्रीने अपने धर्मप्रेमसे यमराजपर भी विजय पायी और अपने पतिको मृत्युके मुखसे बचा लिया। द्रौपदीकी रक्षाके लिये धर्मस्वरूप ईश्वर स्वयं मूर्तिमान् होकर वस्त्रराशिके रूपमें प्रकट हो गया। इन वीर रमणियोंका नाम इतिहासमें अमर हो गया। जबतक हिंदू-जाति संसारमें जीवित रहेगी, तबतक इन देवियोंका उज्ज्वल चरित्र हमारे लिये दीपस्तम्भ-का काम करता रहेगा। हमारे शास्त्र, हमारे ऋषि-महर्षि हमें बार-बार यही उपदेश देते हैं—

न जातु कामान्न भयान्न लोभा-
द्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(महा० स्वर्गा० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवन-रक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं, तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

यद्यपि भगवान्‌की दृष्टिमें पापी और धर्मात्मा समान हैं, उनका न किसीसे राग है और न किसीसे द्वेष, फिर भी वे धर्मात्माओंकी रक्षा करके उन्हें प्रेमामृतका दान करते हैं और धर्मद्वेषियोंका विनाश करते हैं। यही नहीं, विदुर-जैसे धर्मनिष्ठके यहाँ तो उन्होंने विना बुलाये जाकर भोजन किया तथा दुर्योधनके आग्रहपूर्ण निमन्त्रण

और राजोचित सत्कारको भी स्वीकार नहीं किया। बात यह है कि भगवान् दैवी सम्पत्ति, धर्माचरण एवं प्रेमको ही महत्त्व देते हैं, धन अथवा राजसी ठाट-बाटका उनकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं है। पद्म-पुराणमें कथा आती है कि एक राजामें और एक निर्धन ब्राह्मणमें एक बार होड़ लगी कि देखें भगवान् किसे पहले मिलते हैं। राजाने राजोपचारसे तथा बहुत-सा द्रव्य खर्च करके बड़े ठाट-बाटके साथ भगवान्‌की पूजा की। इधर ब्राह्मणके पास पत्र-पुष्प और अन्न-जलके सिवा भगवान्‌को निवेदन करनेके लिये कुछ भी नहीं था। यदि कोई वस्तु थी तो केवल उसके हृदयका प्रेम और दृढ़ विश्वास था। बस, उसीके भरोसे उस दीन-हीन ब्राह्मणने राजाके साथ होड़ बद दी। अन्तमें विजय उस अकिञ्चन ब्राह्मणकी ही हुई। पहले भगवान् उसीके यहाँ पधारे और उसे कृतार्थ करके पीछे उन्होंने राजापर भी कृपा की। राजापर भी कृपा उसकी भक्तिके कारण ही हुई, उसकी विपुल धनराशिके कारण नहीं।

महाराज युधिष्ठिरने जुएमें हार जानेके कारण महान् राज्य-वैभवका तिरस्कार करके धर्मके लिये बारह वर्षका वनवास अङ्गीकार किया। राजरानी द्रौपदीको जुएमें हार जानेके बाद भरी सभामें दुष्ट दुःशासनके द्वारा उसे नंगी करनेका प्रयत्न किये जानेपर शक्ति रहते भी उन्होंने कोई प्रतीकार नहीं किया। यक्ष बने हुए धर्मने उनके उत्तरोंसे प्रसन्न होकर जब उन्हें वरदान दिया कि 'अपने भाइयोंमेंसे किसी एकका जीवन मुझसे माँग लो, उसीको मैं जिला दूँगा।' तब महाराज युधिष्ठिरने नकुलका ही जीवन माँगा। यक्षने कहा—'तुम अपने सहोदर भीम अथवा अर्जुनका जीवन क्यों नहीं

माँगते ? उनमेंसे किसी एकको पाकर तो तुम सारे संसारको जीत सकते हो और अपना खोया हुआ साम्राज्य पा सकते हो ।' बात भी सच्ची थी; परंतु धर्मप्राण युधिष्ठिरने राज्यका लोभ न करके धर्मकी रक्षाके लिये नकुलको ही जिलानेकी प्रार्थना की; क्योंकि उन्होंने सोचा—मेरी दोनों ही माताओंकी संतान जीवित रहनी चाहिये। कुन्तीका पुत्र तो मैं जीवित ही हूँ, एक पुत्र माद्रीमाताका भी रहना चाहिये। कुन्तीके दो पुत्र जीवित रहें और माद्रीका एक भी नहीं—खासकर जब कि माद्रीका शरीर नहीं है—यह बात युधिष्ठिरको धर्मसंगत नहीं लगी। इसीलिये उन्होंने नकुलका ही जीवन माँगा। इतना ही नहीं, महाराज युधिष्ठिर ज़ब अपने धर्मबल-से सदेह स्वर्गको जाने लगे, उस समय एक कुत्ता भी उनके साथ हो लिया। देवराज इन्द्रने कुत्तेका स्वर्गमें जाना स्वीकार नहीं किया। इसपर महाराज युधिष्ठिर भी रुक गये। उन्होंने देवराज इन्द्रसे स्पष्ट कह दिया—'या तो यह कुत्ता भी मेरे साथ स्वर्गमें जायगा, अन्यथा मैं भी यहीं रहूँगा।' युधिष्ठिरके इस अनुपम धर्मप्रेमका ही यह फल था कि भगवान् एक प्रकार उनके हाथ बिक गये थे।

महाराणा प्रतापने जंगलोंमें भटककर घासकी रोटीसे जीवन-निर्वाह करना स्वीकार कर लिया, परंतु जीते-जी धर्मका त्याग नहीं किया। भक्त बालक पुण्डलीकने तो साक्षात् भगवान्तककी परवा नहीं की और उनसे मिलनेके लिये भी माता-पिताकी सेवारूप धर्मको नहीं छोड़ा। माता-पिताके अद्वितीय भक्त वैश्यकुमार श्रवणने माता-पिताकी सेवामें ही अपना सारा जीवन लगा दिया। धर्मव्याधने

यह दिखा दिया कि स्वधर्म-पालनसे बढ़कर कोई तप नहीं है। ब्रह्मचर्य-पालनरूप धर्मसे महात्मा भीष्म देवताओंके लिये भी अजेय हो गये। गृहस्थोंके लिये अतिथि-सेवा परमधर्म माना गया है— इसके विषयमें महाराज रन्तिदेवका इतिहास प्रसिद्ध है। उन्हें एक बार कुटुम्बसहित अड़तालीस दिनोंतक निर्जल उपवास करनेके बाद थोड़ी खीर, हलवा और जल मिला। आपसमें बाँटकर वे उस खीरको खाने बैठे ही थे कि एक ब्राह्मण अतिथि उनके द्वारपर आ गया। खीरमेंसे एक भाग उन्होंने उस ब्राह्मणको आदरपूर्वक दे दिया और बाकी अपने तथा अपने कुटुम्बियोंके लिये रख लिया। ब्राह्मण उस खीरको पाकर ज्यों ही जाने लगा, त्यों ही एक शूद्र वहाँ आ पहुँचा। वह शूद्र भी भूखा था, अतः राजाने ब्राह्मणको खिलानेके बाद बची हुई उस खीरमेंसे एक हिस्सा सम्मानके साथ उस शूद्रको भी दे दिया। शूद्रके चले जानेके बाद एक चाण्डाल अपने कुत्तोंको लिये वहाँ आया। उसने भी राजासे अन्न माँगा। राजाने शेष सारी-की-सारी खीर बड़ी श्रद्धाके साथ उस चाण्डालको अर्पित कर दी और भगवद्बुद्धिसे उसे तथा उसके कुत्तोंको प्रणाम किया; अब उनके पास एक आदमीके पीनेभरके लिये जल बच रहा था। ज्यों ही वे उसे आपसमें बाँटकर उसके द्वारा अपनी अड़तालीस दिनोंकी प्यास बुझाने चले कि इतनेमें एक और चाण्डाल वहाँ आया और उनसे जलकी याचना करने लगा। बस, फिर क्या था; राजाने वह जल उसको दे दिया। तब भगवान् उनके सामने ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें प्रकट हो गये। उस समय रन्तिदेवने भगवान्से इस प्रकार प्रार्थना की—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥
(श्रीमद्भा० ९ । २१ । १२)

'मैं परमात्मासे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंसे युक्त उत्तम गति या मुक्ति नहीं चाहता; मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख भोग करूँ, जिससे वे लोग दुःखरहित हो जायँ ।' धन्य अतिथिप्रेम !

अतिथिसेवाका एक और सुन्दर दृष्टान्त महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें मिलता है । महाभारत-युद्ध समाप्त हो जानेके बाद हिंसा-दोषकी निवृत्तिके लिये महाराज युधिष्ठिरने अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान किया । यज्ञ ज्यों ही समाप्त हुआ कि यज्ञमण्डपमें एक नेवला आया और वह वहाँकी भूमिमें लोटने लगा । उसका आधा शरीर सोनेका था । उस विचित्र जन्तुको इस प्रकार लोटते देख याज्ञिक ब्राह्मण आश्चर्यपूर्ण नेत्रोंसे उसकी ओर देखने लगे । उन्हें आश्चर्ययुक्त देख वह नेवला मनुष्यकी बोली बोलने लगा । उसने बताया कि 'कुरुक्षेत्रमें एक उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण रहते थे । वे कबूतरकी भाँति अन्नके दाने चुन-चुनकर लाते और इस प्रकार कष्टपूर्वक एकत्रित किये अन्नसे अपना एवं अपने कुटुम्बका पालन करते थे । एक बार उन्हें कई दिनोंतक कुटुम्बसहित फाँका करना पड़ा । इसके बाद एक दिन उन्हें सेरभर जौ मिला । उसका उन्होंने सत्तू बना

लिया और उस सत्तूको आपसमें बाँटकर ज्यों ही वे खानेको बैठे कि एक ब्राह्मण अतिथि उनके द्वारपर आ खड़ा हुआ। उसे उन्होंने क्रमशः अपना, अपनी धर्मपत्नीका, अपने पुत्रका तथा अन्तमें अपनी पुत्रवधूका भी भाग दे दिया और स्वयं सब लोग भूखे रह गये। यह देखकर मैं अपने बिलसे बाहर निकला और जहाँ उस अतिथि ब्राह्मणने सत्तू खाया था, उस स्थानपर लोटने लगा। फल यह हुआ कि मेरे अङ्गोंके साथ वहाँकी कीचका स्पर्श होनेसे मेरा मस्तक तथा आधा शरीर सोनेका हो गया।' नेवला महाराज युधिष्ठिरके यज्ञकी प्रशंसा सुनकर इस आशासे वहाँ आया था कि वहाँकी भूमिमें लोटनेपर उसके शरीरका शेष भाग भी सोनेका हो जायगा; क्योंकि उस यज्ञभूमिमें लाखों ब्राह्मणोंने भोजन किया था और असंख्य द्रव्य खर्च हुआ था। परंतु नेवलेका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ; उसका शेष अङ्ग जैसा-का-तैसा ही बना रहा। इसलिये उसने बताया कि उस उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणके सेरभर सत्तूके दानकी बराबरी चक्रवर्ती सम्राट् युधिष्ठिरका किया हुआ विशाल यज्ञ भी नहीं कर सका; फिर औरोंकी तो बात ही क्या है।

इस प्रकार विभिन्न धर्मोंका वर्णन हमारे शास्त्रोंमें पाया जाता है। धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन तथा पुराणोंकी कथाकी पद्धति एक प्रकारसे बंद हो जानेके कारण वर्तमान युगके शिक्षित समाजका धर्मज्ञान प्रायः नहींके बराबर रह गया है। अतः धर्मज्ञानके प्रसारके लिये धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन तथा पुराण-वाचनकी पद्धति फिरसे जारी करनी चाहिये और घर-घरमें स्त्री, पुरुषों और बालकोंको एक जगह बैठकर नियमित रूपसे सत्सङ्ग एवं स्वाध्यायके लिये

समय निकालना चाहिये। जबतक हमें धर्मका ज्ञान न होगा, तबतक उसके पालनका तो प्रश्न ही दूर है। धार्मिक पत्रोंका भी प्रचार खूब जोरोंसे होना चाहिये, जिससे लोगोंमें धर्म-भावना जाग्रत् हो और धार्मिक जोश बढ़े। उत्तम गुणों एवं आचरणोंकी वृद्धि लिये महापुरुषोंकी स्मृति तथा उनके चरित्रोंका पठन-पाठन बड़ा सहायक है। श्रीराम-कृष्णादि भगवदवतारोंकी पवित्र लीलाओंका अनुशीलन तथा उनके आदर्श चरित्रोंके अनुकरणकी चेष्टासे भी चरित्र-निर्माण एवं दैवी सम्पत्तिके अर्जनमें बड़ी सहायता मिलती है। भगवत्स्मृतिसे सभी गुण अनायास हृदयमें आ जाते हैं और जीवका परम कल्याण होता है। भगवत्स्मृतिसे बढ़कर अन्त:करणकी शुद्धिका कोई दूसरा साधन नहीं है। अतः नित्य-निरन्तर भगवान्‌की स्मृति हो, इसकी चेष्टा प्रत्येक मनुष्यको करनी चाहिये। गीतामें भगवत्स्मृतिपर बहुत जोर दिया गया है। भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनके लिये जहाँ-जहाँ आदेश दिये हैं, सभी अधिकांशमें स्मृतिपरक ही हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें यह बताया है कि विषय-चिन्तन सर्वनाशका कारण है (देखिये २। ६२-६३) और भगवच्चिन्तन करनेवालेका कभी विनाश नहीं होता—'न मे भक्तः प्रणश्यति' (९। ३१)।

भगवन्नामके जप एवं कीर्तनसे भी अन्त:करणकी शुद्धि होकर हृदयमें सद्गुणोंका विकास और सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। वास्तवमें भगवान् और भगवान्‌के नाममें कोई भेद नहीं है। भगवान्‌के स्वरूपकी भाँति उनका नाम भी चिन्मय है, उनका स्वरूप ही है। शब्द, अर्थ एवं अर्थका ज्ञान—तीनों एक ही वस्तु

हैं। अतः भगवन्नामके सम्पर्कमें आनेसे अन्तःकरणकी परम शुद्धि होना स्वाभाविक ही है। सबका मूल, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सत्सङ्ग और सच्छास्त्रोंका अध्ययन ही है। सत् नाम परमात्माका है। गीतामें भी कहा है—

'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।'
(१७। २३)

'ॐ तत्सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है।' और सङ्ग कहते हैं प्रीतिको, लगावको। अतः परमेश्वरमें प्रेम होना ही असली सत्सङ्ग है। सत्पुरुषोंके, भगवत्प्रेमियोंके सङ्गसे भगवान्‌में प्रीति होती है; इसलिये वह भी सत्सङ्ग कहलाता है और इसीलिये सत्सङ्गकी—साधुसङ्गकी इतनी महिमा शास्त्रोंने गायी है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१। १८। १३)

'भगवत्सङ्गियों—भगवत्प्रेमियोंके क्षणभरके सङ्गके साथ स्वर्ग तो क्या, मोक्षतककी तुलना नहीं हो सकती; फिर मनुष्यलोकके भोगोंकी तो बात ही क्या है।'

इस प्रकार सत्सङ्ग एवं सच्छास्त्रोंके अध्ययनद्वारा अपने कर्तव्यका ज्ञान प्राप्तकर शीघ्र-से-शीघ्र मनुष्य-जन्मको सफल करनेके प्रयत्नमें लग जाना चाहिये, जिससे पीछे न पछताना पड़े।

दिनचर्याका सुधार

मनुष्यको अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और अतिनिद्राको विषके समान समझकर इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय इन सबमें बितानेके लिये कदापि नहीं है। करनेयोग्य काममें विलम्ब करना 'आलस्य' है; शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मकी अवहेलना तथा मन, वाणी, शरीरसे व्यर्थ चेष्टा करना 'प्रमाद' है; स्वाद, शौकीनी, ऐश-आराम, भोग-विलासिता और विषयोंमें रमण करना 'भोग' है; झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पाप हैं और छः घंटेसे अधिक शयन करना 'अतिनिद्रा' है। कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि वह इनसे बचकर अपने सारे समयको साधनमय बना ले और एक क्षण-भी व्यर्थ न बिताकर प्राणपर्यन्त साधनके लिये ही कटिबद्ध होकर प्रयत्न करे।

बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह अपने अमूल्य समयको सदा कर्ममें लगावे। एक क्षण भी व्यर्थ न खोवे और कर्म भी उच्च-से-उच्च कोटिका करे। जो कर्म शास्त्रविहित और युक्तियुक्त हो, वही कर्तव्य है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(६।१७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

तात्पर्य यह है कि हमारे पास दिन-रातमें कुल चौवीस घंटे हैं, उनमेंसे छः घंटे तो सोना चाहिये और छः घंटे परमात्माकी प्राप्तिके लिये विशेषरूपसे साधनरूप योग करना चाहिये; इसके लिये प्रातःकाल तीन घंटे और सायंकाल तीन घंटेका समय निकाल लेना चाहिये। शेष बारह घंटोंमें मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा शास्त्रानुकूल क्रिया करनी चाहिये, जिसमेंसे छः घंटे जीविका-निर्वाहके लिये न्याययुक्त धनोपार्जनके काममें और छः घंटे स्वास्थ्य-रक्षाके लिये शास्त्रविहित शौच-स्नान, आहार-विहार, व्यायाम आदिमें लगाने चाहिये; अथवा यदि छः घंटेमें न्याययुक्त धनोपार्जनमें करके जीविकाका निर्वाह न हो तो आठ घंटे धनोपार्जनमें लगाकर चार घंटे स्वास्थ्यरक्षा आदिके काममें लगाने चाहिये।

समयका विभाग करके देश, काल, वर्ण, आश्रम, परिस्थिति

और अपनी सुविधाके अनुसार अपना कार्यक्रम बना लेना चाहिये। साधारणतया निम्नलिखित कार्यक्रम बनाया जा सकता है—

रात्रिमें दस बजे शयन करके चार बजे उठ जाना, उठते ही प्रातःस्मरण करते हुए चारसे पाँचतक शौच-स्नान, व्यायाम आदि करना; पाँचसे आठतक सन्ध्या-गायत्री, ध्यान, नाम-जप, पूजा-पाठ और श्रुति, स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंका एवं उनके अर्थका विवेकपूर्वक अनुशीलन करते हुए स्वाध्याय करना; आठसे दसतक स्वास्थ्यरक्षाके साधन और भोजन आदि करना; दससे चारतक धनोपार्जनके लिये न्याययुक्त प्रयत्न करना, चारसे पाँचतक पुनः स्वास्थ्यरक्षार्थ घूमना-फिरना; व्यायाम और शौच-स्नान आदि करना; पाँचसे आठतक पुनः सन्ध्या, गायत्री, ध्यान, नाम-जप, पूजा-पाठ और श्रुति, स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंका, उनके अर्थका विवेकपूर्वक अनुशीलन करते हुए स्वाध्याय करना एवं आठसे दसतक भोजन तथा वार्तालाप, परामर्श और सत्संग आदि करना—इस प्रकार दिन-रातके चौबीस घंटोंको बाँटा जा सकता है। इस कार्यक्रममें अपनी सुविधाके अनुसार हेर-फेर कर सकते हैं; किंतु भगवान्‌के नाम और स्वरूपकी स्मृति हर समय ही रहनी चाहिये; क्योंकि भगवान्‌की सहज प्राप्तिके लिये एकमात्र यही परम साधन है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि 'जो पुरुष नित्य-निरन्तर मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ'—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८।१४)

यदि कहो कि काम करते हुए भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति सम्भव नहीं तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है-

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

जब युद्ध करते हुए भी निरन्तर भगवान्‌की स्मृति रह सकती है तो दूसरे व्यवहार करते समय भगवत्स्मृति रहना कोई असम्भव नहीं। यदि यह असम्भव होती तो भगवान् अर्जुनको ऐसा आदेश कभी नहीं देते। यदि कहो कि हमसे तो ऐसा नहीं होता तो इसका कारण है श्रद्धा तथा प्रेमके साथ होनेवाले अभ्यासकी कमी। श्रद्धा-प्रेमकी उत्पत्तिके लिये भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझना चाहिये तथा भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति निरन्तर बनी रहे, इसके लिये विवेक-वैराग्यपूर्वक सदा-सर्वदा प्रयत्न भी करते रहना चाहिये। सत्पुरुषोंका सङ्ग इसके लिये विशेष लाभकर है। अतः सत्सङ्गके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। सत्सङ्ग न मिले तो भगवान्‌के मार्गमें चलनेवाले साधक पुरुषोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है और उनके अभावमें सत्-ग्रन्थोंका अनुशीलन भी सत्सङ्ग ही है।

मनुष्य अपने समयका यदि विवेकपूर्वक सदुपयोग करे तो वह थोड़े ही समयमें अपने आत्माका उद्धार कर सकता है; मनुष्यके लिये कोई भी काम असम्भव नहीं है। संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष-प्रयत्नसाध्य कार्य नहीं, जो पुरुषार्थ करनेपर सिद्ध न हो सके। फिर भगवत्कृपाका आश्रय रखनेवाले पुरुषके लिये तो बात ही क्या है !

भगवान्के नाम-रूपकी स्मृति चौबीसों घंटे ही बनी रहे और वह भी महत्त्वपूर्ण हो, इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। जिह्वा-द्वारा नाम-जप करनेकी अपेक्षा श्वासके द्वारा नामजप करना श्रेष्ठ है और मानसिक जप उससे भी उत्तम है। वह भी नामके अर्थरूप भगवत्स्वरूपकी स्मृतिसे युक्त हो तो और भी अधिक मूल्यवान् (महत्त्व-पूर्ण) चीज है; और वह फिर श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमभावसे किया जाय तो उसका तो कहना ही क्या है। सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र समानभावसे आकाशकी भाँति व्यापक हैं, वे ही निर्गुण-निराकार परमात्मा स्वयं भक्तोंके कल्याणार्थ सगुण-साकार रूपमें प्रकट होते हैं। इसलिये निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार—किसी भी स्वरूपका ध्यान किया जाय, सभी कल्याणकारक हैं; किंतु निर्गुण-सगुण, निराकार-साकारके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभावको समझते हुए स्वरूपका स्मरण किया जाय तो वह सर्वोत्तम है।

संसारमें अधिकांश मनुष्योंका समय तो प्रायः व्यर्थ जाता है और उनमेंसे कोई यदि अपना श्रेष्ठ ध्येय बनाते भी हैं, तो उसके अनुसार चल नहीं पाते। इसका प्रधान कारण विषयासक्ति, अज्ञता और श्रद्धा-प्रेमकी कमी तो है ही; परंतु साथ ही प्रयत्नकी भी

शिथिलता है। इसी कारण वे अपने लक्ष्यतक पहुँचनेमें सफल नहीं होते। अतः लक्ष्यप्राप्तिके लिये हर समय भगवान्‌को स्मरण करते हुए समयका सदुपयोग करना चाहिये, फिर भगवान्‌की कृपासे सहज ही लक्ष्यतक पहुँचा जा सकता है।

चौबीसों घंटे भगवान्‌की स्मृति किस प्रकार हो, इसके लिये उपर्युक्त छः घंटे साधनकाल, बारह घंटे व्यवहारकाल और छः घंटे शयनकाल—इस प्रकार समयके तीन विभाग करके उसका निम्नलिखित रूपसे सदुपयोग करना चाहिये।

(१) मनुष्य प्रातःकाल और सायंकाल नियमितरूपसे जो साधन करते हैं, वह साधन इसीलिये उच्चकोटिका नहीं होता कि वे उसे मन लगाकर विवेक और भावपूर्वक नहीं करते। ऊपरसे क्रिया कुछ ही होती है और मन कहीं अन्यत्र रहता है। ऐसा नहीं होना चाहिये। साधनके समय मनका भी उसीमें लगना परमावश्यक है। जैसे—सन्ध्या करनेके समय मन्त्रोंके ऋषि, छन्द, देवता और प्रयोजनका लक्ष्य करते हुए विधि और मन्त्रके अर्थका ध्यान रहना चाहिये। गायत्रीमन्त्र बहुत ही उच्चकोटिकी वस्तु है, उसमें परमात्माकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना है। अतः गायत्री-जपके समय उसके अर्थकी ओर ध्यान रखना चाहिये। यह न हो सके तो गायत्री-जपके समय भगवान्‌का ध्यान तो अवश्य ही होना चाहिये। इसी प्रकार गीता, रामायण, भागवत आदिका पाठ भी अर्थसहित या विवेकपूर्वक अर्थका ध्यान रखते हुए करना चाहिये। भगवान्‌की मूर्ति-पूजा या मानस-पूजा करते समय भगवान्‌के स्वरूप और गुण-प्रभावको स्मरण रखते हुए श्रद्धा-प्रेमके साथ विधिपूर्वक

पूजा करनी चाहिये । शास्त्र-ज्ञानकी कमीके कारण विधिमें कहीं कमी भी रह जाय तो कोई हर्ज नहीं, किंतु श्रद्धा-प्रेममें कमी नहीं होनी चाहिये । किसी भी मन्त्र या नामका जप हो, उच्चभाव तथा मनःसंयोगके द्वारा उसे उच्च-से-उच्च कोटिका बना लेना चाहिये । एवं ध्यान करते समय तो संसारको ऐसे भुला देना चाहिये कि जिसमें भगवान्‌के सिवा अपना या संसारका किसीका भी ज्ञान ही न रहे ।

हम प्रातः-सायं जितना समय नित्य-नियमित रूपसे साधनमें लगाते हैं, उसे यदि उपर्युक्त प्रकारसे लगाया जाय तो उतने ही समयके साधनसे छः महीनोंमें वह लाभ हो सकता है जो बिना भावके करनेके कारण पचास वर्षोंमें भी नहीं होता । वस्तुतः जिस समय हम साधनके लिये बैठते हैं, उस समय तो हमारा प्रत्येक क्षण केवल साधनमें ही बीतना चाहिये । हम यदि अपने पारमार्थिक साधनके समयको ही समुचित रूपसे साधनमय नहीं बना लेंगे और उसे शीघ्र सफल बनानेके लिये तत्पर नहीं होंगे तो फिर अन्य समयमें भगवच्चिन्तन करते हुए कार्य करना तो और भी कठिन है । अतएव हमें इसके लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये । इस बातका पता लगाना चाहिये कि वे कौन-सी अड़चनें हैं जिनके कारण नियमितरूपसे साधन करनेके लिये दिये हुए समयमें भी मन उसमें नहीं लगता और समय यों ही बीत जाता है तथा प्रयत्न करनेपर भी उसमें कोई सुधार नहीं होता । एवं पता लगनेपर उन अड़चनोंको तुरंत दूर करनेका सफल प्रयास करना चाहिये । मनको समझाना चाहिये कि 'तुम ऐसे अपने परम हितके कार्यमें भी साथ नहीं

दोगे तो इसका परिणाम तुम्हारे लिये बहुत ही भयानक होगा। हजार काम छोड़कर पहले इस कामको करना चाहिये। यह काम तुम्हारे बिना और किसीसे सम्भव नहीं। इसके सामने दूसरे-दूसरे कामोंमें हानि भी हो तो उसकी परवा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वे तो तुम्हारे न रहनेपर भी हो सकते हैं, उन्हें दूसरे भी कर सकते हैं; किंतु तुम्हारे कल्याणका काम तो दूसरे किसीसे सम्भव नहीं।' इसपर भी यदि दुष्ट मन दूसरे कामकी आवश्यकता बतलावे तो उसे फिर समझाना चाहिये कि इससे बढ़कर और कोई आवश्यक काम है ही नहीं।

(२) आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और अतिनिद्रामें जीवनके एक क्षणको भी नहीं बिताना चाहिये। सामाजिक, धार्मिक, शरीरनिर्वाहसम्बन्धी एवं स्वास्थ्यरक्षा आदिके जो भी व्यवहार हों, सभी शास्त्रानुकूल और न्याययुक्त ही होने चाहिये। प्रत्येक क्रियामें निष्कामभाव और भगवदर्पण या भगवदर्थबुद्धि रहनी चाहिये। इस प्रकार किये जानेपर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(९। २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन

करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

हमारी सारी क्रियाएँ जब भगवान्‌की प्रेरणा और आज्ञाके अनुसार निरभिमानता और निष्कामभावसे भगवान्‌की स्मृति रहते हुए होने लगें, तब समझना चाहिये कि हमारी क्रियाएँ भगवदर्पण हैं। जो क्रियाएँ भगवत्प्राप्त्यर्थ या भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा भगवान्‌की आज्ञा-पालनके उद्देश्यसे भगवान्‌को स्मरण रखते हुए निष्कामभावसे की जाती हैं उन्हें भगवदर्थ कहा जाता है। हमारा सारा समय जब इसी भावमें बीतने लगे, तब उसे उच्च-से-उच्च कोटिका समझना चाहिये। मनुष्य चाहे तो प्रयत्न करनेपर भगवत्कृपासे वह व्यवहारके बारह घंटोंके समयको भी सदा-सर्वदा इसी प्रकार बिता सकता है। भगवान्‌का आश्रय लेकर उनके नाम-रूपको याद रखते हुए सदा-सर्वदा कर्मोंकी चेष्टा करनेपर मनुष्य भगवान्‌की कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(१८।५६)

व्यवहारकालके सुधारके लिये दो बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये—

(क) प्रत्येक क्रियामें निष्कामभावसे स्वार्थका त्याग और (ख) भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति । ये सब काम भी वैराग्य और अभ्याससे ही सिद्ध होते हैं । वैराग्यसे निष्कामभाव और स्वार्थ-त्याग होता है और तीव्र अभ्याससे भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति रहती है।

अतः हमें अपने उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये भगवान्‌के शरण होकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक साधन करना चाहिये । ऐसा करनेसे परमात्माकी कृपासे हम शीघ्र ही कृतकार्य हो सकते हैं ।

(३) साधन तथा व्यवहारकालमें तो कुछ होता भी है; परंतु शयनका समय तो नासमझीके कारण अधिकांशमें सर्वथा व्यर्थ ही जाता है । मनुष्य जिस समय सोने लगता है, उस समय उसके चित्तमें जिन सांसारिक संकल्पोंका प्रवाह बहता रहता है, उसे निद्रामें प्रायः वैसे ही स्वप्न आते हैं—संकल्पोंकी दृढ़ता ही स्वप्नमें सच्ची घटनाके रूपमें प्रतीत होने लगती है और इस प्रकार उसका रातभरका सारा समय व्यर्थ चला जाता है । इस कालका सुधार भी वैराग्य और अभ्याससे हो सकता है । हमें चाहिये कि सोनेसे पूर्व कम-से-कम पंद्रह मिनट शयनकालके संकल्पोंके सुधारके लिये संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर उसके संकल्पोंका त्याग करके भगवान्‌के निर्गुण-सगुण, निराकार-साकारमेंसे जिस स्वरूपमें भी अपनी श्रद्धा-रुचि हो, उसी नाम-रूप-का या भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि सगुण-साकार स्वरूपके गुण, प्रभाव, लीला आदिका मनन करते हुए सोवें । विवेक-वैराग्यपूर्वक तत्परतासे तीव्र चेष्टा करनेपर कुछ दिनोंमें यह अभ्यास दृढ़ हो

सकता है । दृढ़ अभ्यास हो जानेपर स्वप्नमें भी भगवद्विषयक ही संकल्प होंगे और तदनुसार स्वप्नमें भी हमारे सामने भगवान्‌के नाम, लीला, रूप, गुण और प्रभावके दृश्य आते रहेंगे । यों स्वप्न-जगत् भी साधनमय हो जायगा । अतएव वह समय भी साधनका ही एक अङ्ग बन जायगा ।

मनुष्य-जन्मका प्रत्येक क्षण मूल्यवान् है । इस रहस्यको समझनेवाला व्यक्ति एक क्षणको भी व्यर्थ कैसे खो सकता है ? परलोक और परमात्मापर विश्वास न होने और भगवत्प्राप्तिका माहात्म्य न जाननेके कारण ही मनुष्य अपने उद्धारकी आवश्यकता ही नहीं समझता । इसी कारण वह संसार-सुखकी अभिलाषामें मानव-जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ खो देता है; परंतु सच्ची बात तो यह है कि संसारका सम्पूर्ण सुख मिलकर भी परमात्माकी प्राप्तिके सुखकी तुलनामें समुद्रमें एक बूँदके तुल्य भी नहीं है । जैसे अनन्त आकाशके किसी एक अंशमें नक्षत्र हैं, उसी प्रकार विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी एक अंशमें यह सारा ब्रह्माण्ड स्थित है । जीवको यदि संसारका सम्पूर्ण सुख भी मिल जाय तो भी वह उस ब्रह्मसुखके अंशका एक आभासमात्र ही है। और वह सुखाभास भी वस्तुतः सच्चिदानन्दमय परमात्माके संयोगसे ही है । अतः मनुष्यको उस अनन्त सुखरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही अपना सारा समय लगाना चाहिये । तभी समयका सदुपयोग है और तभी जीवनकी सार्थकता है ।

चद्दरसे ज्ञान-वैराग्य आदिकी शिक्षा

जगत्‌में आजकल शिक्षक बहुत पाये जाते हैं, वास्तवमें शिक्षा लेनेवाले बहुत कम हैं। जहाँ-तहाँ उपदेशकोंकी—गुरुओंकी ही भरमार है, उपदेश सुनकर उससे लाभ उठानेवाले शिष्योंकी संख्या बहुत ही अल्प है। कवियोंने भी कहा है—'परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।' 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥' उपदेश देना जितना सहज है, उसका पालन करना उतना ही कठिन है। उपदेश अपने लिये होना चाहिये, दूसरोंके लिये नहीं; तभी हम उन्नति कर सकते हैं। ज्ञानकी प्राप्ति उसीको होती है, जो अभिमान छोड़कर शिक्षा प्राप्त करनेके लिये उत्सुक

रहता है। जो शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये शिक्षकोंकी कमी नहीं है। सच्चे गुरु योग्य शिष्यको स्वयं खोज लेते हैं। सच्चे जिज्ञासुके लिये तो स्वयं भगवान् गुरुके रूपमें प्रकट होकर उसे उपदेशके द्वारा कृतार्थ कर सकते हैं। सम्राट् परीक्षित् जब राज्य, परिवार एवं शरीरका मोह छोड़कर सब ओरसे चित्तको हटाकर ज्ञान-लाभके लिये, आत्मकल्याणकी शिक्षाके लिये अन्न-जलका त्यागकर भगवती गङ्गाके पावन तटपर बैठ गये, उस समय उनकी ज्ञानपिपासाको शान्त करनेके लिये, उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखानेके लिये सब ओरसे बहुत-से ऋषि-मुनि अपने-आप उनके पास आने लगे। यहाँतक कि स्वयं शुकदेव मुनिने, जो इतने विरक्त थे कि एक गौ जितनी देरमें दुही जा सके, उतने समयसे अधिक बस्तीमें नहीं ठहरते थे तथा जो प्रायः निरन्तर समाधिमें ही स्थित रहते थे, उनके पास विना बुलाये आकर सात दिनतक उन्हें श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी। विद्वानोंकी मान्यता है कि श्रीशुक मुनिको नित्यदेह अथवा सिद्धदेह प्राप्त है, जिससे वे अब भी समय-समयपर प्रकट होकर अधिकारियोंको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किया करते हैं। कहते हैं कि संत चरणदासजीको उन्हींने गुरुरूपसे दीक्षा दी थी, जैसा कि चरणदासजीके पदोंसे प्रकट होता है। स्वामी श्रीशङ्कराचार्यके परम गुरु आचार्य गौडपादको भी श्रीशुकदेवजीसे ही दीक्षा प्राप्त हुई थी—ऐसा सुना जाता है। स्वयं स्वामी श्रीशङ्कराचार्यको भी श्रीवेदव्यासजीने दर्शन दिये थे—ऐसा उनकी जीवनीमें लिखा है। देवर्षि नारदके वाल्मीकि, व्यास तथा ध्रुव आदिके पास स्वयं जाकर उन्हें उपदेश देनेकी बात प्रसिद्ध ही है।

इतना ही नहीं, शिक्षा लेनेवालेको जगत्की चर-अचर सभी वस्तुओंसे शिक्षा मिल सकती है। यह विश्व ही एक विश्वविद्यालय है। नदियाँ, समुद्र, वृक्ष, पर्वत, ग्रह, नक्षत्र, आकाश, पृथ्वी, वायु, पशु-पक्षी आदि नाना प्रकारके जीव—सभी हमें शिक्षा दे रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें कथा आती है कि भगवान् दत्तात्रेयने चौबीस गुरु बनाये थे—जिनमें पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतिंगा, मधुमक्खी, हाथी, हरिन, मछली, वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुमारी कन्या, बाण बनानेवाला, साँप, मकड़ी और भ्रमरतक शामिल थे। आज हम अपने पाठकोंको यह बतलायेंगे कि जिस चद्दरको हम अपने शरीरपर ओढ़ते हैं, उससे भी हमें ज्ञान, वैराग्य, योग, कर्म एवं भगवच्छरणागतिकी शिक्षा मिलती है।

पहले हम प्रभु-शरणागतिको ही लें। शरणागतिकी शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८। ६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

महाभारतके अन्तर्गत श्रीविष्णुसहस्रनाममें भीष्मपितामह महाराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥१३०॥

'भगवान् वासुदेवका आश्रय लेकर उन्हींके परायण हो जानेवाला मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे रहित विशुद्ध अन्तःकरणवाला होकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।'

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिके वाक्य हैं—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।' (१ । २३)

'ईश्वरकी शरण ग्रहण करनेसे भी चित्तवृत्तियोंका निरोधरूप समाधि सिद्ध हो जाती है ।'

जिस शरणागतिकी शास्त्रोंमें ऐसी महिमा कही गयी है, एक मामूली चद्दर हमें उसीकी शिक्षा देती है । वह सर्वतोभावेन अपने मालिकके शरण हुई रहती है, सदा-सर्वदा एवं सर्वथा उसके अधीन रहती है । मालिक उसका चाहे जैसे उपयोग करे—उसे कंधेपर रख ले अथवा पैरोंपर डाल ले, शरीरपर ओढ़ ले अथवा खूँटीपर टाँग दे, तहियाकर बक्समें रख दे अथवा बेपरवाहीसे जमीनपर फेंक दे, किसीको दान कर दे या बेंच दे, पानीसे धो डाले अथवा कीचमें सान ले, फाड़कर चिथड़े-चिथड़े कर डाले अथवा जलाकर खाक कर दे—वह बदलेमें कुछ नहीं कहती । इस प्रकार चद्दर हमें आत्मसमर्पणका पाठ पढ़ाती है । हमें चाहिये कि हम भी चद्दरकी भाँति अपने प्रभुके सर्वथा अनुकूल बन जायँ—वह हमें जिस अवस्थामें रक्खे, उसीमें संतुष्ट रहें; उसकी इच्छामें अपनी इच्छाको विलीन कर दें, अपने व्यक्तित्वको भुला दें, अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो

दें । अपना सब कुछ उसीका समझें—यहाँतक कि अपने इन्द्रि, मन, बुद्धि, प्राण और शरीरको भी उसीका मानें । जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, ऐश्वर्य-दरिद्रता—सबको प्रभुकी देन समझकर गले लगायें । ऐश्वर्य पाकर फूलें नहीं और घोर-से-घोर कष्ट पड़नेपर भी मुँहसे उफ न निकालें । संक्षेपमें यही आत्मसमर्पण-का स्वरूप है ।

चद्दरसे हमें योगकी भी शिक्षा मिलती है । योगका अर्थ है चित्तवृत्तियोंका निरोध—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योग० १ । २) । चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जानेपर आत्मा अपने स्वरूप-में स्थित हो जाता है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।' (योग० १ । ३) । जिस प्रकार चद्दर जहाँ हम उसे रख देते हैं वहीं स्थिर होकर पड़ी रहती है, वहाँसे हिलती-डुलती नहीं—टस-से-मस भी नहीं होती, हमें भी चित्तकी वैसी ही अचल स्थिति प्राप्त कर लेनी चाहिये । गीतामें कहा है—

> यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
> योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥
> (६ । १९)

'जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है ।'

चद्दरसे हमें ज्ञानका उपदेश भी मिलता है । जिस किसी चद्दरको हम ले लें, उत्पत्तिके पूर्व वह नहीं थी और नाशके बाद

भी नहीं रहेगी। इससे सिद्ध होता है कि बीचमें—स्थिति-कालमें भी वह नहीं है, केवल दिखायीभर देती है; क्योंकि जो वस्तु है, उसका किसी भी कालमें अभाव नहीं हो सकता और जो नहीं है उसका किसी भी कालमें भाव नहीं हो सकता—यह निश्चित सिद्धान्त है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(२।१६)

यदि चद्दर वास्तवमें होती तो उसका किसी भी कालमें अभाव नहीं होता। चद्दरका अभाव होता है, इसलिये वह है नहीं। जब वह है नहीं, तब जिस कालमें वह दिखायी देती है, उस कालमें भी वस्तुतः उसका अभाव ही है, वह भ्रमसे हमें सत् प्रतीत होती है। यही हाल हमारे शरीरका है। हमारा शरीर भी जन्मसे पहले नहीं था और मृत्युके बाद नहीं रहेगा। इससे सिद्ध होता है कि जिसे हम जीवनकाल कहते हैं, उसमें भी वह है नहीं, केवल भ्रमसे प्रतीत होता है। यदि होता तो उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार उसका अभाव किसी भी कालमें सम्भव नहीं था। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(२।२८)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है?'

जो वस्तु है ही नहीं, उसके लिये शोक कैसा ?

इस प्रकार शरीर तो नाशवान् है ही। उसमें रहनेवाला आत्मा अजर एवं अमर है, शरीरका नाश हो जानेपर भी उसका नाश नहीं होता। जिस प्रकार चद्दरके फट जानेपर उसे ओढ़नेवालेका कुछ भी नहीं बिगड़ता। श्रीभगवान् कहते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य ....॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २। १७-१८, २०)

'नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

शरीर सब अनित्य एवं असत् हैं तथा आत्मा नित्य एवं सत्

है—यह ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। यह ज्ञान हो जानेपर मनुष्य शोकसे रहित हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

(२।११)

'जिनका प्राणोंसे वियोग हो गया है और जिनके प्राण अभी नहीं निकले हैं—जो अभीतक जीवित हैं, उन दोनोंके लिये ही ज्ञानीजन शोक नहीं करते।' उनकी जीवन और मृत्युमें समदृष्टि होती है। वे जानते हैं कि शरीर तो रहनेवाली वस्तु है नहीं, उसका तो नाश अवश्यम्भावी है; क्योंकि वह वस्तु-दृष्टिसे है ही नहीं, और आत्मा कभी मरता नहीं—उसका त्रिकालमें भी नाश नहीं होता। वह सदा स्थिर रहनेवाली वस्तु है। वस्तुतः आत्माके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। आत्माके अतिरिक्त जो कुछ दीखता है, वह माया है—भ्रम है। इसी ज्ञानका नाम अद्वैत ज्ञान है। श्रुति भगवती कहती है कि इस अद्वैत तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर शोक और मोहके लिये कोई कारण ही नहीं रह जाता, उनका सर्वथा सदाके लिये उच्छेद हो जाता है—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।' (ईश० ७) इस अद्वैत ज्ञानकी शिक्षा हमें चद्दरसे किस प्रकार मिलती है—यह हम ऊपर बता आये हैं।

चद्दर हमें कर्मका उपदेश भी देती है। चद्दरका उपयोग त्वचाको शीत-उष्ण आदिसे बचानेमें है; वह न सूँघनेके काम आती है, न सुननेके और न चखनेके। वह केवल ओढ़ने-बिछाने आदिके काममें ही आती है। इसी प्रकार यह मनुष्य-शरीर दूसरोंकी सेवाके लिये बनाया गया है, इसका सेवाके कार्योंमें ही अधिक-से-अधिक

उपयोग होना चाहिये । इसकी सत्ता चद्दरकी भाँति सबके उपयोगके लिये ही है । मनुष्य-शरीर ही एक ऐसा शरीर है जिससे देवता, ऋषि-मुनि, पितरों एवं भूत-प्रेतोंसे लेकर मनुष्यों, पशु-पक्षियों, कीट-पतङ्गों तथा वनस्पतियोंतककी सेवा हो सकती है । पञ्चमहायज्ञ इसी सेवाके प्रतीक हैं । यह जगत् आदान-प्रदानका क्षेत्र है । देवताओंसे लेकर पशु-पक्षियों एवं वनस्पतियोंतकके द्वारा मनुष्य-जातिकी किसी-न-किसी रूपमें सेवा होती है । इस सेवाके बदलेमें मनुष्यको भी चाहिये कि वह अन्य समस्त प्राणियोंकी सेवा करे । श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥
(३ । १०—१६)

'प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो। तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें—इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे। यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है। यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं। सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है। हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परमात्मासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।'

यज्ञका व्यापक अर्थ सेवा है। निष्काम सेवाकी ही बात यज्ञके नामसे ऊपर कही गयी है। यहाँ 'देवता' शब्दको समस्त प्राणियोंका उपलक्षण समझना चाहिये। देवताओंसे लेकर जगत्‌के

समस्त चराचर जीव किसी-न-किसी रूपमें मनुष्यकी सेवा करते हैं। अतः मनुष्यका भी कर्तव्य है कि वह बदलेमें समस्त चराचर जीवोंकी निष्काम भावसे सेवा करे। देवताओंको यज्ञ, हवन, वैश्वदेव आदिसे सन्तुष्ट करे; ऋषियोंको स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञसे एवं ज्ञानके विस्तारद्वारा प्रसन्न करे; पितरोंको श्राद्ध-तर्पण आदिसे तृप्त करे; मनुष्योंको अन्न-जल, वस्त्र, आश्रयदान एवं अन्य प्रकारकी सेवाओंद्वारा सुख पहुँचाये; अन्य प्राणियोंका भी भक्षक न बनकर रक्षक बने, उनके आहार आदिकी समुचित व्यवस्था करे और उन्हें सब प्रकारकी सुविधाएँ दे तथा पेड़-पौधोंको भी जल आदि देकर उनकी रक्षा करे, उनका अनावश्यक क्षय न करे। इस प्रकार एक दूसरेकी सेवा करने और परस्पर सुख पहुँचानेसे सृष्टिकी व्यवस्था ठीक चलती है और संसारके सभी जीव सुखी रहते हैं, किसीको अनावश्यक कष्ट नहीं होता। यह विश्व जगत्पिता परमात्माका वृहत् परिवार है। यह तभी सुखी रह सकता है, जब इस परिवारके सभी अङ्ग एक दूसरेकी सहायता करें, परस्पर सुख पहुँचायें। जो ऐसा नहीं करता, दूसरोंसे सहायता लेता है; किन्तु बदलेमें दूसरोंकी सेवा नहीं करता, वह तो अपराधी और दण्डका पात्र है। यही बात गीताके उपर्युक्त श्लोकोंमें कही गयी है। हमारे शास्त्रोंने बलिवैश्वदेव एवं तर्पणमें देवताओंसे लेकर कीट-पतङ्गतकको अन्न एवं जल देनेका विधान किया है। यहाँतक कि हमारे यहाँ सन्ध्या-गायत्री आदि ईश्वरोपासना भी विश्व-कल्याणकी भावनासे ही करनेकी आज्ञा है। ऐसा समझकर जो मनुष्य निष्कामभावसे सबकी सेवा करता है उसका तो कल्याण हो ही जाता है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य भगवान्‌की सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। समस्त प्राणियोंकी रचना कर चुकनेपर भी जब विधाताको सन्तोष नहीं हुआ, तब उन्होंने मनुष्य-प्राणीको रचा। मनुष्यको भगवान्‌ने अपनी ही प्रतिकृति बनाया है। इस नाते भी प्राणिमात्रकी रक्षा करना, उन्हें सेवाके द्वारा सुख पहुँचाना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है। कुछ लोग भूलसे ऐसा मान बैठते हैं कि संसारके समस्त प्राणी मनुष्यकी सेवाके लिये, उसे सुख पहुँचानेके लिये रचे गये हैं, वह उनका चाहे जैसे उपयोग कर सकता है। जगत्‌का मांसाहारी जन-समुदाय तो मनुष्येतर समस्त जीवोंकी सृष्टि मनुष्यकी क्षुधा-निवृत्तिके लिये, नहीं-नहीं, उसकी जिह्वाको सुख पहुँचानेके लिये ही मानता है। मनुष्यका इससे बड़ा पतन और क्या हो सकता है। मनुष्यकी सर्वश्रेष्ठता क्या इन्द्रिय-तृप्तिके द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें ही है? तब तो वह जगत्‌का सर्वश्रेष्ठ प्राणी न होकर सर्वाधिक स्वार्थी अतएव सर्वापेक्षा नीच कहलानेका ही अधिकारी होगा। जिसमें स्वार्थकी मात्रा जितनी अधिक होगी, वह उतना ही नीच समझा जायगा। मनुष्य प्राणिजगत्‌में सर्वश्रेष्ठ तभी कहला सकता है, जब वह सबको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करे। फिर जिह्वाके क्षणिक स्वादके लिये अथवा क्षुधा शान्त करनेके लिये भी किसी जीवकी हिंसा करना तो अत्यन्त नृशंस एवं घृणित कार्य है। इसका समर्थन कौन बुद्धिमान् एवं विवेकी मनुष्य कर सकता है।

मनुष्यके अङ्गोंकी बनावट देखकर भी कोई यह नहीं कह सकता कि मनुष्यको प्रकृतिने मांसाहारी बनाया है। मनुष्यकी तो

बात ही अलग रहे, मनुष्येतर प्राणियोंमें भी हाथी, घोड़ा, गदहा, भैंसा, गौ, बंदर, हरिन, बकरा, भेड़, कबूतर आदि अनेकों जीव ऐसे हैं जो वनस्पति तथा अन्न आदिसे ही अपना निर्वाह करते हैं और भूलकर भी मांसका सेवन नहीं करते। जब मनुष्येतर सृष्टिमें भी ऐसी अनेकों योनियाँ हैं जो मांससे घृणा करती हैं; तब मनुष्यके सम्बन्धमें यह कहना कि मनुष्यको प्रकृतिने ही मांसाहारी बनाया है, अपनी बुद्धिका दीवाला निकालना है। सच तो यह है कि जिस प्रकार चद्दरका उपयोग ओढ़ने-बिछानेमें ही है, सूँघने, सुनने अथवा चखनेमें नहीं, उसी प्रकार मनुष्य-जीवनकी चरितार्थता दूसरोंकी सेवा एवं उन्हें सुख पहुँचानेमें ही है, उनकी हिंसा करने अथवा उन्हें भक्षण करनेमें नहीं। इसके विपरीत जो लोग अन्य प्राणियोंकी हिंसा करनेमें ही मनुष्य-जीवनकी चरितार्थता समझते हैं, वे तो इस सुरदुर्लभ मनुष्य-जन्मका दुरुपयोग ही करते हैं। उन्हें पुनः यह मनुष्य-जीवन नहीं मिलता। उनकी मृत्युके बाद जैसी दुर्गति होती है, उसका स्वयं श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे इस प्रकार वर्णन किया है। वे कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। १९-२०)

'उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ। हे अर्जुन! वे

मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं, अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ।'

मनुष्यकी उन्नति एवं अवनति उसीके हाथ है । अतः मनुष्यको चाहिये कि वह अपने कल्याणका, आध्यात्मिक उन्नतिका ही साधन करे, जान-बूझकर अपनेको अवनतिके गर्तमें न गिराये । श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।' (गीता ६ । ५) अपने स्वरूपके अनुसार आचरण करना ही अपनेको उन्नत करना है और उसके विपरीत चेष्टा करना अपनेको मनुष्यत्वसे गिराना, अधोगतिमें ले जाना है । स्वार्थ-त्यागपूर्वक दूसरों-की सेवा करना ही मनुष्यका वास्तविक स्वरूप है । जिस प्रकार गदहेको देखकर मनमें यही भाव उत्पन्न होता है कि यह कोई भारवाही पशु है, सिंहकी आकृतिसे ही यह पता लग जाता है कि यह कोई क्रूर एवं हिंसक जन्तु है, उसी प्रकार मनुष्यको देखनेसे यह पता चलता है कि इसे भगवान्‌ने दूसरोंकी सेवाके लिये, उन्हें सुख पहुँचानेके लिये ही रचा है । गोस्वामी तुलसीदासजीने पाप और पुण्यकी संक्षेपमें इस प्रकार व्याख्या की है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

इसे संस्कृतके निम्नलिखित पद्यका भावानुवाद कह सकते हैं—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

कहना होगा कि धर्म ही आत्माको उन्नत करनेवाला है और पाप ही उसे नीचे गिरानेवाला—पातक है । श्रीभगवान्‌ने भी प्राणिमात्रके हितमें रत रहना अपनी प्राप्तिका उपाय बतलाया है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

(गीता १२ । ४)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।' चद्दरसे हमें इस प्रकार सबके उपयोगी बननेकी शिक्षा मिलती है।

इसी प्रकार चद्दर हमें वैराग्यका भी उपदेश देती है। चद्दरका सदा-सर्वदा एक-सा रूप नहीं रहता। स्वभावतः परिणामी होनेके कारण वह प्रतिक्षण क्षीण होती रहती है और क्षीण होते-होते एक दिन सर्वथा नष्ट हो जाती है। यही दशा हमारे शरीरकी भी है, वह प्रतिक्षण मृत्युकी ओर जा रहा है। एक दिन ऐसा आयेगा जब वह सर्वथा शक्तिहीन एवं क्रियाहीन होकर पड़ जायगा और मिट्टीमें मिल जायगा। यही हाल संसारके अन्य पदार्थों—विषयभोगोंका है। संसारके सभी विषय असत् एवं दुःखरूप हैं। हमने भ्रमसे उन्हें सत् एवं सुखरूप मान रक्खा है। यदि वे वास्तवमें सत् एवं सुखरूप होते तो सदा रहते और उनसे हमें सदैव सुख ही मिलता परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता। उदाहरणके लिये दूधको ले लीजिये। वह देखनेमें बहुत ही सुन्दर, स्वादु, आरोग्यकर और सुखदायक प्रतीत होता है। परन्तु जो स्वाद और गुण ताजे अथवा हालके गर्म किये हुए दूधमें पाया जाता है, वह बासी तथा ठंडे दूधमें नहीं पाया जाता। दो दिन पड़ा रहनेपर तो उसका स्वाद बिल्कुल बिगड़ जाता है और उसका गुण भी नष्ट हो जाता है। वही दस दिन पड़ा रहनेपर विष-तुल्य हो जायगा; उसका नाम, रूप, स्वाद और गुण—सब कुछ बदल जायगा। न्यूनाधिक रूपमें यही दशा सभी विषयोंकी है। परिवर्तन और विनाश ही जगत्का रूप है।

जगत्के पदार्थोंमें सुखरूपता भी हमें भ्रमसे ही प्रतीत होती है, वास्तवमें तो वे सभी दुःखरूप ही हैं। उदाहरणके लिये एक पुष्प-मालाको ले लीजिये। दो-चार बार सूँघनेमें तो वह अच्छी मालूम होती है, परन्तु अधिक देरतक उसे हम नाकसे सटाकर नहीं रख सकते; कुछ देरके बाद ऊबकर हम उसे अलग रख देते हैं। फिर यदि कोई जबर्दस्ती उसे हमारी नाकके पास ले जाना चाहेगा तो हम झुँझला उठेंगे। हमारी इस विरक्तिका क्या कारण है; यदि मालामें सुख होता तो हम उसे सदा-सर्वदा अपनी नाकसे सटाये रखते, एक क्षणके लिये भी उसे अलग नहीं करते। परन्तु बात कुछ दूसरी ही है। विषयोंमें हमें भ्रान्तिसे ही क्षणिक सुखकी प्रतीति होती है, परिणाममें वे दुःखरूप ही हैं। स्त्री-प्रसङ्ग आदिकी तो दुःखरूपता प्रकट ही है। उसमें एक बार क्षणभरके लिये सुखकी प्रतीति होती है; फिर ग्लानि, दुःख, विरक्ति, क्लान्ति, निर्बलता आदि ही हमारे हाथ लगते हैं एवं बल, वीर्य, तेज और बुद्धिका नाश तथा स्वास्थ्यकी हानि तो इससे प्रत्यक्ष ही होती है। इसका अधिक और निषिद्ध सेवन करनेसे तो मनुष्य रोगी और अल्पजीवी हो जाता है; शीघ्र ही काल-का कवल बन जाता है और परलोकमें उसकी दुर्गति होती है; इसीलिये भगवान् गीतामें कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९। ३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

यह मनुष्य-जीवन अनित्य अर्थात् अविनाशी है, यह प्रतिक्षण मृत्युकी ओर जा रहा है। न जाने कब हमें इससे हाथ धोना पड़े। है भी यह दुःखरूप, इसमें सुखकी प्रतीति भ्रमसे हो रही है। परन्तु क्षणभङ्गुर एवं दुःखरूप होनेपर भी यह मिलता बड़े पुण्योंसे है। क्योंकि नित्य सुखरूप भगवान्‌की प्राप्ति इसी अनित्य एवं दुःखरूप मनुष्य-शरीरसे सम्भव है। इसलिये इस दुर्लभ मानवदेहको पाकर यदि हम इससे भगवत्प्राप्तिरूप स्थायी और परम लाभ उठाना चाहें तो इसका एकमात्र उपाय है—भगवच्छरणागति, जिसका स्वरूप स्वयं भगवान्‌के शब्दोंमें इस प्रकार है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९।३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें युक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस प्रकार एक मामूली चद्दरसे हमें भगवच्छरणागति, योग, ज्ञान, कर्म और वैराग्यकी अनुपम शिक्षा मिलती है। हम चाहें तो इसी प्रकार जगत्‌के समस्त पदार्थोंसे उत्तमोत्तम शिक्षा ले सकते हैं। किसी कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

उत्तम विद्या लीजिए जदपि नीच पै होय।
परयो अपावन ठौर महँ कंचन तजै न कोय॥

मान-बड़ाईका त्याग

जो उच्च कोटिके पुरुष हैं, जिन्होंने परमात्माका तत्त्व भलीभाँति जान लिया है, वे मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदिको समान समझते हुए भी मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठासे बहुत दूर रहते हैं। क्योंकि साधनकालमें वे इन्हें विषके समान हेय तथा आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक समझकर इनसे बचते आये हैं और दृढ़ अभ्यासके कारण यही आचरण उनके अंदर सिद्धावस्थामें भी देखा जाता है। सिद्ध पुरुष वास्तवमें तो कुछ करते नहीं; किन्तु उनके द्वारा लोकमें वैसा ही आचरण होते देखा जाता है, जैसा आचरण वे सिद्धावस्था-के ठीक पहले करते रहे हैं। सिद्धावस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष कभी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता जो संसारके लिये अनुकरणीय न हो। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
>
> (३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

ऐसे पुरुष अपने जीवनकालमें तथा मरनेके बाद भी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाको नहीं चाहते। जो लोग उनके इस रहस्यको जानकर स्वयं भी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठासे दूर रहते हैं, वे ही उनके सच्चे अनुयायी कहलानेयोग्य हैं। इसके विपरीत जो लोग मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके गुलाम हैं; किन्तु कहते हैं अपनेको महात्माओंका अनुयायी

वे तो वास्तवमें महात्माओंके संगको लजानेवाले हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि महात्मालोग लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे ही लोगोंको अपनी पूजा करनेसे रोकते हैं, वे तो ऐसा करनेवाले महात्माओंको एक प्रकारसे दम्भी सिद्ध करते हैं। जो लोग मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका त्याग इसलिये करते हैं कि ऐसा करनेसे लोकमर्यादाकी रक्षा होती है किन्तु हृदयसे अपनेको पुजवाना चाहते हैं, वे वास्तवमें महात्मा नहीं हैं। मरनेके बाद पूजा चाहनेका स्वरूप यह है कि लोग मरनेके बाद उनकी कीर्तिको स्थायी रखनेके लिये, उनकी स्मृति बनाये रखनेके लिये किसी स्मारकका आयोजन करें और वे लोगोंके इस विचारका समर्थन करें। यही नहीं, जो लोग अपने किसी पूज्य पुरुषके लिये इस प्रकारके स्मारकका आयोजन करते हैं, उनके सम्बन्धमें भी ऐसी धारणा अनुचित नहीं कही जा सकती कि वे स्वयं भी अपने लिये यही चाहते हैं कि मेरे मरनेके बाद लोग मेरे लिये भी इसी प्रकारका स्मारक बनायें।

जो कोई भी ऐसा चाहता है कि मरनेके बाद लोग मेरा चित्र रखकर उसकी पूजा करें और मेरी कीर्ति अखण्ड रहे, उसके सम्बन्धमें यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि वह परमात्माके रहस्यको नहीं जानता, वह निरा अज्ञानी है। ज्ञान एवं भक्ति दोनोंके ही सिद्धान्तसे हम इसी निर्णयपर पहुँचते हैं। ज्ञानके सिद्धान्तसे तो एक सच्चिदानन्द ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं; तब कौन किसकी पूजा करे और कौन किससे पूजा कराये। एक ही परमात्मा सर्वत्र स्थित है, वह अनन्त और सम है; ऐसी स्थितिमें अपने एकदेशीय स्वरूपकी पूजा करानेवाला महात्मा कैसे समझा जाय। यदि कोई

यह समझे कि पूजा ग्रहण करनेसे मेरा तो कोई लाभ-हानि नहीं परन्तु पूजा करनेवालेको लाभ पहुँचेगा, तो वहाँ यह स्पष्ट है कि ऐसा समझनेवाला अपनेको ज्ञानी और पूजा करनेवालोंको अज्ञानी समझता है। किन्तु जो अपनेको ज्ञानी और दूसरोंको अज्ञानी समझता है, वह स्वयं अज्ञानी ही है। ज्ञानीके अंदर यह भावना कदापि सम्भव नहीं है कि मेरी पूजासे दूसरोंको लाभ पहुँचेगा। यदि यह कहा जाय कि ऐसा माननेवाला ज्ञानी तो नहीं हो सकता, किन्तु जिज्ञासु तो ऐसा मान सकता है, तो यह भी ठीक नहीं। अपनी पूजासे दूसरोंका लाभ समझनेवाला जिज्ञासु भी नहीं हो सकता। इस प्रकारकी धारणा जिज्ञासुके अंदर भी नहीं हो सकती। निरा अज्ञानी ही ऐसा सोच सकता है।

यदि यह मानें कि महात्मा स्वयं तो पूजा नहीं चाहते; परंतु लोगोंकी दृष्टिसे उन्हें महात्माओंकी पूजामें प्रवृत्त करनेके लिये वे ऐसा करते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि लोगोंको महात्माओंकी पूजामें लगाना तो ठीक है, परन्तु ऐसा करना चाहिये अपने व्यक्तित्वको बचाकर ही। महात्माओंकी पूजाका आदर्श स्थापित करनेके लिये भी अपनेको पुजवाना ठीक नहीं। यदि महात्माओंकी पूजाका प्रचार ही करना है तो पहले भी तो अनेकों एक-से-एक बढ़कर महात्मा हो गये हैं और उनसे भी बढ़कर स्वयं भगवान्के अवतार हो चुके हैं; उन सबको छोड़कर अपनी पूजा करवानेकी क्या आवश्यकता है।

अद्वैतसिद्धान्तकी दृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा और परमात्मा एक हैं, अतः अपनेसे भिन्न कोई है ही नहीं। इस सिद्धान्तको माननेवालेकी दृष्टिमें भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण भी अपने ही स्वरूप हैं, अतः उनकी पूजा भी अपनी ही पूजा है। फिर उनकी पूजासे हटाकर कोई

ज्ञानी महात्मा कैसे चाहेगा कि लोग मेरी पूजा करें। जो ऐसा चाहता है, वह देहाभिमानी है, ज्ञानी नहीं। ज्ञानी पुरुषको तो चाहिये कि यदि कोई दूसरा भी ऐसा करता हो तो उसे रोके, उसका विरोध करे, जिससे उसका अज्ञान दूर हो। ऐसा न करके यदि वह स्वयं अपनेको पुजवाता है तो यही मानना पड़ेगा कि या तो वह अज्ञानी है, मूर्ख है या ढोंगी है। दम्भके द्वारा अपना उल्लू सीधा करता है, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका किङ्कर है। इसके सिवा और क्या कहा जा सकता है। फिर श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिके स्वरूप तो नित्य एवं दिव्य हैं, हमारी तरह पाञ्चभौतिक—मायिक नहीं। और महात्माओंका शरीर तो ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर भी मायाका कार्य होनेके कारण नाशवान्, क्षणभङ्गुर ही है। ऐसी दशामें किसी भी मनुष्यका शरीर, चाहे वह बड़े-से-बड़ा महात्मा ही क्यों न हो, भगवान् राम-कृष्णादिके अलौकिक सौन्दर्य एवं माधुर्यसे पूर्ण विग्रहोंकी समता कैसे कर सकता है। अतः भगवान् राम-कृष्णादिके दिव्य विग्रहोंकी पूजासे हटाकर जो अपने नाशवान् शरीरको पुजवाता है, वह वास्तवमें भगवान्के तत्त्वको नहीं जानता। इसी प्रकार भगवान्के दिव्य एवं मधुर नामोंसे हटाकर जो अपने नामकी पूजा, अपने नामका प्रचार करवाता है वह भी ज्ञानी नहीं, अज्ञानी ही है।

यह तो हुई ज्ञानकी बात। भक्तिके द्वारा जो भगवान्को प्राप्त कर चुका है, वह भी भगवान्के स्थानपर अपनेको कैसे बैठाना चाहेगा। जो ऐसा करता है, वह तो अपनेको घोर अन्धकारमें डालता है। यदि यह कहा जाय कि वह स्वयं तो पूजा नहीं चाहता, परन्तु कोमल स्वभाव होनेके कारण वह दूसरोंको पूजा करनेसे रोक

नहीं सकता, तो इसका उत्तर यह है कि जो भक्त दूसरोंको अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेसे रोक नहीं सकता, उन्हें समझा नहीं सकता, उसकी पूजा और प्रतिष्ठासे हमें क्या लाभ हो सकता है। भगवान्‌को प्राप्त हुए भक्तोंमें तो अलौकिक शक्ति होनी चाहिये। फिर यदि कोई मनुष्य भक्त होकर भी दूसरोंके द्वारा अपने प्रति किये जानेवाले पूजा-प्रतिष्ठादिको रोक नहीं सकता तो वह दूसरोंका कल्याण कैसे कर सकता है। किसी महात्माके नामपर, चाहे वह भक्ति, ज्ञान, योग—किसी भी मार्गसे पहुँचा हुआ हो, कोई अनुचित व्यवहार करे और वह उसे रोक न सके—यह असम्भव है। यदि कोई श्रीहनुमान्‌जीको भगवान् श्रीरामके स्थानपर बिठाकर पूजना चाहे तो भक्तशिरोमणि श्रीहनुमान्‌जी उसकी इस पूजाको कैसे स्वीकार कर सकते हैं। यदि किसी सेठकी गद्दीपर कोई उसके गुमाश्ते या मुनीमको ही सेठके रूपमें सजाकर उसका सम्मान करना चाहे और वह गुमाश्ता या मुनीम यदि स्वामिभक्त है तो वह उस सम्मानको कब स्वीकार करेगा। और यदि करता है और सेठको इस बातका पता चल जाय तो वह अपने गुमाश्ते या मुनीमके इस व्यवहारको कैसे सहन करेगा। नमकहराम नौकर ही ऐसा कर सकता है। सच्चा भक्त ऐसी बात कभी सोच भी नहीं सकता। यहाँ तो गुमाश्ता या मुनीम सेठ बनकर ऐसा कर भी सकता है और सेठको पता ही न चले; परंतु भगवान् तो सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञ ठहरे, उनसे छिपाकर कोई कुछ कर ही नहीं सकता। भगवान् संजकर पूजा ग्रहण करना कोई भगवत्प्राप्त पुरुष तो कर ही नहीं सकता। भक्तिमार्गपर चलनेवाला साधक भी ऐसा नहीं कर सकता। इस प्रकारका अवसर अनायास

कभी प्राप्त भी हो जाय तो भक्त साधक ऐसी अवस्थामें रोने लग जायगा, वह समझेगा कि यह तो मेरे लिये कलङ्ककी बात होगी। बात भी सच है, ऐसा करने-करानेवाला अपने और अपने भगवान् दोनोंपर कलङ्क लगाता है। जो भगवान्‌के नामपर अपनेको पुजवाता है, वह भक्तिका प्रचार करना तो दूर रहा, उल्टा, संसारमें भ्रम फैलाता है और भगवान् भी उसकी इस करतूतपर मन-ही-मन हँसते हैं।

जो मनुष्य भगवान्‌के स्थानपर अपनेको बिठाकर पूजा ग्रहण करता है, उसके प्रति स्वाभाविक ही हमारी अश्रद्धा हो जाती है। इसी प्रकार हमें भी सोचना चाहिये कि यदि हम भी ऐसा करेंगे तो लोग हमें भी घृणाकी दृष्टिसे देखने लग जायँगे। तथा इस प्रकार हमलोग भी महात्माओंके प्रति श्रद्धा बढ़ानेके बदले अश्रद्धा उत्पन्न करनेमें ही सहायक बनेंगे। क्योंकि वास्तवमें इस प्रकारका व्यवहार निन्दनीय ही है। सिद्ध पुरुषोंके द्वारा तो स्वाभाविक ही ऐसा आचरण होगा जो साधकोंके लिये लाभदायक हो। संसारमें ऐसे पुरुष ही आदर्श माने जाते हैं, जिनके आचरण, उपदेश, दर्शन, स्पर्श एवं सम्भाषणसे दूसरोंका हित हो! अच्छे पुरुषोंके आचरण ही दूसरोंके लिये आदर्श होते हैं। यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि महात्माओंमें अविद्याका लेश भी नहीं होता; फिर अविद्याका कार्य—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा—तो हो ही कैसे सकती है। स्वयं महापुरुष, जो इस तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं, इसका प्रचार एवं प्रकाश करके लोगोंके अज्ञानान्धकारका नाश करते हैं। वास्तवमें जो मान, बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा एवं सत्कार आदि चाहते हैं अथवा सम्मति देकर लोगोंसे अपनी पूजा आदि करवाते

हैं वे तो महामूढ़ हैं ही। किन्तु जो न तो दूसरोंको अपनी पूजा करनेके लिये कहता है और न पूछनेपर सम्मति देता है; परन्तु पूजा आदि मिलनेपर उसे प्रसन्न मनसे स्वीकार कर लेता है, उसका विरोध नहीं करता, वह भी मूढ़ ही है। जो पूजा मिलनेसे प्रसन्न तो नहीं होता, चाहता भी नहीं कि लोग मुझे पूजें, किन्तु हृदयसे पूजा-सत्कारका विरोध नहीं करता, वह भी ज्ञान और भक्तिसे अभी बहुत दूर है।

वर्तमान समयमें असली श्रद्धा और प्रेम बहुत कम लोगोंमें देखनेको मिलता है, अधिकांश लोगोंमें श्रद्धा और प्रेमकी नकल ही देखनेको मिलती है। असली श्रद्धाका रूप बाहरी पूजा, नमस्कार, सत्कार आदि नहीं है; ये तो श्रद्धाके बाहरी रूप हैं, शिष्टाचारके अन्तर्गत हैं। ये दिखावटी भी हो सकते हैं। असली श्रद्धा तो श्रद्धेय पुरुषका हृदयसे अनुयायी बन जाना, उनकी इच्छाके—उनके मनके सर्वथा अनुकूल बन जाना है। सूत्रधार कठपुतलीको जिस प्रकार नचाता है, उसी प्रकार वह नाचने लगती है, वह सब प्रकारसे नचानेवालेपर ही निर्भर करती है। इसी प्रकार जो श्रद्धेय पुरुषके सर्वथा अनुगत हो जाता है, उसीके इशारेपर चलता है, अपने मनसे कुछ भी नहीं करता, वह सच्चा श्रद्धालु है। श्रद्धेयकी आज्ञाओंका अक्षरशः पालन करना भी ऊँची श्रद्धाका द्योतक है। परन्तु श्रद्धेयको मुँहसे कुछ भी न कहना पड़े, उसके इङ्गितपर ही सब काम होने लगे, उसकी रुचिके अनुकूल सारी क्रिया होने लगे—यह और भी ऊँची श्रद्धा है। सच्चे अनुगत पुरुषको छायाके समान व्यवहार करना चाहिये। जिस प्रकार हमारी छायामें, हमारे प्रतिबिम्बमें हमारी प्रत्येक चेष्टा अपने-आप जैसी-की-तैसी उतर आती है,

उसी प्रकार श्रद्धेयका प्रत्येक आचरण, उसका प्रत्येक गुण श्रद्धालुके जीवनमें उतर आना चाहिये। इस प्रकार जो छायाकी भाँति श्रद्धेयका अनुसरण करता है, वही सच्चा शरणागत है, उसीकी श्रद्धा परम श्रद्धा है, उच्चतम कोटिकी श्रद्धा है। सच्चा श्रद्धालु श्रद्धेयके प्रतिकूल आचरण करना तो दूर रहा, अनुकूलतामें रंचकमात्र उनकी कमीको भी सहन नहीं कर सकता, संतोंकी बाहरी पूजाका-शिष्टाचारका इतना महत्त्व नहीं है जितना भीतरसे उनके अनुकूल बन जानेका। संतोंके अनुकूल बन जाना ही उनकी असली पूजा है।

इसी प्रकार जो सच्चे प्रेमी होते हैं, वे अपने प्रेमास्पदका एक क्षणके लिये भी वियोग नहीं सह सकते। वे जान-बूझकर तो अपने प्रेमास्पदका त्याग कर ही नहीं सकते, यदि प्रेमास्पद उन्हें बरबस अलग कर देता है तो विरहके कारण उनकी दशा शोचनीय हो जाती है। किसी-किसी प्रेमीकी तो प्रेमास्पदके विरहमें मृत्युतक हो जाती है, अथवा मृत्युकी-सी दशा हो जाती है, जलके अभावमें मछलीकी तरह उसके प्राण छटपटाने लगते हैं। वह यदि जीता है, तो प्रेमीकी इच्छा मानकर—उसके मिलनकी आशासे ही जीता है; मनसे तो उसका प्रेमास्पदसे कभी वियोग होता ही नहीं, मन उसका निरन्तर अपने प्रियतममें ही बसा रहता है। प्राचीन इतिहासके पन्नोंको उलटनेपर श्रद्धा और प्रेमका सर्वोच्च नमूना हमें भरतजीके जीवनमें मिलता है। ननिहालसे लौटनेपर भरतजीने जब सुना कि श्रीराम वनको चले गये और उनके वनगमनका कारण मैं ही हूँ, तब वे सब कुछ छोड़कर तुरंत श्रीरामके पास वनमें गये और अयोध्या लौट चलनेके लिये उनसे प्रार्थना की। वाल्मीकीय रामायणमें तो उन्होंने श्रीरामजीको यहाँतक कह दिया कि यदि आप अयोध्या न

चलेंगे तो मैं अनशन-व्रत लेकर प्राणत्याग कर दूँगा। परन्तु फिर श्रीरामकी आज्ञा मानकर, उनकी रुख देखकर वे चुप हो रहे और उनकी चरणपादुकाओंको मस्तकपर रखकर अयोध्या लौट आये। किन्तु अयोध्या लौटकर भी वे भोगोंमें लिप्त न हुए, अयोध्यासे बाहर नन्दिग्राममें रहकर उन्होंने मुनियोंका-सा जीवन व्यतीत किया और बड़ी उत्कण्ठासे श्रीरामके लौटनेकी प्रतीक्षा करते रहे।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि भरतजीका श्रीरामके चरणोंमें अतिशय प्रेम था तो उनसे श्रीरामका वियोग कैसे सहा गया, श्रीरामके विरहमें उन्होंने प्राण क्यों नहीं त्याग दिये, तो इसका उत्तर यह है कि भरतजी श्रीरामके निरे प्रेमी ही न थे, वे उच्च कोटिके श्रद्धालु भी थे। उनकी प्रसन्नतामें प्रसन्न रहना, प्राणोंकी बाजी लगाकर भी उनकी आज्ञाका पालन करना उनके जीवनका व्रत था। उनकी इस श्रद्धाने ही उनके प्राणोंकी रक्षा की और उन्हें चौदह वर्षतक जीवित रक्खा। उन्हें विश्वास था कि चौदह वर्ष बीतनेपर श्रीरामसे अवश्य भेंट होगी और फिर आजीवन मैं उनके साथ रहूँगा। फिर कभी वे मुझे अलग रहनेको नहीं कहेंगे। इसी आशापर वे जीवित रहे। फिर भी उन्हें श्रीरामके वियोगका दुःख कम न था। एक-एक दिन गिनकर उन्होंने चौदह वर्ष व्यतीत किये और विरह-व्यथामें सूखकर वे अत्यन्त कृश हो गये। यही नहीं, चौदह वर्ष बीतनेके बाद यदि श्रीराम वनसे लौटनेमें कुछ भी विलम्ब करते तो उनका प्राण बचना कठिन था। इस प्रकार प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची अवस्था उनके अंदर व्यक्त थी। साथ ही उनमें श्रद्धा भी कम न थी। इसीलिये उन्होंने सोचा कि जब श्रीराम अपनी इच्छासे वनमें जा रहे हैं तो उनकी इच्छाके विरुद्ध उन्हें लौटानेके लिये

मुझे अति आग्रह क्यों करना चाहिये। इस प्रकार अतिशय प्रेमके साथ-साथ उनमें श्रद्धा भी उच्चतम कोटिकी थी। किन्तु उच्च श्रेणीके प्रेमी अपने प्रेमास्पदकी और सब बातें मानते हुए भी कभी-कभी उनके सङ्गके लिये अड़ जाते हैं। सङ्गके लिये उनका इस प्रकार आग्रह करना भी दोषयुक्त नहीं माना जाता। इससे उनकी श्रद्धामें कमी नहीं मानी जाती। सारांश यह है कि प्रेमी किसी भी हेतुसे प्रेमास्पदका त्याग नहीं करता। प्रेमास्पदका सङ्ग बना रहे, इसके लिये वह कभी-कभी अपने प्रेमास्पदकी रुचिकी भी उपेक्षा कर देता है। इसके विपरीत, श्रद्धालु अपने श्रद्धेयकी रुचि रखनेके लिये उनके सङ्गका भी प्रसन्नतापूर्वक त्याग कर देता है, परन्तु उनकी रुचिके प्रतिकूल कोई चेष्टा नहीं करता। प्रेमीको प्रेमास्पदका सङ्ग छोड़नेमें मृत्युके समान कष्ट होता है और श्रद्धालुको श्रद्धेयकी रुचिके प्रतिकूल आचरण मरणके समान प्रतीत होता है। प्रेमास्पद प्रेम बढ़ानेके लिये यदि प्रेमीको कभी अलग कर देता है तो प्रेमीको उसका वियोग असह्य हो जाता है। इसी प्रकार श्रद्धालुसे श्रद्धेयकी रुचिका पालन करनेमें तनिक भी कोर-कसर सहन नहीं होती। सच्चे प्रेम और श्रद्धाका यही स्वरूप है। इसपर कोई यह कह सकते हैं कि सच्चे भगवद्भक्त मान आदि तो बिल्कुल नहीं चाहते, न यह चाहते हैं कि लोग उनके चित्रकी पूजा करें, उनके नामका प्रचार हो अथवा उनकी जीवनी लिखी जाय; परन्तु सभी भक्त और ज्ञानी यदि इन सब बातों का कड़ाईके साथ विरोध करने लग जायँ तो फिर अच्छे पुरुषोंकी जीवनियाँ अथवा स्मारक संसारमें मिलने ही कठिन हो जायँगे, जिससे आगेकी पीढ़ियाँ उनसे मिलनेवाले लाभसे सदाके लिये वञ्चित

हो जायँगी, तो इसका उत्तर यह है कि अच्छे पुरुष इन सब बातोंका तनिक भी विचार नहीं करते। अखण्ड ब्रह्मचर्यका व्रत धारण करनेवाला क्या कभी यह सोचता है कि मेरी देखा-देखी यदि दूसरे लोग भी स्त्री-सुखका त्याग कर देंगे तो फिर संसारका व्यवहार कैसे चलेगा, सृष्टिका कार्य ही बंद हो जायगा। ऐसा सोचनेवाला कभी ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकता। इसी प्रकार अच्छे पुरुष यह कभी नहीं सोचते कि यदि हम पूजा ग्रहण करना छोड़ देंगे तो संसारसे महापुरुषोंकी पूजाकी पद्धति ही उठ जायगी। संसारका व्यवहार तो सदा इसी प्रकार चलता आया है और चलता रहेगा। यदि कोई कहे अबतकके महात्माओंकी इच्छा एवं प्रेरणासे ही उनकी जीवनियाँ लिखी गयी हैं अथवा उनके स्मारकोंका निर्माण हुआ है, तो ऐसा कहना अथवा सोचना उन महात्माओंपर झूठा कलङ्क लगाना, उनपर व्यर्थका दोषारोपण करना है। महात्माओंकी बात तो अलग रही, ऊँचे साधकके मनसे भी यह वासना हट जाती है; यदि रहती है तो यह मानना चाहिये कि वह उच्च कोटिका साधक नहीं है। इस सम्बन्धमें यह निश्चित सिद्धान्त मान लेना चाहिये कि अच्छे पुरुषोंके मनमें यह वासना कभी उठती ही नहीं कि मेरे जीवन-कालमें अथवा मरनेके बाद लोग मेरे शरीर या मूर्तिकी पूजा करें, मेरे नामका प्रचार हो अथवा मेरी जीवनी लिखी जाय। इस प्रकारकी इच्छाका अच्छे पुरुषोंमें अत्यन्ताभाव हो जाता है। और महात्माओंका सच्चा अनुयायी एवं सच्चा श्रद्धालु वही है जो उनके भावके, उनकी इच्छाके अनुकूल अपने जीवनको बना लेता है; वही सच्चा शरणापन्न और वही सच्चा भक्त है।

भगवान्‌का प्यारा

'आप दिनभर गीतापाठ करें और गीताके अनुसार जीवन बनानेके प्रयत्नमें लगे रहें, पर पेट-पूजाका भी तो थोड़ा ध्यान रखना चाहिये'—छोटे भाईने बड़े भाईसे कहा। बड़ा भाई निरन्तर गीता-पाठमें लगा रहता था। उसने सुन लिया था कि 'सम्पूर्ण गीतापाठकी अपेक्षा अर्थ और भावसहित एक अध्यायका प्रतिदिन पाठ कर लेना उत्तम है; किन्तु गीताके साँचेमें अपना जीवन ढाल लेना तो सबसे उत्तम है। गीतामें बहुत-से ऐसे भी श्लोक हैं, जिनमेंसे किसी एक श्लोकको अपने जीवनमें उतार लेनेसे कल्याण हो जाता है।' उन चारों भाइयोंमें यह बड़ा भाई गीताप्रेमी था। वह बारहवें अध्यायके १७ वें श्लोकको अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न कर रहा था। छोटे भाईकी उपर्युक्त बात सुनकर भी वह चुप रहा।

'धनोपार्जनके लिये हमारी तरह आपको भी श्रम करना पड़ेगा'—दूसरे छोटे भाईने कहा।

'हम कबतक कमाकर खिलायेंगे ?'—तीसरेने भी उसीका समर्थन किया।

'सबसे अच्छा यही है कि आप अलग हो जाइये'—पहले छोटे भाईने आवेशमें कह दिया।

'सचमुच आपके साथ हमलोगोंका निर्वाह नहीं हो सकेगा'—दूसरे छोटे भाईने और कर्कश स्वरमें कहा।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

बड़े भाईने गम्भीरतासे उत्तर दिया, 'भैया ! यह श्लोक गीता-का है। अर्जुनसे भगवान् कहते हैं 'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ समस्त कर्मोंको त्याग चुका है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।' गीताभ्यासीने श्लोक सुनाया—इसी बीचमें—

'उपदेश अपने पास रखिये। आज ही आप अलग हो जाइये'—तीसरे छोटे भाईने जोरसे कहा।

'तुमलोग मुझे अलग करते हो, इससे न तो मुझे कोई हर्ष है और न कोई शोक ही है'—गीताप्रेमी बड़े भाईने शान्तिसे उत्तर दिया 'न द्वेष है और न अलग होनेकी आकाङ्क्षा ही है। हर्ष, शोक, इच्छा तथा द्वेषरहित पुरुष ही प्रभुका प्रिय पात्र है। तुम-लोग जो उचित समझो करो।'

'बिना अलग किये इनकी अक्ल ठिकाने नहीं आयेगी। लच्छेदार उपदेश देकर ये आनन्दपूर्वक दिन बिताना चाहते हैं।' छोटे पहले भाईने निश्चय सुना दिया।

'हमलोगोंने बहुत दिनोंतक इनका पालन-पोषण किया। अब तंग आ गये'—छोटे दूसरे भाईने भी दोनों बन्धुओंका अनुमोदन किया।

'मैं सम्मिलित रहती तो तीनोंका भोजन बनाना पड़ता'—भीतरसे गीताभ्यासीकी कर्कशा पत्नीने जोरसे कहा—'तीनोंको अलग हो जाने दो, चिन्ताकी कोई बात नहीं।'

'अनुकूल परिस्थिति पाकर जिसे हर्ष नहीं होता वही प्रभुका प्रिय है' गीताभ्यासीने अपनी पत्नीको प्रेमसे समझाया 'तुम्हें इस तरह नहीं बोलना चाहिये। फिर यह तो अनुकूल भी नहीं है;

क्योंकि भगवान्‌ने तुम्हें इतने प्राणियोंकी सेवाका अवसर दिया था, यह तो तुम्हारे सौभाग्यकी बात थी, तुम्हें इसके लिये प्रभुका कृतज्ञ होना चाहिये था।'

'इतने गहने, कपड़े, बर्तन और रुपये आपके रहे और छोटका घर आपके रहनेके लिये'—तीनों भाइयोंने बड़े भाईके सामने थोड़ी-सी सामग्रियाँ रख दीं। भाई सभी जोशमें थे। भाभी-की कटु वाणीने क्रोधाग्निमें घृतका काम कर दिया था।

'भगवान्‌की जैसी इच्छा'—गीताभ्यासीने शान्तिके साथ उत्तर दिया। उसकी मुखमुद्रा पूर्वकी ही भाँति सहज-प्रसन्न और शान्त थी। चिन्ताकी कोई रेखा उसकी आकृतिपर नहीं दीख रही थी।

× × × ×

'अब भी आप चुपचाप बैठे हैं, कैसे काम चलेगा'—गीताभ्यासीकी पत्नीने कहा। 'न काङ्क्षति' उत्तर मिला 'मुझे कोई धनकी आकाङ्क्षा नहीं है। आकाङ्क्षारहित व्यक्ति ही प्रभुको प्रिय है।

'रुपये खर्च हो जानेपर कैसे काम चलेगा'—पुनः प्रश्न हुआ।

'न शोचति' नपा-तुला उत्तर मिला-'शोचरहित पुरुष प्रभुका प्रिय पात्र है।' अतः जीविकाके लिये मुझे शोच नहीं है' गीताभ्यासी-की पत्नी चुप हो गयी।

× × × ×

'अब तो मेरे पास रुपये नहीं रहे, क्या करूँ ?' चिन्तित पत्नीने एक दिन पतिसे पूछा।

'न काङ्क्षति' वही पुराना उत्तर मिला।

'आभूषण तो तनपर एक भी नहीं रहा' दुखी पत्नीने कुछ

दिनों बाद फिर कहा 'सब-के-सब पेटका गड्ढा भरनेमें समाप्त हो गये, अब तो आप कुछ करें ।

'न शोचति' पुनः वही चार अक्षरोंका उत्तर मिला ।

स्त्री निराश होकर मन मसोसकर रह गयी ।

× × × ×

'अब मेरे पास कुछ नहीं रह गया' रोती हुई गीताभ्यासीकी पत्नीने कहना शुरू किया 'अपना मकान तो बिक ही गया । घर कियेका है । बर्तन दूसरोंसे उधार लेकर रसोई बनायी है । पहननेके लिये दो-दो कपड़ोंके अतिरिक्त अब तो हमलोगोंके पास रुपये-पैसे, गहने-कपड़े, बर्तन-बासन या अन्य कोई भी वस्तु नहीं रह गयी, जिससे जीवन-निर्वाह हो सके । अब तो कुछ काम कीजिये ।' पत्नीने आशान्वित होकर आग्रह किया ।

'न काङ्क्षति' वही पुराना जवाब मिला । 'मुझे कोई आकाङ्क्षा नहीं है ।'

'आखिर काम कैसे चलेगा' आँसू पोंछते हुए अधीर नारीने कह दिया ।

'न शोचति' 'मैं शोच नहीं करता । ऐसा ही पुरुष प्रभुको प्रिय है' कहकर गीताभ्यासी मौन हो गया ।

'बड़ा विचित्र मस्तिष्क है आपका' पत्नीने चिढ़कर कहा 'मुझे तो आशा थी कि सब कुछ समाप्त हो जानेपर तो आप कुछ करेंगे ही, पर 'न काङ्क्षति, न शोचति' इसीसे भगवान् संतुष्ट रहते हैं । यह सब सुनते-सुनते तो मैं हैरान हो गयी ।'

'मैं सच्ची बात कहता हूँ ब्राह्मणी !' गीताभ्यासी कहने लगा 'आज ही प्रातःकालकी बात है। शौचसे निवृत्त होकर जब मैं नदी-तटपर गया तो देखा कि नदीका जल ऊपर सूख गया है, भीतर-ही-भीतर बह रहा है, जलके लिये मैंने घाटके किनारे ही गड्ढा खोदा तो वहाँ मणि-माणिक्य तथा स्वर्ण-मुद्राओंसे पूरित एक टोकना निकल आया। उस समय भगवान्‌का वाक्य मुझे तुरंत स्मरण हो आया कि 'अनुकूलकी प्राप्तिमें जो हर्षित नहीं होता वह मेरा प्रिय है' इसलिये उस रत्नराशिके देखनेपर भी मैं जरा भी हर्षित नहीं हुआ। भगवान्‌ने 'न द्वेष्टि' कहा है, इसलिये मैंने उससे द्वेष नहीं किया, उसे निकालकर कहीं फेंका भी नहीं। उसकी मुझे 'आकाङ्क्षा' भी नहीं थी। मैं उसे ज्यों-का-त्यों ढककर वापस आ गया। उस अनन्त धन-राशिको परित्याग करनेका रंचमात्र भी मुझे शोक नहीं है। इस प्रकार भगवान्‌की दयासे मुझे न हर्ष हुआ, न द्वेष और न पश्चात्ताप हुआ तथा न आकाङ्क्षा ही। उसे मैं तो लाया नहीं पर कोई मुझे लाकर दे जाय तो मैं रख लूँ ऐसी भी मेरी भावना नहीं है; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है 'जो शुभ-अशुभका परित्यागी होता है वह मुझे प्रिय होता है।'

स्त्रीने खीझकर कहा—'आपको न सही मुझको तो आकाङ्क्षा है।' पण्डितजीने कहा—'तुम्हें भी आकाङ्क्षा नहीं करनी चाहिये।'

× × × ×

'अरे ! यह तो काला नाग है। चौंकते हुए एक चोरने कहा।

'गीताभ्यासी परम धूर्त है।' दूसरे चोरने धीरेसे जवाब दिया 'उसने समझ लिया था कि हमलोग उसके घरमें घुस गये हैं,

इसलिये ज्ञान बघारने लगा और हमें साँपसे कटवानेकी नीयतसे ही टोकनेमें हीरे-पन्ने बताकर हमें धोखा दिया ।'

'उसकी स्त्री भी कम चंट नहीं है' तीसरा चोर तुरंत बोल उठा 'दोनोंने मिलकर हमलोगोंको छकाया है। सचमुच मार डालनेकी युक्ति ही उन दोनोंने सोची थी ।'

'यही युक्ति उनपर लगायी जाय' चौथेने सलाह दी 'नागसमेत टोकना उनकी झोपड़ीमें डाल दिया जाय; बस, 'न शोचति' 'न काङ्क्षति' का पूरा अभ्यास हो जायगा ।'

जिस समय रातको ब्राह्मण अपनी पत्नीसे टोकनेकी बात कह रहा था, उसी समय चोर घरमें घुसे थे और उन्होंने उनकी बातें सुनकर धनके लोभसे नदीतटपर आकर टोकनेको निकाला था और उसका मुँह खोलते ही उन्हें भयङ्कर काला नाग फुफकार मारता दिखायी दिया, तब उनमें ऊपर लिखी बातचीत हुई ।

सबने एक स्वरसे समर्थन किया। टोकनेका मुँह बंद करके चारों चोरोंने उसे कंधेपर उठाया । हाँफते हुए गीताभ्यासीके मकानपर आये । घरके ऊपर छप्परमें एक छिद्र बनाकर तीन तो सरक गये। चौथेने टोकनेको मकानके ऊपर छिद्रके मुँहपर उलट दिया और भाग खड़ा हुआ ।

'अरे, यह देखिये सोनेकी अशर्फियोंका ढेर—गीताभ्यासी पण्डितकी पत्नी मणि-माणिक्य और अशर्फियोंकी ध्वनिसे जाग पड़ी थी । नाग मणियोंके नीचे दबकर परलोक सिधार चुका था । ब्राह्मणी हर्षातिरेकसे उत्फुल्ल हो गयी थी । उसने

कहा—'भगवान्‌ने छप्पर फाड़कर रत्न-भण्डार भेज दिया।'

'हर्षोत्फुल्ल नहीं होना चाहिये' पण्डितजीने सहज भावसे तुरंत कहा 'प्रिय वस्तु पाकर जो हर्षित नहीं होता, भगवान् उसीको प्यार करते हैं।'

× × × ×

'हमलोग क्षमा चाहते हैं'—तीनों भाइयोंने एक दिन आकर लज्जित होकर कहा।

'मैं किसीसे द्वेष नहीं करता, तुमलोग तो मेरे भाई हो, मुझे लज्जित न करो'—गीताभ्यासीने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया।

'भैया !' कण्ठस्वर भर आया था तीनों बन्धुओंका। उन्हें ऐसे प्रेमभरे शब्दोंकी बड़े भाईसे आशा नहीं थी। एकने कहा—'आपसे अलग होनेपर हमलोगोंको सदा क्षति ही उठानी पड़ी है। लक्ष्मीदेवीने घर ही त्याग दिया। हम सब ऋणी हो गये हैं। दाने-दानेके लिये तरसकर समाजमें अपमानित तथा लाञ्छित जीवन बिता रहे हैं।'

'हमारी जिंदगी भार हो गयी भैया !'—दूसरे छोटे भाईने कहा।

'लज्जासे हमलोग आपके पास नहीं आ रहे थे, पर विपत्तियोंने हमें भेजा है।' छोटे तीसरे भाईने कह दिया।

'सहोदर भाई आप हैं' पुनः पहला छोटा बोला।

'आप पुण्यात्मा हैं। प्रतिदिन दीनोंको इतना धन खुले हाथों बाँट रहे हैं। हम तो आपके छोटे भाई हैं, हमें क्षमा करें'—दूसरेने गिड़गिड़ाते हुए कहा।

'ये रत्न-अशर्फियाँ आपलोग ले जायँ' गीताभ्यासी पण्डितकी पत्नी तीनों देवरोंका करुणायुक्त दीन वचन सुनकर द्रवित हो गयी थीं। कुछ रत्न-अशर्फियाँ लाकर देते हुए बोलीं 'हमें तो भगवान्‌ने छप्पर फाड़कर दिया है और भी दे जायँगे।'

'भगवान् हमें फिर दे जायँगे, ऐसी आकाङ्क्षा तुम्हें नहीं करनी चाहिये' अपनी पत्नीको सम्बोधित करते हुए पण्डितजीने कहा 'आकाङ्क्षारहित पुरुष ही भगवान्‌का प्रिय पात्र बनता है।'

'अपराधके लिये क्षमा चाहती हूँ'—पत्नीने भूल स्वीकार की।

'भैया! हमें अपनेमें मिला लें'—एक छोटे भाईने प्रार्थना की।

'हाँ भैया! बड़ी कृपा होगी आपकी'—दूसरे छोटे भाईने भी आग्रह किया।

'आपके पुण्यसे हम ऋणमुक्त हो जायँगे। हमलोगोंका सारा दुःख मिट जायगा भैया!' तीसरेने भी अनुरोध किया।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥

गीताभ्यासी पण्डितने वही प्राचीन श्लोक जो उनका प्राण था दुहराया। तुमलोग मुझे पुनः सम्मिलित करना चाहते हो, इसमें मुझे किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है और न हर्ष ही है। यदि पुनः तुमलोग मुझे अलग कर दोगे तो भी मुझे शोक नहीं होगा और न मैं तुमलोगोंसे द्वेष ही रक्खूँगा; क्योंकि हर्ष, द्वेष, शोच आकाङ्क्षा तथा शुभाशुभको परित्याग करनेवाला पुरुष ही भगवान्‌का सच्चा प्रेमी समझा जाता है।

× × × ×

'आपके पदार्पण करते ही आपकी कृपासे हमारा घर और घरका तमाम सामान, जो गिरवी रक्खा था, छूट गया। हम ऋणमुक्त हो गये।' एक दिन चारों भाइयोंके एकत्र होनेपर सबसे छोटे भाईने कहा 'हमारा जीवन आनन्दसे बीत रहा है।'

'लक्ष्मीदेवीकी हमपर बड़ी कृपा हो गयी है।' दूसरे छोटे भाईने कहा।

'यो न हृष्यति न द्वेष्टि..................'श्लोक गाती हुई गीताभ्यासी पण्डितकी पत्नीने आकर कहा 'चलिये भोजन तैयार है।'

भोजन करनेके लिये उद्यत होते हुए छोटे तीसरे भाईने कहा 'अब तो भैया और भाभीकी तरह हमलोग भी प्रतिदिन नियमपूर्वक गीता-पाठ किया करेंगे।'

'गीताके अनुसार जीवन बनानेका पूर्ण प्रयत्न करेंगे'—सबसे छोटे भाईने कह दिया।

'फिर तो हमारा घर भगवान्‌का मन्दिर बन जायगा'—दूसरे छोटे भाईने कहा।

'प्रभु करें ऐसा ही हो'—मुसकराते हुए गीताभ्यासी सबसे बड़े भाई बोल गये।

(निवृत्तिपरक स्वभावका अनुसरण करके यह गाथा लिखी गयी है। इस श्लोकका अर्थ प्रवृत्तिपरक भी होता है और इस तरह प्रत्येक कर्मशील भक्तके लिये भी यह श्लोक आदर्श है।)
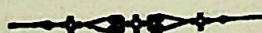
निष्कामभावकी महत्ता

जिस प्रकार श्रीभगवान्‌का नित्य-निरन्तर चिन्तन संसार-सागरसे शीघ्र उद्धार करनेवाला सुगम उपाय बतलाया गया है (गीता १२ । ७; ८ । १४), इसी प्रकार निष्काम क्रिया भी शीघ्र उद्धार करनेवाली तथा सुगम उपाय है । (गीता ५ । ६) और निष्कामभावके साथ यदि भगवान्‌का स्मरण होता रहे तब तो फिर बात ही क्या है । वह तो सोनेमें सुगन्धकी तरह अत्यन्त महत्त्वकी चीज हो जाती है । इससे और भी शीघ्र कल्याण हो सकता है । किंतु भगवान्‌की स्मृतिके बिना भी यदि कोई मनुष्य फलासक्तिको त्याग कर निःस्वार्थ भावसे चेष्टा करे तो उससे भी उसका कल्याण हो सकता है, बल्कि इसे फलत्यागरहित ध्यानसे भी श्रेष्ठ बतलाया गया है । श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

(१२ । १२)

'(मर्मको न जानकर किये हुए) अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है ।'

अतः यह कोशिश करनी चाहिये कि भगवान्‌को याद रखते हुए ही सारी चेष्टा निष्कामभावपूर्वक हो । यदि काम करते समय भगवान्‌की स्मृति न हो सके तो केवल निष्कामभावसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है । इसलिये निष्कामभावको हृदयमें दृढ़तासे धारण करना चाहिये; क्योंकि निष्कामभावसे की हुई थोड़ी-सी भी चेष्टा संसार-सागरसे उद्धार कर देती है । गीतामें भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

(२ । ४०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है । बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है ।'

फिर जो नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे क्रिया करनेके ही परायण हो जाय, उसके लिये तो कहना ही क्या है !

इसलिये मनुष्यको तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना, आसक्ति, ममता और अहंता आदिका सर्वथा त्याग करके जिससे लोगोंका परम हित हो, उसी काममें अपना तन, मन, धन लगा देना चाहिये ।

स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान, बड़ाई आदि अपने पास रहते हुए भी उनकी वृद्धिकी इच्छा करनेको 'तृष्णा' कहते हैं। जैसे किसीके पास एक लाख रुपये हैं तो वह पाँच लाख होनेकी इच्छा करता है और पाँच लाख हो जानेपर उसे दस लाखकी इच्छा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर इच्छाकी वृद्धिका नाम 'तृष्णा' है। इसी तरह मान, बड़ाई, पुत्र आदि अन्य चीजोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। यह तृष्णा बहुत ही खराब है, मनुष्यका पतन करनेवाली है।

स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्यकी कमीकी पूर्तिके लिये जो कामना होती है, उसका नाम 'इच्छा' है। जैसे किसीके पास अन्य सब चीजें तो हैं पर पुत्र नहीं है तो उसके लिये जो मनमें कामना होती है, उसे 'इच्छा' कहते हैं।

पदार्थोंकी कमीकी पूर्तिकी इच्छा तो नहीं होती पर जो बहुत आवश्यकतावाली वस्तुके लिये कामना होती है, जिसके बिना निर्वाह होना कठिन है, उसका नाम 'स्पृहा' है। जैसे कोई मनुष्य भूखसे पीड़ित है अथवा शीतसे कष्ट पा रहा है तो उसे जो अन्न अथवा वस्त्रकी विशेष आवश्यकता है और उसकी पूर्तिकी जो इच्छा है, उसको 'स्पृहा' कहते हैं।

जिसके मनमें ये तृष्णा, इच्छा, स्पृहा तो नहीं हैं पर यह बात मनमें रहती है कि और तो किसी चीजकी आवश्यकता नहीं है, पर जो वस्तुएँ प्राप्त हैं, वे बनी रहें और मेरा शरीर बना रहे ऐसी इच्छाका नाम 'वासना' है।

उपर्युक्त कामनाओंमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवाली कामना सूक्ष्म

और हल्की है तथा सूक्ष्म और हल्कीका नाश होनेपर स्थूल और भारीका नाश उसके अन्तर्गत ही है। जिनमें उपर्युक्त तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना आदि किसी प्रकारकी भी कामना नहीं, वही निष्कामी है।

इन सम्पूर्ण कामनाओंकी जड़ आसक्ति है। शरीर, विषयभोग, स्त्री, पुत्र, धन, मकान, ऐश्वर्य, आराम, मान, कीर्ति आदिमें जो प्रीति—लगाव है, उसका नाम 'आसक्ति' है। शरीर और संसारके पदार्थोंमें 'यह मेरा है' ऐसा भाव होना ही 'ममता' है। इस आसक्ति और ममताका जिसमें अभाव है, वही परम विरक्त वैराग्यवान् पुरुष है। ममता और आसक्तिका मूल कारण है—अहंता। स्थूल, सूक्ष्म या कारण—किसी भी देहमें, जो कि अनात्मवस्तु है, इस प्रकार आत्माभिमान करना कि देह मैं हूँ—यह 'अहंता' है। इसके नाशसे सारे दोषोंका नाश हो जाता है अर्थात् समस्त दोषोंकी मूलभूत अहंताका नाश होनेपर आसक्ति, ममता आदि सभीका विनाश हो जाता है। अहंकारमूलक ये जितने भी दोष हैं, उन सबका मूल कारण है—अज्ञान (अविद्या)। वह अज्ञान हमलोगोंकी प्रत्येक क्रिया और सम्पूर्ण पदार्थोंमें पद-पदपर इतना व्यापक हो गया है कि हम उससे भूले हुए संसार-चक्रमें ही भटक रहे हैं। उस अज्ञानका नाश परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है। परमात्माका वह यथार्थ ज्ञान होता है अन्तःकरणके शुद्ध होनेसे। हमलोगोंके अन्तःकरण राग-द्वेष आदि दुर्गुण और झूठ, कपट, चोरी आदि दुराचाररूप मलसे मलिन हो रहे हैं। इस मलको दूर करनेका उपाय है—ईश्वरकी उपासना या निष्काम कर्म।

हमलोगोंमें स्वार्थकी अधिकता होनेके कारण प्रत्येक कार्य करते समय पद-पदपर स्वार्थका भाव जाग्रत् हो जाता है। पर कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको ईश्वर, देवता, ऋषि, महात्मा, मनुष्य और किसी भी जङ्गम या स्थावर प्राणीसे अथवा जड पदार्थोंसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी इच्छा कभी नहीं रखनी चाहिये। जब-जब चित्तमें स्वार्थकी भावना आवे, तभी उसको तुरंत हटाकर उसके बदले हृदयमें इस भावकी जागृति पैदा करनी चाहिये कि सबका हित किस प्रकार हो। जैसे कोई अर्थका दास लोभी मनुष्य दूकान खोलनेसे लेकर दूकान बंद करनेके समयतक प्रत्येक काम करते हुए यही इच्छा और चेष्टा करता रहता है कि रुपया कैसे मिले, धन-संग्रह कैसे हो, इसी प्रकार कल्याणकामी पुरुषको प्रत्येक क्रियामें यह भावना रखनी चाहिये कि संसारका हित कैसे हो। जो मनुष्य अपने कल्याणकी भी इच्छा न रखकर अपना कर्तव्य समझकर लोकहितके लिये अपना तन, मन, धन लगा देता है, वही असली स्वार्थ-त्यागी निष्कामी श्रेष्ठ पुरुष है।

किंतु दुःखकी बात है कि स्वार्थके कारण हमलोग अज्ञानसे इतने अंधे हो रहे हैं कि निष्कामभावसे दूसरोंका हित करना तो दूर रहा, बल्कि दूसरोंसे अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और करते हैं। जितनी स्वार्थपरता इस समय देखनेमें आ रही है, उतनी तो इससे कुछ काल पूर्व भी नहीं थी। फिर द्वापर, त्रेता और सत्ययुगकी तो बात ही क्या! इस समय तो स्वार्थ-सिद्धिके लिये मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, विश्वासघात आदि करनेसे भी बाज नहीं आते तथा अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये ईश्वर और धर्मको भी छोड़ बैठते

हैं। भला, ऐसी परिस्थितिमें मनुष्यका कल्याण कैसे हो सकता है!

जो दूसरेका हक (स्वत्व) है, उसमें स्वाभाविक ही ग्लानि होनी चाहिये। पर हमारी तो ग्लानि न होकर हर प्रकारसे उसे हड़पनेकी ही चेष्टा रहती है। यह बहुत बुरी आदत है। दूसरेके हकको सदा त्याज्यबुद्धिसे देखना चाहिये। उसे ग्रहण करना तो दूर रहा, पर-स्त्रीके स्पर्शकी तरह उसके स्पर्शको भी पाप समझना चाहिये। जो मनुष्य पर-स्त्री और पर-धनका अपहरण करते हैं या उनकी इच्छा करते हैं तथा पर-अपवाद करते हैं, उनका कल्याण कहाँ, उनके लिये तो नरकमें भी ठौर नहीं है।

आजकल व्यापारमें भी इतनी धोखेबाजी बढ़ गयी है कि हम-लोग दूसरेका धन हड़पनेके लिये हर समय तैयार रहते हैं। इसको हम चोरी कहें या डकैती। कई आदमी जब अपना माल बेचते हैं तो वजन आदिमें कम देना चाहते हैं, पाट, सुपारी, रूई, ऊन आदि बिक्रीकी चीजोंको जलसे भिगोकर उसे भारी बना देते हैं तथा बेचते समय हरेक वस्तुको वजन, नाप और संख्यामें हर प्रकारसे कम देनेकी ही चेष्टा करते हैं; पर माल खरीदते समय स्वयं वजन, नाप और संख्यामें अधिक-से-अधिक लेनेकी चेष्टा करते हैं। एवं बेचते समय नमूना दूसरा ही दिखलाते हैं और चीज दूसरी ही देते हैं। एक चीजमें दूसरी चीज मिला देते हैं—जैसे घीमें वेजिटेबल, नारियलके तैलमें किरासिन, दालमें मिट्टी इत्यादि। इस प्रकार हर तरीकेसे धोखा देकर स्वार्थ-सिद्धि करते हुए अपना परलोक बिगाड़ते हैं। कोई-कोई तो व्यापारी, सरकार, रेलवे या मिलिटरीके किसी भी मालको उठानेका अवसर पाते हैं तो धोखा देनेकी ही चेष्टा करते हैं।

उनसे माल खरीदते तो हैं थोड़ा और उनके कर्मचारियोंसे मिलकर जितना माल खरीद करते हैं उससे बहुत अधिक माल उठा लेते हैं। यह सरासर चोरी है। यह बहुत अन्यायका काम है। इस अनर्थसे सर्वथा बचना चाहिये।

अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको अपनी समस्त क्रिया निष्कामभावसे ही करनी चाहिये। ईश्वर-देवता, ऋषि-मुनि, साधु-महात्माओंका पूजा-सत्कार तथा यज्ञ-दान, जप-तप, तीर्थ-व्रत, अनुष्ठान एवं पूजनीय पुरुष और दुखी, अनाथ, आतुर प्राणियोंकी सेवा आदि कोई भी धार्मिक कार्य हो, उसे कर्तव्य समझकर ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर निष्कामभावसे करना चाहिये, किसी प्रकारकी कामनाकी सिद्धिके लिये या सङ्कट-निवारणके लिये नहीं। यदि कहीं लोक-मर्यादामें बाधा आती हो तो राग-द्वेषसे रहित होकर लोक-संग्रहके लिये काम्य-कर्म कर लें तो वह सका[म] नहीं है।

उपर्युक्त धार्मिक कार्योंको करनेके पूर्व ऐसी इच्छा करना कि अमुक कामनाकी सिद्धि होनेपर अमुक अनुष्ठानादि कार्य करेंगे तो उसकी अपेक्षा वह अच्छा है जो उन धार्मिक कार्योंके करनेके समय ही इच्छित कामनाका उद्देश्य रखकर करता है और उससे वह श्रेष्ठ है जो धार्मिक कार्योंको सम्पादन करनेके बाद उक्त ईश्वर, देवता, महात्मा आदिसे प्रार्थना करता है कि मेरा यह कार्य सिद्ध करें तथा उसकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है कि जो किसी कामनाकी सिद्धिका उद्देश्य लेकर तो नहीं करता पर कोई आपत्ति आनेपर उसके निवारणके लिये उससे कामना कर लेता है। इसकी अपेक्षा भी वह श्रेष्ठ है

जो आत्माके कल्याणके लिये धार्मिक अनुष्ठानादि करता है और वह तो सबसे श्रेष्ठ है जो केवल निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर करता है तथा बिना माँगे भी वे कोई पदार्थ दें तो लेता नहीं। हाँ, यदि केवल किसीकी प्रसन्नताके लिये राग-द्वेषसे शून्य होकर लेना पड़े तो उसमें कोई दोष नहीं है।

इसी प्रकार जड पदार्थोंसे भी कभी कोई स्वार्थसिद्धिकी कामना नहीं करनी चाहिये। जैसे बीमारीकी निवृत्तिके लिये शास्त्रविहित औषध, क्षुधाकी निवृत्तिके लिये अन्न, प्यासकी निवृत्तिके लिये जल और शीतकी निवृत्तिके लिये वस्त्र आदिका सेवन करनेमें अनुकूलता-प्रतिकूलता होनी स्वाभाविक है, पर उनमें भी राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे शून्य होकर निष्कामभावसे ही उनका सेवन करना चाहिये। यदि कहीं अनुकूलतामें प्रीति और हर्ष तथा प्रतिकूलतामें द्वेष और शोक उत्पन्न हों तो समझना चाहिये कि उसके अंदर छिपी हुई कामना है।

किसी प्रकार भी किसीकी कभी सेवा स्वीकार नहीं करनी चाहिये; अपितु अपनेसे बने जहाँतक तन, मन, धन आदि पदार्थों-से दूसरोंकी सेवा करना उचित है; किंतु किसीसे सेवा करानी तो कभी नहीं चाहिये। यदि रोगग्रस्तावस्था आदि आपत्तिकालके समय स्त्री, पुत्र, नौकर, मित्र, बन्धु-बान्धव आदिसे सेवा न करानेपर उनको दुःख हो तो ऐसी हालतमें उनके सन्तोषके लिये कम-से-कम सेवा करा लेना भी कोई सकाम नहीं है।

लोग दहेज लेनेके समय अधिक-से-अधिक लेनेकी चेष्टा करते

है और यदि देनेवाले इच्छानुसार दहेज नहीं देते तो उनका सम्बन्ध त्याग कर देते हैं। एक प्रकारसे देखा जाय तो दहेज एक प्रतिग्रह ही है। उसे प्रतिग्रह समझकर अधिक-से-अधिक उसका त्याग करना चाहिये। दहेज आदि देनेकी इच्छा तो रखनी चाहिये पर लेनेकी नहीं। जहाँ किसीसे न लेनेमें वह नाराज हो तो उसके सन्तोषके लिये कम-से-कम स्वीकार करनेमें कोई सकामता नहीं है।

इसी प्रकार किसी भी संस्था या व्यक्तिसे कभी किसी भी प्रकार कुछ भी नहीं लेना चाहिये। यदि लेना ही पड़े तो लेनेसे पूर्व, लेते समय या लेनेके बाद उसके बदलेमें जितनी चीज उससे ली हो, उससे अधिक मूल्यकी चीज किसी भी प्रकार देनेकी चेष्टा रखनी चाहिये।

पूर्वके जमानेमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीकी तो बात ही क्या, गृहस्थीको भी किसी चीजके लिये किसीसे याचना नहीं करनी पड़ती थी; बिना ही माँगे खर्च, विवाह आदिके अवसरोंपर मित्र, बन्धु-बान्धव, सगे-सम्बन्धी लोग आवश्यकतानुसार चीजें पहुँचा दिया करते थे और इसमें वे अपना अहोभाग्य समझते थे। यदि उनके पास कोई चीज नहीं होती तो वे दूसरे जान-पहचानवालोंसे लेकर भेज देते थे। इससे किसीको भी अपने लिये याचना नहीं करनी पड़ती थी। इसमें स्वार्थका त्याग ही प्रधान कारण है।

इसलिये हमलोग भी सबके साथ निःस्वार्थभावसे उदारतापूर्वक त्यागका व्यवहार करें तो हमारे लिये आज भी सत्ययुग मौजूद है अर्थात् पूर्वकालकी भाँति हमारा भी काम बिना याचनाके चल सकता है। अतः हमको किसी चीजकी याचना नहीं करनी चाहिये।

और बिना याचना किये ही कोई दे जाय—ऐसी इच्छा या आशा भी नहीं रखनी चाहिये। तथा ऐसी इच्छा न रहते हुए भी यदि कोई दे जाय तो उसको रख लेनेकी इच्छा भी कामना ही है। इस प्रकारकी कामना न रहते हुए भी कोई आग्रहपूर्वक दे जाय तो उसे स्वीकार करते समय जो चित्तमें स्वार्थको लेकर प्रसन्नता होती है, वह भी छिपी हुई कामना ही है। इसलिये भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरेकी सेवा और स्वत्वको स्वीकार नहीं करना चाहिये, अपने निश्चयपर डटे रहना चाहिये। धैर्यका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, चाहे प्राण भी क्यों न चले जायँ, फिर इज्जत और शारीरिक कष्टकी तो बात ही क्या है! किंतु हमलोगोंमें इतनी कमजोरी आ गयी कि थोड़ा-सा भी कष्ट प्राप्त होनेपर अपने निश्चयसे विचलित हो जाते हैं। कामनाकी तो बात ही क्या, साधारण-से कार्यके लिये ही याचनातक कर बैठते हैं। ऐसी हालतमें निष्काम कर्मकी सिद्धि कैसे सम्भव है!

याद रखना चाहिये कि ब्रह्मचारी और संन्यासी भिक्षाके लिये भोजनकी याचना करें तो वह याचना उनके लिये सकाम नहीं है। ब्रह्मचारी तो गुरुके लिये ही भिक्षा माँगता है और गुरु उस लायी हुई भिक्षामेंसे जो कुछ उसे दे देता है उसे ही वह प्रसाद समझकर पा लेता है तथा संन्यासी अपने और गुरुके लिये अथवा गुरु न हों तो केवल अपने लिये भी भिक्षा माँग सकता है; क्योंकि भिक्षा माँगना उनका धर्म बतलाया गया है। और यदि कोई बिना माँगे भिक्षा दे देता है तो उसे स्वीकार करना उनके लिये अमृतके तुल्य है। इस प्रकार माँगकर लायी हुई और बिना माँगे स्वतः प्राप्त हुई भिक्षा भी राग-द्वेषसे रहित होकर ही लेनी चाहिये।

जहाँ विशेष आदर-सत्कार, पूजाभावसे भिक्षा मिलती हो, वहाँ भिक्षा नहीं लेनी चाहिये; क्योंकि वहाँ भिक्षा लेनेसे अभिमानके बढ़नेकी गुंजाइश है तथा जहाँ अनादरसे भिक्षा दी जाती हो, वहाँ भी नहीं लेनी चाहिये; क्योंकि वहाँ दाता क्लेशपूर्वक देता है। अतः वह ग्राह्य नहीं है। इसलिये मान-अपमान और निन्दा-स्तुतिसे तथा भोजनमें यह बुरा है, यह भला है—इस प्रकार अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेषसे शून्य होकर प्राप्त की हुई भिक्षा अमृतके समान है। इसमें भी जो पदार्थ शास्त्रके विपरीत हों, उनका त्याग कर देना चाहिये। जैसे कोई मदिरा, मांस, अंडे, लहसुन, प्याज आदि भिक्षामें दे तो उन्हें शास्त्रनिषिद्ध समझकर उनका त्याग करना ही उचित है। एवं कोई घी, दूध, मेवा, मिष्टान्न देता है तो शास्त्र और स्वास्थ्यके अनुकूल होते हुए भी वैराग्यके कारण मनके विपरीत लगनेवाली इन चीजोंका त्याग करना भी कोई दोष नहीं है। ब्रह्मचारी और संन्यासीको विशेष आवश्यकता पड़नेपर कौपीन, कमण्डलु और शीत-निवारणार्थ वस्त्रकी याचना करनेमें भी कोई दोष नहीं है।

वानप्रस्थीके लिये तप, अनुष्ठान आदि; ब्राह्मणके लिये यज्ञ कराना, विद्या पढ़ाना आदि; क्षत्रियके लिये प्रजाकी रक्षा और न्यायसे प्राप्त युद्ध* आदि; वैश्यके लिये कृषि, वाणिज्य आदि तथा स्त्रियों

---

* श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(२। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

और शूद्रोंके लिये सेवा-शुश्रूषा आदि सभी जो शास्त्रविहित कर्म हैं, उनके सम्पन्न होने या न होनेमें तथा उनके फलमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित होकर उनका निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये। यदि कहीं उनकी सिद्धिसे प्रीति या हर्ष और असिद्धिसे द्वेष या शोक होते हैं तो समझना चाहिये कि उसके अंदर छिपी हुई कामना विद्यमान है।

इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण कामना, आसक्ति, ममता और अहंकारको त्यागकर केवल लोकोपकारके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक शास्त्रविहित समस्त कर्मोंका कर्तव्य-बुद्धिसे आचरण करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे उसमें दुर्गुण-दुराचारोंका अत्यन्त अभाव होकर स्वाभाविक ही विवेक, वैराग्य-श्रद्धा-विश्वास, शम-दम आदि सद्गुणोंकी वृद्धि हो जाती है तथा उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें इतनी निर्भयता आ जाती है कि भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी वह किसी प्रकार कभी विचलित नहीं होता, अपितु धीरता, वीरता, गम्भीरताका असीम सागर बन जाता है एवं परम शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

सत्सङ्गके अमृत-कण

भगवान्‌की और महापुरुषोंकी दया अपार है। वह माननेसे ही समझमें आती है। ईश्वरसे कोई जगह खाली नहीं है और महात्माओंका संसारमें अभाव नहीं है। कमी है तो हमारे माननेकी है, वे तो प्राप्त ही हैं। न माननेसे वे प्राप्त भी अप्राप्त हैं। घरमें पारस पड़ा है, परन्तु न माननेसे वह भी अप्राप्त ही है। भगवान्‌की दया और प्रेम अपार है। उन्हें न माननेसे ही वे अप्राप्त हो रहे हैं, मान लिये जायँ तो प्राप्त ही हैं। किसी दयालु पुरुषसे कहा जाय कि आप हमारे ऊपर दया करें तो इसका मतलब यह होगा कि वह दयालु नहीं है। इसपर वह दयालु पुरुष समझता है कि यह बेचारा भोला है, नहीं तो मुझसे यह कैसे कहता कि दया करो। भगवान् और महापुरुष दोनोंके लक्षणोंमें यह बात आती है कि वे सबके मित्र और सुहृद् होते हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।

गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(५।२९)

'मुझको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित

दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है ।'

× × × ×

वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सब जगह प्रत्यक्ष मौजूद है, किन्तु इस प्रकार प्रत्यक्ष होते हुए भी हमारे न माननेके कारण वह अप्राप्त है । सच्चिदानन्दघन परमात्माका कहीं कभी अभाव नहीं है । इस प्रकार न मानना ही अज्ञान है और इस अज्ञानको दूर करनेके लिये प्रयत्न करना ही परम पुरुषार्थ है । हमें इस अज्ञानको ही दूर करना है । इसके सिवा और किसी रूपमें हमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं करनी है । परमात्मा तो नित्य प्राप्त ही है। उस प्राप्त हुए परमात्माकी ही प्राप्ति करनी है, अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं करनी है । वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सबको प्राप्त है, यह दृढ़ निश्चय करना ही परमात्माको प्राप्त करना है । इस प्रकारका निश्चय हो जानेपर परम शान्ति और परम पदकी प्राप्ति सदाके लिये प्रत्यक्ष हो जाती है । यदि न हो, तो उसकी मान्यतामें कमी है।

इस प्रकारके तत्त्व-रहस्यको बतलानेवाले महात्मा भी संसारमें हैं; किन्तु हैं लाखों-करोड़ोंमें कोई एक । जो हैं, उनका प्राप्त होना दुर्लभ है और प्राप्त होनेपर भी उनका पहचानना कठिन है। उनको जान लेनेपर तो परमानन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है । यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिये कि उसके माननेमें ही कमी है ।

साधनसम्बन्धी प्रश्नोत्तर

कुछ भाइयोंने साधनके सम्बन्धमें कई प्रश्न किये हैं, उनको जो उत्तर दिये गये, वे सभीके लिये उपयोगी होनेसे प्रश्नोत्तरके रूपमें यहाँ दिये जा रहे हैं—

प्रश्न—हमलोग शयनके समय, उनमें जो एक सांसारिक वातावरणका प्रभाव चल पड़ता है, उसे हटाकर भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाके सहित उनके स्वरूपका चिन्तन करनेका ध्येय बनाते हैं; किंतु प्रथम तो शयनके समय उसकी स्मृति ही नहीं होती और यदि कभी होती है तो वही पूर्वका प्रवाह बलात्कारसे चल पड़ता है, यह क्यों होता है और इसके सुधारका क्या उपाय है ?

उत्तर—यह संसारका चिन्तन करनेका जन्म-जन्मान्तरका अभ्यास है तथा सांसारिक पदार्थोंमें आसक्ति होनेके कारण उनमें प्रीति हो रही है। यही कारण है कि प्रयत्न करनेपर भी बलात्कारसे बार-बार संसारके चिन्तनका ही प्रवाह बन जाता है। जैसे प्रातः-कालके समय मनुष्य बार-बार यह निश्चय कर लेता है कि सुबह चार बजे उठकर शौच-स्नान नित्यकर्म करना है; पर प्रथम तो चार बजे नींद नहीं टूटती और यदि टूट जाती है तो उठनेका मन नहीं करता,

आलस्य और आसक्तिके कारण लेटनेमें ही मन रहता है; क्योंकि उसमें सुखबुद्धि है; किंतु शौच-स्नान, नित्यकर्म प्रातःकाल करनेमें सब प्रकारसे बहुत लाभकी चीज है तथा स्वास्थ्य और साधन दोनोंके लिये अत्यन्त लाभप्रद है, ऐसा विवेक और बुद्धिके द्वारा विचारपूर्वक दृढ़ निश्चय करके लोग जल्दी उठ जाते हैं; इसी प्रकार शयनके समयमें विचारद्वारा मनको समझाया जाय और बुद्धिके निश्चयपर जोर डाला जाय कि यह संसारका चिन्तन हानिकर है और भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीलाका चिन्तन बहुत लाभदायक है तथा बार-बार प्रयत्न किया जाय तो यह शयन-समयका अभ्यास भी सुधर सकता है।

प्रश्न—प्रातः और सायंकाल सन्ध्या-गायत्री, पूजापाठ, जप-ध्यान और स्वाध्याय आदि नित्यकर्म करते समय आलस्य और चित्तकी चञ्चलताके कारण उस खास साधनके समय भी हम उच्चकोटिका साधन नहीं कर पाते। यदि उपर्युक्त साधनका सुधार किया जाय तो वह हजारों गुना अधिक लाभप्रद हो सकता है, ऐसा हम पढ़ते, सुनते और समझते हैं तथा चेष्टा भी करते हैं, तब भी सुधार नहीं होता। इसमें क्या हेतु है और इसके सुधरनेका क्या उपाय है!

उत्तर—ईश्वरमें अनन्य श्रद्धा-प्रेमकी और तीव्र अभ्यासकी कमी तथा विषय-भोगोंकी आसक्ति ही उच्चकोटिका साधन न होनेमें प्रधान कारण है।

भगवन्नाम और गायत्रीजपके विषयमें शास्त्रोंमें ऐसा बतलाया है कि उच्चारण करके किये हुए जपकी अपेक्षा उपांशु दसगुना

श्रेष्ठ है और उपांशुसे मानसिक दसगुना श्रेष्ठ है।*इस प्रकारका जप श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अर्थसहित निष्कामभावसे किया जाय तो वह अनन्त-गुना श्रेष्ठ हो जाता है। इसी प्रकार सन्ध्या-वन्दन, पूजा-पाठ, स्वाध्याय आदि सारा नित्यकर्म उसके तत्त्व-रहस्यको समझते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अर्थसहित निष्कामभावसे किया जाय तो हमारा सभी नित्यकर्म अनन्तगुना हो सकता है। इसलिये इस विषयमें हमको दृढ विश्वास करके विवेक और विचारके द्वारा उसके तत्त्व-रहस्यको समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक वैराग्ययुक्त चित्तसे बड़े जोरके साथ निष्कामभावसे तीव्र अभ्यास करना चाहिये तथा साधन उच्च कोटिका बने, इसके लिये परमेश्वरसे स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये; क्योंकि साधारण प्रयत्नसे इसका सुधार होना सम्भव नहीं।

प्रश्न—कल्याणकामी पुरुष चलते, उठते-बैठते, खाते-पीते—सभी समय निरन्तर भगवान्‌का स्मरण रखते हुए ही सब काम करना चाहता है तथा कुछ चेष्टा भी करता है पर ऐसा बनता नहीं, इसका क्या कारण है? तथा इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये?

---

* मनुजीने कहा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(२।८५)

'दर्शपौर्णमासादि विधियज्ञोंसे साधारण जोर-जोरसे किया जानेवाला जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु (होठ और जिह्वाके हिलानेपर भी दूसरेको सुनायी न पड़े—इस प्रकार किया जानेवाला) जप सौगुना श्रेष्ठ है तथा मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

उत्तर—परमेश्वरमें श्रद्धा-प्रेम और साधनके अभ्यासकी कमी ही इसका प्रधान कारण है। यदि ईश्वरमें श्रद्धा-प्रेम करके तीव्र अभ्यास किया जाय तो यह दोष सहज ही दूर हो सकता है। जैसे नटनीका रुपयोंमें प्रेम है, इसलिये वह बाँसपर चढ़कर एक बाँससे दूसरे बाँसपर जानेके लिये उनके बीचमें बँधे हुए रस्सेपर गाती-बजाती हुई चलती है, किंतु उसका निरन्तर अपने पैरोंमें ध्यान रहता है; क्योंकि यदि निरन्तर पैरोंमें ध्यान न रहे तो उसका रस्सेपरसे गिर पड़ना सम्भव है। इस प्रकार नटनीका जितना प्रेम रुपयोंमें है, उतना भी प्रेम हमारा भगवान्‌में हो तो ईश्वरका निरन्तर स्मरण रहते हुए कोई भी काम होनेमें बाधा नहीं आ सकती। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि हमारे श्रद्धा-प्रेम और अभ्यासकी कमी है। नटनी भी अभ्यास करते-करते बहुत समयके बाद उपर्युक्त सफलता प्राप्त करती है, एक दिनमें नहीं। इसलिये जैसे नटनी निरन्तर अपने पैरोंमें ध्यान रखती है, वैसे ही हम निरन्तर परमेश्वरका स्मरण रक्खें और जैसे नटनी गाती-बजाती है, वैसे ही हम संसारका सब काम करें तो हम भी अपने कार्यमें सफल हो सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि यह काम यदि असम्भव होता तो भगवान् कभी गीतामें यह नहीं कहते कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर।'

इससे यह सिद्ध होता है कि यह असम्भव नहीं है। अतः नटनीकी तरह हमलोगोंको भी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर अभ्यास करनेके लिये तत्पर होना चाहिये।

प्रश्न—हमलोग बहुत बार तो संसारका ऐसा व्यर्थ चिन्तन करते रहते हैं कि जिसमें न तो स्वार्थकी सिद्धि है और न परमार्थकी ही। इस बातको समझते हुए भी और उस व्यर्थ चिन्तनके त्यागका प्रयत्न करनेपर भी उसे छोड़ नहीं सकते, इसका क्या कारण है और इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये?

उत्तर—अज्ञानके कारण संसारके पदार्थोंमें मनको सुख प्रतीत होता है तथा उनके चिन्तनकी अनादिकालसे आदत पड़ी हुई है, इसीसे उनमें आसक्ति हो गयी है और इसके विपरीत, ईश्वरमें श्रद्धा-प्रेमकी कमी है तथा उनके चिन्तनका जोरदार अभ्यास भी नहीं है; यही कारण है जो कि प्रयत्न करनेपर भी हमलोग इस कार्यमें सफल नहीं होते।

अतः संसारके पदार्थोंको क्षणभङ्गुर, नाशवान्, दुःखरूप और महान् हानिकर समझकर उनसे तीव्र वैराग्य करना चाहिये तथा परम शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माके नित्य-निरन्तर स्मरणका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक दृढ़ अभ्यास करना चाहिये। एवं इस अभ्यासके सिद्ध होनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे संसारके व्यर्थ चिन्तनकी आदत छूटकर हम कृतकार्य हो सकते हैं।

प्रश्न—हमलोग समझते हैं कि सेलटैक्स और इन्कमटैक्सकी

चोरी करना, चोरबाजारी करना, घूस लेना तथा और भी अनेक तरहसे झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करके धन पैदा करना इस लोक और परलोकमें सब प्रकारसे भयानक है, फिर भी ये हमसे छूटते नहीं, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—धनमें और धनसे मिलनेवाले सुखमें आसक्ति है, इसी कारण ये दोष नहीं छूटते। इसके सिवा लोग इनको बुरा कहते ही हैं, वास्तवमें समझते नहीं। कोई भी मनुष्य जान-बूझकर अपने-आपका नुकसान नहीं कर सकता। वास्तवमें जब हम समझ लें कि धन क्षणिक और नाशवान् है, इसके साथ हमारा जो सम्बन्ध है, वह क्षणिक है और परलोकमें तो वस्तुतः इसके साथ सम्बन्ध ही नहीं है; तथा यह किसी भी प्रकार हमारे साथ जानेकी वस्तु नहीं, अतः इसके संग्रहके लिये हम जो नाना प्रकारके पाप करते हैं, उनका दण्ड हमलोगोंको अवश्य ही मिलेगा, उससे यह लोक नष्ट होगा, इतना ही नहीं, परलोक भी महान् दुःखदायी और भयदायक हो जायगा। ऐसा निश्चय और विश्वास होनेपर फिर हमसे कोई भी पाप नहीं बन सकते।

प्रश्न—हम यह समझते हैं कि परस्त्रीका दर्शन, भाषण, चिन्तन, एकान्तवास शारीरिक और धार्मिक सभी दृष्टियोंसे सर्वथा भयानक है; इसमें लज्जा, मान, धर्म और शरीरकी प्रत्यक्ष हानि है, अतः इस लोक और परलोकमें महान् हानिकर है, ऐसा विवेक-विचारसे समझते हुए भी हम अपने मन-इन्द्रियोंको उस पापसे रोक नहीं सकते, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—अज्ञानके कारण उनमें सुख-बुद्धि हो रही है, इसीलिये

उनमें आसक्ति है। इसी कारण हम मन-इन्द्रियोंको उस पापसे रोक नहीं सकते। अतः मनको पुनः बार-बार समझाना चाहिये कि यह सब क्षणभङ्गुर, नाशवान्, दुःखरूप, अपवित्र, घृणित, पापमय और त्याज्य है। इस प्रकार समझाकर नित्य-विज्ञानानन्दघन परमेश्वरमें प्रीति होनेके लिये उनके नामका जप, स्वरूपका चिन्तन तथा स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसा करनेपर भगवत्कृपासे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर यानी अज्ञानके कारण होनेवाली सुख-बुद्धि और आसक्तिका नाश होकर विषयोंमें तीव्र वैराग्य और भगवान्में अनन्य प्रेम हो जाता है, फिर उस पुरुषसे कामविषयक दोष भी नहीं बन सकते। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

बसहिं भगति मनि जेहि उर माहीं।
खल कामादि निकट नहिं जाहीं॥

प्रश्न—मान, बड़ाई और पूजा-प्रतिष्ठा आदि परमात्माकी प्राप्तिमें महान् बाधक हैं, यह बात शास्त्रोंमें पढ़ते हैं, अच्छे पुरुषोंसे सुनते हैं, विवेकसे समझते हैं तथा विचारके द्वारा इनको हटानेकी चेष्टा भी की जाती है, फिर भी ये दोष नहीं हटते और प्राप्त होनेपर बल्कि उनमें फँसावट हो जाती है, इसका क्या कारण है और इनको हटानेका उपाय क्या है?

उत्तर—ये दोष परमात्माकी प्राप्तिमें महान् बाधक हैं, ऐसी न तो वास्तवमें हमलोगोंकी समझ ही है और न हमारा इनको हटानेका प्रबल प्रयत्न ही है। इन दोषोंके न हटनेमें प्रधान कारण है देहके नाम, रूप आदिमें अभिमान, जो कि सर्वथा अज्ञानमूलक है। देहका ही मान और पूजा-सत्कार होता है तथा देहके नामको

लेकर ही कीर्ति होती है, अतः देहको आत्मा माननेके कारण ही देहकी मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठाको मनुष्य अपनी ही मान लेता है और इस अज्ञानके कारण ही उनमें सुखबुद्धि होकर आसक्ति हो जाती है। इसलिये साधारण विवेक और प्रयत्नके द्वारा ये दोष दूर होने सम्भव नहीं हैं। इस देहाभिमानको हटानेके लिये विचारपूर्वक सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय और सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जब परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर देहाभिमानका नाश हो जायगा, तब उपर्युक्त सारे दोष अपने-आप ही मिट जायँगे।

प्रश्न—शास्त्रोंने और महापुरुषोंने व्यक्तिगत स्वार्थको बहुत बुरा बतलाया है तथा विचारके द्वारा हम भी बुरा समझते हैं; किंतु शरीरके आराम और भोगोंमें प्रत्यक्ष सुख प्रतीत होनेके कारण हम इसका सर्वथा त्याग नहीं कर पाते। हमलोगोंकी स्वाभाविक ही स्वार्थमें सुखबुद्धि होनेके कारण दूसरोंका अनिष्ट करके भी अपने स्वार्थ-साधनकी प्रवृत्ति हो जाती है, इसका क्या कारण है तथा इसको दूर करनेका उपाय क्या है?

उत्तर—इसमें भी अज्ञानमूलक देहाभिमान और आसक्ति ही प्रधान कारण है। इसी कारण अपने देहमें अहंबुद्धि और दूसरोंमें पर-बुद्धि होती है और इसीसे अपनेमें राग और दूसरोंमें द्वेषबुद्धि हो जाती है। यह राग-द्वेष ही समस्त दोषोंकी जड़ है और इसीके कारण हम व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग नहीं कर पाते। इस अज्ञान-मूलक देहाभिमानको और राग-द्वेषको दूर करनेके लिये सत्-शास्त्रोंका विचार, सत्पुरुषोंका सङ्ग और निष्कामभावसे जगज्जनार्दनकी सेवा करते हुए परमेश्वरकी ऐकान्तिक भक्ति एवं स्तुति-प्रार्थना करनी

चाहिये। इस प्रकार करनेपर भगवत्कृपासे उपर्युक्त राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि सम्पूर्ण दोषोंका मूलसहित अत्यन्त अभाव होकर सबमें समबुद्धि हो जाती है, जो कि परम कल्याणदायिनी है।

प्रश्न—यदि कोई कह दे कि शायद इस भोजनमें विष मिला है तो फिर उसमें विष मिला हो चाहे न मिला हो, पर संदेह हो जानेपर हम उसको किसी भी हालतमें खाना नहीं चाहते; किंतु संसारके विषय-भोगोंके विषयमें हम बार-बार सुनते हैं कि ये विषके तुल्य हैं, शास्त्रोंमें भी पढ़ते हैं और महापुरुषोंसे भी सुनते हैं, फिर भी उनका त्याग नहीं कर सकते, इसका क्या कारण है?

उत्तर—अज्ञानके कारण सदासे विषयोंमें प्रत्यक्ष सुख प्रतीत हो रहा है, इससे उनमें आसक्ति है। जिस प्रकार रोगीको वैद्य समझा देता है कि यह कुपथ्य है, इसका सेवन नहीं करना चाहिये। पर वह आसक्तिवश कुपथ्यको छोड़ नहीं सकता, वैसे ही मनुष्य आसक्तिके कारण विषयोंका त्याग नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार विषका कुपरिणाम तुरंत हो जाता है, उसी प्रकार विषयोंके सेवनका कुपरिणाम तुरंत न होकर विलम्बसे होता है, इसलिये उनके विषयुक्त होने न होनेमें संदेह रहता है। इसी कारण बार-बार सुननेपर भी उनका त्याग होना कठिन-सा हो रहा है; किंतु विवेक और विचारसे दृढ़ निश्चयपूर्वक मनको बार-बार समझानेसे तथा विरक्त महापुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे विषयोंसे वैराग्य होकर उनका त्याग हो सकता है।

प्रश्न—जब कि विषयोंके सेवनकी अनादिकालसे आदत पड़ी हुई है तो ऐसी हालतमें उनका त्याग कैसे हो सकता है?

उत्तर—जैसे एक या दो सालका बच्चा टट्टी-पेशाबमें हाथ दे देता है और वही हाथ अज्ञानके कारण मुँहमें भी डाल लेता है; किंतु समझदार पुरुष उस पदार्थमें उसे दोष दिखलाकर, उसे बार-बार बुरा बतलाकर उससे घृणा कराते हैं और उसके लिये निषेध करते रहते हैं; इससे विवेक होनेपर उस बालककी यह लड़कपनकी आदत भी दूर हो जाती है। इसी प्रकार विषयोंको बुरी दृष्टिसे देखनेवाले विरक्त पुरुषोंके बार-बार समझाने तथा निषेध करनेपर उनके प्रभावसे उन विषयोंमें वैराग्य होकर उनका त्याग हो सकता है।

प्रश्न—झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, मांस-भक्षण, मद्य और मादक वस्तुका पान, जुआ आदि दुराचार और काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, ममता-अहङ्कार, राग-द्वेष, अज्ञान आदि दुर्गुण सर्वथा हानिकर और त्याज्य हैं तथा यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, उपवास, परोपकार आदि सदाचार और क्षमा, दया, सन्तोष, समता, शान्ति, धीरता, गम्भीरता, शूरवीरता, ज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा, प्रेम आदि उत्तम गुण (सद्गुण) सर्वथा लाभप्रद और सेवन करनेयोग्य हैं। इस प्रकार शास्त्र और महापुरुष कहते हैं तथा विचारसे हम भी ऐसा ही मानते हैं और दुर्गुण-दुराचारके त्यागके लिये तथा सद्गुण-सदाचारके ग्रहणके लिये प्रयत्न भी करते हैं किंतु सफल नहीं होते, इसका क्या कारण है तथा इसके लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—ईश्वर, शास्त्र, महापुरुष, परलोक, अपनी आत्मा तथा शुभाशुभ कर्मोंके फलमें विश्वासकी कमीके कारण ही हमारी मान्यता संदेहपूर्ण और कमजोर है तथा हमारा प्रयत्न भी शिथिल है। यही

कारण है जो कि हम त्यागनेयोग्य वस्तुओंको त्याग नहीं सकते और ग्रहण करनेयोग्यका ग्रहण नहीं कर सकते । वास्तवमें हम यदि त्यागनेयोग्यको अत्यन्त हानिकर समझ लें तो हमसे न तो कोई भी बुराई हो सकती है और न हमारे हृदयमें कोई बुरा भाव ही टिक सकता है । इसी प्रकार वास्तवमें यदि हम ग्रहण करनेयोग्यको अत्यन्त लाभप्रद मान लें तो फिर सद्गुण और सद्भावको ग्रहण किये बिना हम कैसे रह सकते हैं ?

अतः ईश्वर, शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंमें, परलोकमें, अपने आत्मामें तथा शुभाशुभ कर्मोंके फलमें पूर्ण विश्वास करना चाहिये । मरनेके बाद देहके नाश होनेसे आत्माका कभी नाश नहीं होता 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (गीता २ । २०) एवं किये हुए कर्मोंका फल अवश्यमेव ही होता है, ऐसा दृढ विश्वास होनेपर हमारे प्रयत्न-की शिथिलता दूर होकर साधन तीव्र हो सकता है; किंतु ऐसा दृढ विश्वास सत्-शास्त्र और सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेसे, उनकी कृपासे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही होता है । इसलिये अन्तःकरणके मल, विक्षेप, आवरण आदि सारे दोषोंके नाशके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये और उनकी आज्ञाके अनुसार भगवान्के अनन्यशरण होकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्का भजन-ध्यान, स्तुति-प्रार्थना आदि करते हुए उनकी एकनिष्ठ भक्ति करनी चाहिये । इस प्रकार करनेसे हममें स्वाभाविक ही सदाचार-सद्गुण आ सकते हैं और शीघ्र ही हम परम आनन्द और परम शान्तिस्वरूप विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं । भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

प्रश्न—ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वेश्वर, परम दयालु और सबके परम सुहृद् हैं—यह सब शास्त्र और महापुरुष कहते हैं तथा विचारके द्वारा हम भी मानते हैं; फिर भी हमलोगोंके द्वारा उन नित्य-ज्ञान-आनन्दस्वरूप परमात्मामें प्रेम और उनकी आज्ञाके पालन न होनेमें क्या हेतु है?

उत्तर—उन परमात्मामें श्रद्धाकी कमी ही प्रधान कारण है। इसी कारण हम संशययुक्त होकर ईश्वरके अस्तित्वको भी कथनमात्र ही मानते हैं। जब हम ईश्वरका अस्तित्व ही शङ्कारहित और पूर्णतया नहीं मानते तब फिर उनके उपर्युक्त गुणोंमें विश्वास होनेकी तो बात ही क्या है! किंतु जो ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं और उनके गुणोंमें विश्वास करते हैं, वे उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं

कर सकते । जब कि मनुष्य किसी एक साधारण राजाके राज्यमें निवास करता हुआ राज-सत्ताको माननेके कारण राज्यके कर्मचारियों-के सामने भी उनके विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता बल्कि अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये राजाको प्रसन्न करनेकी ही सारी चेष्टा करता है; फिर भला बताइये, ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, न्यायकारी और सर्वेश्वर समझनेवाला पुरुष उनके देखते हुए उनके कानूनके विरुद्ध झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि कर ही कैसे सकता है ? बल्कि वह तो उनको परम प्रसन्न करनेके लिये उनकी आज्ञाका सदा-सर्वदा हँस-हँसकर पालन ही करता रहता है ।

शास्त्र ही उन परमात्माका कानून है । शास्त्रके अनुकूल चलना ही उनके कानूनके अनुकूल चलना है तथा शास्त्रके विपरीत आचरण करना ही उनके विरुद्ध आचरण करना है । इस प्रकार उन परमात्मा और उनके कानूनके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषसे कभी किञ्चिन्मात्र भी शास्त्रविरुद्ध कर्म नहीं हो सकते । परमात्माके उपर्युक्त सम्पूर्ण गुणोंका रहस्य जाननेपर तो उसकी परमात्माके सिवा अन्य किसीसे प्रीति हो ही कैसे सकती है ? वह तो परमात्माका अनन्य भक्त और धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, समता, शान्ति आदि अनन्त गुणोंका भण्डार बन जाता है ।

अतः उन परमात्माके तत्त्व-रहस्यको जाननेके लिये तथा उनमें परम श्रद्धा और प्रेम होनेके लिये हमलोगोंको उन्हें हर समय याद रखते हुए उनकी आज्ञाका पालन करना, उनसे प्रार्थना करना एवं उनमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले महापुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये ।

भगवदाश्रयसे लोक-परलोकका कल्याण

लौकिक-पारलौकिक समस्त दुःखोंके नाश एवं समस्त लौकिक-पारमार्थिक सम्पत्तिकी सम्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है भगवान्का अनन्य आश्रय लेकर सच्चे मनसे उनका भजन करना और लौकिक-पारलौकिक समस्त सुखोंके नाश एवं समस्त लौकिक-पारमार्थिक सम्पत्तिके सर्वनाशका साधन है—भोगोंका अनन्य आश्रय लेकर मनसे भगवान्को भुला देना। आज हम भगवान्को भूल गये हैं और हमारा जीवन केवल भोगोंका आश्रयी बन गया है। इसीसे इतने दुःख, संताप और विनाशके पहाड़ हमपर लगातार टूट रहे हैं। जो लोग क्रियाशील और विविध-कर्मसमर्थ हैं, उनको

भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवान्‌का स्मरण करते हुए समयानुकूल स्वधर्मोचित कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये और जो अल्पसमर्थ या असमर्थ हैं उन्हें आर्त तथा दीनभावसे भगवत्प्रीतिके द्वारा धर्मके अभ्युदय और विश्व-शान्तिके लिये अनन्यभावसे भगवान्‌को पुकारना चाहिये।

हमारी अनन्य पुकार कभी व्यर्थ नहीं जायगी। हममें होना चाहिये द्रौपदीका-सा विश्वास, होनी चाहिये गजराजकी-सी निष्ठा और सबसे बढ़कर हममें होनी चाहिये प्रह्लादकी-सी आस्तिकता, जिसके वचनको सत्य करनेके लिये भगवान् नृसिंहरूपसे खम्भेमेंसे प्रकट हुए—'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितम्।' (भागवत ७। ८। १८)

विपत्ति, कष्ट, असहाय स्थिति, अमङ्गल और अन्याय तभीतक हमारे सामने हैं, जबतक हम भगवान्‌को विश्वासपूर्वक नहीं पुकारते। एक महाशयने यह घटना सुनायी थी। एक घरमें गुंडोंने पतिको पकड़ लिया और दो गुंडे उसकी स्त्रीको नंगी करके उसपर बलात्कार करनेको तैयार हुए। दोनों पति-पत्नी निरुपाय थे—असहाय थे। पत्नीने आर्त होकर—रोकर भगवान्‌को पुकारा। उसे द्रौपदीकी याद आ गयी। बस, तत्काल ही वे दोनों गुंडे आपसमें लड़ गये। एकने दूसरेको छुरा मार दिया। उसके गिरते ही पति-पत्नीको छोड़कर शेष गुंडे भाग गये और इस बीचमें पत्नीको कंधेपर उठाकर पतिको बचकर भाग निकलनेका अवसर मिल गया।

भारतकी सती देवियाँ आज द्रौपदीकी भाँति भगवान्‌को पुकारें तो भगवान् कहीं गये नहीं हैं। वे तुरंत किसी भी रूपमें प्रकट

होकर सती देवियोंके सारे दुःख हर लें और उसी क्षणसे उनको दुःख पहुँचानेवालोंके विनाशकी भी गारंटी मिल जाय।

दुष्ट दुःशासनके हाथोंमें पड़ी हुई असहाया द्रौपदीने आर्त होकर मन-ही-मन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करके कहा था—

गोविन्द ! द्वारकावासिन् ! कृष्ण ! गोपीजनप्रिय ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ।
हे नाथ ! हे रमानाथ ! व्रजनाथार्तिनाशन ॥
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ! ।
कृष्ण ! कृष्ण ! महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन ॥
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ।

(महा० सभा० ६७ । ४१-४४)

'हे गोविन्द ! द्वारकावासी सच्चिदानन्द प्रेमघन ! गोपीजन-वल्लभ ! सर्वशक्तिमान् प्रभो ! कौरव मुझे अपमानित कर रहे हैं। क्या यह आपको मालूम नहीं है ? हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे आर्त्तिनाशन जनार्दन ! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूबी जा रही हूँ। आप मेरा उद्धार कीजिये। हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगी ! हे विश्वात्मा और विश्वके जीवनदाता गोविन्द ! मैं कौरवोंसे घिरकर संकटमें पड़ गयी हूँ। आपके शरण हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।'

द्रौपदीकी आर्त्त पुकार सुनकर भक्तवत्सल प्रभु उसी क्षण द्वारकासे दौड़े आये और द्रौपदीको वस्त्र दान कर उसकी लाज बचायी। पर दुष्ट दुःशासनने द्रौपदीके जिन केशोंको खींचा था,

वे खुले ही रहे दुःशासनको दण्ड मिलनेके दिनतक । द्रौपदीके खुले केश थे । पाण्डवोंके साथ वह वनमें रहती थी । भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने गये । वहाँ द्रौपदीने एकान्तमें रोकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'मैं पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी बहिन और तुम्हारी सखी होकर भी कौरवोंकी सभामें घसीटी जाऊँ ! यह कितने दुःखकी बात है । भीमसेन और अर्जुन बड़े बलवान् होनेपर भी मेरी रक्षा नहीं कर सके ! धिक्कार है इनके बल-पौरुषको ! इनके जीते-जी दुर्योधन क्षणभरके लिये भी कैसे जीवित है ? श्रीकृष्ण ! दुष्ट दुःशासनने भरी सभामें मुझ सतीकी चोटी पकड़कर घसीटा और ये पाण्डव टुकुर-टुकुर देखते रहे !' इतना कहकर द्रौपदी रोने लगी । उसकी साँस लंबी-लंबी चलने लगी और उसने गद्गद होकर आवेशसे कहा—'श्रीकृष्ण ! ये पति-पुत्र, पिता-भ्राता मेरे कोई नहीं हैं; पर क्या तुम भी मेरे नहीं रहे ? श्रीकृष्ण ! तुम मेरे सम्बन्धी हो, मैं अग्निकुण्डसे उत्पन्न पवित्र रमणी हूँ; तुम्हारे साथ मेरा पवित्र प्रेम है और तुमपर मेरा अधिकार है एवं तुम मेरी रक्षा करनेमें समर्थ भी हो ! इसलिये तुम्हें मेरी रक्षा करनी ही होगी ।' तब श्रीकृष्णने रोती हुई द्रौपदीको आश्वासन देकर कहा—

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भामिनि ।
बीभत्सुशरसंछन्नान् शोणितौघपरिप्लुतान् ॥
निहतान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले ।
यत् समर्थं पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि।
पतेद् द्यौर्हिमवान् शीर्येत् पृथिवी शकलीभवेत्॥
शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे ! न मे मोघं वचो भवेत्॥
(महा० वन० १२ । १२८-१३१)

'कल्याणी ! तुम जिनपर क्रोधित हुई हो, उनकी स्त्रियाँ भी थोड़े ही दिनोंमें अर्जुनके भयानक बाणोंसे कटकर खूनसे लथपथ हो जमीनपर पड़े हुए अपने पतियोंको देखकर तुम्हारी ही भाँति रुदन करेंगी । मैं वही काम करूँगा, जो पाण्डवोंके अनुकूल होगा। तुम शोक मत करो । मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम राजरानी बनोगी । चाहे आकाश फट पड़े, हिमालय टुकड़े-टुकड़े हो जाय, पृथ्वी चूर-चूर हो जाय और समुद्र सूख जाय, परन्तु द्रौपदी ! मेरी बात कभी असत्य नहीं हो सकती ।'

ये द्रौपदीके दुःखोंका नाश करनेवाले भगवान् आज कहीं चले नहीं गये हैं । द्रौपदीके सदृश विश्वासपूर्ण हृदयसे उन्हें पुकारनेवालोंकी कमी हो गयी है । यदि दुःखसागरसे सहज ही पार उतरना है तो विश्वास करके अनन्यभावसे भगवान्को पुकारना चाहिये । भारतके हिंदुओंकी यह श्रद्धा जिस दिनसे घटने लगी, जबसे उनकी यह प्रार्थनाकी ध्वनि क्षीण हो गयी, तभीसे उनपर दुःख आने लगे, और तभीसे वे सन्मार्ग और सुखके सुपथसे भ्रष्ट हो गये ! अब फिर श्रद्धा-विश्वासके साथ भगवान्को पुकारिये। देखिये, आपके इहलौकिक दुःख दूर होते हैं या नहीं और देखिये आपको भगवान्की अमृतमयी अनुकम्पासे भगवान्के दुर्लभ चरणारविन्दकी प्राप्ति सहज ही होती है या नहीं !

भगवच्चिन्तनका प्रभाव

भगवत्कृपा वास्तवमें अनुभव करनेकी वस्तु है, कहनेसे तो उसका तिरस्कार होता है; क्योंकि चाहे हम अपनी समझसे कितना ही बढ़ा-चढ़ाकर कहें, भगवत्कृपाके सहस्रांशका भी वर्णन नहीं कर सकते। जिसके पास जो वस्तु है, वह उसे ही देगा; जो वस्तु उसके पास है ही नहीं, वह उसे कैसे दे सकता है—यह नियम है। भगवान् कृपामय हैं—'प्रभु-मूरति कृपामई है।' अतएव वे सर्वदा, सर्वथा सब जीवोंको कृपाका ही दान करते हैं। तनिक-सा विचार करनेपर भगवान्‌की इस कृपाको हम पग-पगपर अनुभव कर सकते हैं। भगवान्‌ने हमको मनुष्य बनाया, पशु नहीं, पक्षी नहीं, चींटी नहीं, वृक्ष नहीं, पत्थर नहीं—इसमें उनकी कितनी कृपा भरी हुई है! अनन्त जन्मोंके पश्चात् चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते यह अत्यन्त दुर्लभ मानव-शरीर भगवत्कृपासे ही प्राप्त हुआ है—

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

इस प्रकार भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे हमें अधिकार-विशेष मनुष्ययोनि—कर्मयोनि प्राप्त हुई है (अन्य सब तो भोग-योनियां हैं, उनमें जीव केवल अपने प्रारब्धकर्मोंका फल भोगता है; नवीन कर्म करनेके लिये वह स्वतन्त्र नहीं है)। हम मोक्षके द्वारपर खड़े कर दिये गये हैं। अब मुक्तिको प्राप्त करें या द्वारसे वापस लौट आयें, यह हमपर निर्भर करता है। हमें खजांचीके ऊपर चेक मिल गया और रुपये लाने हम खजांचीके पास जा रहे हैं। रास्तेमें हम चेकका दुरुपयोग करें, उसको फाड़ डालें, जला डालें तो हमारी कितनी मूर्खता है। चेकको गवाँ बैठे, फिर रुपये कहाँ? ठीक इसी प्रकार यदि हम मानव-देहरूपी चेकको प्राप्त कर प्रमादवश अहङ्कार, कामना, क्रोध, द्वेष आदिके परायण हो भगवान्‌को प्राप्त न करें तो हमें भगवान्‌के आज्ञानुसार शूकर-कूकर आदि नीच योनियोंमें भटकना पड़ेगा तथा अन्तमें घोर नरकोंमें जाना पड़ेगा—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥*
(गीता १६। १८–२०)

अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने कहा—'माम् अप्राप्य'—'मुझको न पाकर।' इसपर यह प्रश्न होता है कि जब उपर्युक्त असुर स्वभाववाले पुरुषोंको भगवत्प्राप्तिकी बात ही क्या, ऊँची गति भी नहीं मिलती केवल आसुरी योनि ही प्राप्त होती है, तब भगवान्‌ने 'माम् अप्राप्य' यह कैसे कहा? ध्यानपूर्वक सोचनेसे इन वचनोंमें बहुत रहस्य दिखायी पड़ता है। भगवान् यहाँ खुले शब्दोंमें यह घोषणा कर रहे हैं कि मानव-योनिमें जीवको भगवत्प्राप्तिका जन्म-सिद्ध अधिकार है। ऐसे अधिकारको प्राप्त करके भी यदि मनुष्य भगवान्‌को प्राप्त नहीं करते तो यह कितने दुःखकी बात है। वास्तवमें भगवान् जीवकी इस दयनीय दशापर यहाँ तरस खा रहे हैं। इस प्रकार भगवद्वचनोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवत्प्राप्तिके हम सच्चे पात्र हैं, अधिकारी हैं। यदि इतने दिनतक हम उससे वञ्चित रहे तो यह

*'वे अहङ्कार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं। उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ। हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं।'

हमारे प्रमादका फल है, हमारी मूर्खताका नतीजा है। भगवान्‌की तो हमपर पूर्ण दया है, उनका वरदहस्त हमारे मस्तकपर रक्खा हुआ है तथा वे दर्शन देनेके लिये तैयार हैं; पर हमारे प्रमादके कारण विलम्ब हो रहा है। अतएव आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने इस प्रमादको छोड़ें और अपने जन्मसिद्ध अधिकारको प्राप्त कर सदाके लिये सर्वथा निश्चिन्त हो जायँ।

राजपुत्रका राज्यपर जन्मसे स्वभावसिद्ध अधिकार है! बच्चा नाबालिग है। गवर्नमेंट कोर्ट ऑव वार्ड्स (Court of Wards) नियुक्त कर राज्यकी व्यवस्था करती है। बच्चेको योग्य बनाकर सब अधिकार उसको सौंप देती है। परमात्माकी प्राप्ति हमारे बापका राज्य है। अतएव उसपर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। परमात्मा हमें योग्य बनाते हैं, सारा 'योगक्षेम' स्वयं वहन करते हैं। अतः हमारे उद्धारमें चिन्ता ही क्या है।

लौकिक जीवनमें हम देखते हैं कि यदि राजकुमार, जिसको अधिकार प्राप्त होनेवाला है, योग्य न निकले और मार-पीट, आग लगाना, चोरी-जारी आदि कुकर्म करने लगे तो सरकार उसके अधिकारको छीनकर उसे कारागृहमें डाल देती है अथवा आवश्यकता पड़नेपर निर्वासित भी कर देती है। राजकुमारको इस प्रकार अधिकारसे वञ्चित करने एवं दण्ड देनेसे सरकारको अप्रसन्नता ही होती है, पर मर्यादाके लिये सब करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जब हम मोहमें फँसकर छल, कपट, अनाचार, व्यभिचार, अत्याचार, हिंसा आदि पापकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं तो भगवान्‌को बाध्य होकर हमें दण्ड देना पड़ता है (वास्तवमें भगवान्‌का दण्ड-विधान भी

कृपासे परिपूर्ण होता है। वे यदि मारते भी हैं तो तारनेके लिये) परन्तु भगवान् बड़ा पश्चात्ताप करते हैं कि इसको परमपद-प्राप्तिके लिये मैंने सारे साधन दिये; किन्तु यह भजन-ध्यान, सेवा, त्याग आदि सत्कर्मोंको छोड़कर विषय-भोगोंमें आसक्त रहा, जिससे भगवत्प्राप्ति-रूप अपने अधिकारको खोकर नाना भाँतिकी घोर यातनाओंको भोग रहा है।

वर्षामें देखा होगा दीपक जलाते ही हजारों पतंगे चारों ओरसे उड़-उड़कर दीपककी लौपर गिरते हैं और अपने शरीरका उसमें हवन कर देते हैं। यदि कोई मनुष्य इस प्रकार उनको जलते देखकर दया करके दीपक बुझा देता है तो पतंगे दीपक बुझानेवाले-की दयाके तत्त्वको तो समझते नहीं; अतः वे मन-ही-मन उसपर बड़ा क्रोध करते हैं। बोलनेकी शक्ति उनमें है नहीं; यदि हो तो उनके क्रोधको, उनके दुःखको हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं। पर उनको दुःख होता अवश्य है। इसी प्रकार जब हम पतंगोंकी भाँति अंधे हो विषयभोगोंमें फँसकर अपना सर्वनाश करने लगते हैं तो भगवान् हमपर बड़ी कृपा करके, हमारे परम हितके लिये उन भोगोंको हमसे छीन लेते हैं। पर भगवान्‌की कृपाको न समझकर हम बड़े दुखी होते हैं और कभी-कभी तो क्रोधमें आकर भगवान्‌को भला-बुरा भी कह बैठते हैं। दीपक बुझानेवालेकी अपेक्षा भगवान्‌की हमपर अनन्त गुणा अधिक दया है, कृपा है—हम इस बातको नहीं समझते; इसीसे भोगोंके नाश होनेपर तथा मनके प्रतिकूल अवसरोंपर दुखी हो जाते हैं। अतएव प्रतिकूल एवं अनुकूल सभी परिस्थितियों-

में भगवान्‌की अपार कृपाका दर्शन करते हुए शोक, चिन्ता, भय आदि नहीं करना चाहिये ।

संसार क्या है? एक नाट्य-शाला। सभी प्राणी इस नाट्यशालाके पात्र हैं। भगवान् इस नाट्यशालाके स्वामी हैं। गम्भीर दृष्टिसे सोचें तो भगवान् स्वामी भी हैं और नाटकके पात्र भी। सब प्राणियोंके रूपमें वे ही तो हमारे साथ खेल रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णने ग्वाल-बालोंके साथ क्रीड़ाएँ कीं, भगवान् रामने वानर-भालुओंके साथ लीलाएँ कीं। फिर हम तो मनुष्य हैं। अतएव सब प्राणियोंके रूपमें अपने स्वामीको देख सबके साथ शुद्ध प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। भगवत्कृपाको समझनेका यह सीधा उपाय है।

स्टेज (मंच) पर आकर अपना अभिनय दिखानेके लिये सभी पात्रोंको अवसर दिया जाता है। प्रत्येकका समय निश्चित होता है। अपने निश्चित समयमें वह जैसा भला-बुरा अभिनय करता है, उसीसे उसकी सफलता एवं असफलताका निर्णय होता है। हमें भी अपना अभिनय दिखानेके लिये समय मिला है। निश्चित समय समाप्त होते ही हमें स्टेजसे हट जाना पड़ेगा। अतएव समय बड़ा मूल्यवान् है। वह हाथसे निकल गया तो न मालूम फिर कब मिलेगा। लाखों-करोड़ों जीव मौका माँग रहे हैं। न जाने कब हमारा नंबर आवेगा। निश्चित समय निकल जानेपर लाख रुपया देनेपर भी पाँच मिनट नहीं मिलेगा। एक सेकेंड भी समय बढ़नेकी गुंजाइश नहीं है। इसलिये जल्दी-से-जल्दी कार्यकी सिद्धि कर लेनी चाहिये। हमें नाट्यशालाके स्वामी उस परमात्माको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। स्वामी बड़े दयालु हैं, हमपर बड़ी कृपा करते हैं। वे सब

भूलोंको क्षमा कर देते हैं। पर हमें छूटका आसरा कभी भी नहीं लेना चाहिये। स्वामीको अपने कार्यसे प्रसन्न करनेके लिये, उसके सङ्केतपर नाचनेके लिये कठपुतली बन जाना चाहिये। अपने स्वामीके सङ्केतको हम समझते रहें, स्वामीकी इच्छाके अनुकूल बन जायँ। यही यथार्थ शरण है, वास्तविक भक्ति है।

भगवान्‌ने श्रीगीताके दसवें अध्यायमें आठवें श्लोकसे लेकर ग्यारहवें श्लोकतक प्रभावसहित भक्तियोगका वर्णन किया है। वहाँ नवम श्लोकमें जो भक्तिका स्वरूप बतलाया है, उसका पालन करना ही सच्चे रूपसे भगवान्‌की शरण होना है। भगवान्‌ने बतलाया—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०। ९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें निरन्तर रमण करते हैं।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने पहला पद प्रयुक्त किया—'मच्चित्ताः'—निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाले। इसका भाव यह कि भक्तोंको चाहिये कि नित्य-निरन्तर अपने स्वामी श्रीभगवान्‌का चिन्तन करते हुए बाजीगरके झमूरेकी भाँति सब काम करें। झमूरा सब काम करता है—चलता है, फिरता है, उछलता है, कूदता है; पर उसका

मन निरन्तर अपने स्वामी बाजीगरकी ओर लगा रहता है। साथ ही उसको यह पूर्णरूपसे ज्ञात है कि जो कुछ हो रहा है, सब बाजीगरका खेल है। अतएव किसी घटनाविशेषसे वह बिल्कुल ही प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार भक्तको चाहिये कि वह अपनेको मदारी श्रीभगवान्के हाथका झमूरा समझे और जगत्के जितने भी व्यापार हैं, सब उस मदारीके खेल हैं—ऐसा मानकर किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिसे मनमें हर्ष या उद्वेगको स्थान न दे। अपनी तन, मन, धन आदि प्रत्येक वस्तुको, जिसपर वह अपना अधिकार समझता है, जिसकी उसको ममता है, भगवान्के अर्पण कर दे।

भगवान्में अपने चित्तको किस प्रकार लगावे—इसका वास्तवमें कोई उदाहरण मिलता ही नहीं। यों समझानेके लिये एक अंशमें चकोर पक्षीका उदाहरण दिया जा सकता है। चकोर अपने प्रेमास्पद चन्द्रमाको हर समय देखता रहता है। इसी प्रकार हम अपने इष्टको मानसिक नेत्रोंसे हर समय देखते रहें। चित्तवृत्तियोंकी धारा बँध जाय—प्रभुसे लेकर हमारेतक। कोई दूसरा पक्षी उड़ा और चकोर तथा चन्द्रमाके बीचकी धारामें व्यवधान आ गया। चकोर इस व्यवधानको स्वीकार कर लेता है, वह मरता नहीं। परन्तु हमें तो व्यवधान स्वीकार न करके मरना ही स्वीकार कर लेना चाहिये। एक क्षणका भी व्यवधान हो, एक क्षणके लिये भी दूसरी बातका स्मरण हो तो तुरंत प्राण छटपटाने लगें और वे शरीरसे निकल जायँ। हम जान-बूझकर न मरें, जान-बूझकर मरना तो पाप है, पर प्राण स्वतः शरीरसे निकल

जायँ। सच्चा प्रेम तो यही है। यदि इतनी तत्परता न हो कि व्यवधान पड़नेपर प्राण न रहें, तो भी वे उसे अपना लेते हैं। किन्तु इस प्रकारकी छूट लेनेवालेकी अपेक्षा न लेनेवाला गौरवका पात्र है। यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि हम छूट नहीं लेते, नहीं तो प्रभुको उस अभिमानको दूर करनेके लिये कोई दूसरी परिस्थिति उत्पन्न करनी पड़ेगी, जिससे बाध्य होकर हमें क्षमा माँगनी पड़ेगी। अतएव 'मच्चित्ताः' का यही भाव है कि जहाँतक हो अपनी ओरसे व्यवधान पड़ने ही न दे और यदि पड़ ही जाय तो मछलीकी भाँति प्राण तड़पने लगें। यदि ऐसा हो जायगा तो फिर प्रभु व्यवधान पड़ने ही न देंगे; क्योंकि यह उनकी प्रतिज्ञा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

भगवान्‌ने कहा—'योगक्षेमम् अहं वहामि'—योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्तकी रक्षा) मैं स्वयं वहन करता हूँ। इस प्रकार भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जो-जो आवश्यक वस्तु या साधन हमें प्राप्त हैं, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उनकी रक्षा करना और जिस वस्तु या साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना—इसकी जिम्मेवारी भगवान्‌ने अपने ऊपर ली। अब भला, हमारे उद्धारमें क्या संदेह एवं विलम्ब हो

सकता है। बस, आवश्यकता है केवल नित्य-निरन्तर अनन्यभावसे चिन्तन करनेकी।

भगवान्‌ने आगे कहा 'मद्गतप्राणाः'—मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले। हमलोगोंके प्राण शरीरगत हैं। शरीर गया, प्राण गये। पर उपर्युक्त प्रकारके भक्तोंके प्राणोंके आश्रय भगवान् हैं; जैसे मछलीके प्राणोंका आश्रय जल है। वे भक्त भगवान्‌के लिये ही जीते हैं। समस्त इन्द्रियोंसे खाने, पीने, सोने आदिकी जो भी चेष्टाएँ होती हैं, सब भगवान्‌के लिये होती हैं। उन सबमें उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता। फिर आगे कहा—'बोधयन्तः परस्परम्' 'कथयन्तश्च मां नित्यम्'—मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभाव और तत्त्वको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए। वास्तवमें समय इस प्रकार ही बीतना चाहिये। अब उपर्युक्त प्रकारसे भजन करनेवालोंकी गतिका वर्णन करते हैं—'तुष्यन्ति च रमन्ति च'—निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेव-में ही निरन्तर रमण करते हैं। पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार केवलमात्र अपने पतिमें ही रमण करती है, दूसरा पुरुष उसकी दृष्टिमें रहता ही नहीं, उसी प्रकार भक्त नित्य भगवान्‌में ही रमण करता है अर्थात् प्रेमपूर्वक भगवान्‌का ही निरन्तर भजन करता है। वह भगवान्‌के सिवा दूसरी वस्तुको नहीं चाहता। उसके नेत्र जहाँ भी जाते हैं, वहीं वह भगवान्‌को ही देखता है। जैसे गोपियोंको सर्वत्र श्रीकृष्ण ही दिखायी पड़ते थे—'जित देखौं तित स्याममई है', उसी प्रकार भक्तको सम्पूर्ण भूतोंमें वासुदेव ही व्यापक दिखायी पड़ते हैं और सम्पूर्ण भूत वासुदेवके अन्तर्गत। वह 'एकत्वमास्थितः' भजता

है अर्थात् भगवान्‌के सिवा और कुछ उसकी दृष्टिमें रह ही नहीं जाता । इस प्रकार उसमें न तो कोई कामना रहती है और न किसी प्रकारका भय ही । वह तो सर्वथा प्रेममें विचरण करता है । सारांश यह कि भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और नाम-रूपका कानोंसे श्रवण करना, वाणीसे कथन करना तथा मनसे मनन करना ही भक्तका भगवान्‌में रमण करना है ।

साधकको चाहिये कि वह अपने साधनमें इतना तत्पर हो जाय कि एक क्षणका भी व्यवधान मृत्युके समान बन जाय । ऊँची श्रेणीके भक्त किसी प्रकारकी छूट नहीं चाहते, चाहे प्राण चले जायँ, मुक्ति न मिले, भगवत्प्राप्ति न हो । वे मुक्तिके लिये भजन नहीं करते, भजनके लिये ही भजन करते हैं ।' अतः एक क्षणके लिये भी चिन्तन छूटना उनके लिये असह्य हो जाता है । वे भगवान्‌से माँगते हैं तो यही कि हे प्रभो ! एक क्षणका भी व्यवधान न पड़े । हमारी ऐसी अवस्था बन जाय कि एक क्षणका व्यवधान भी हम सहन न कर सकें । ऐसे प्रेमी भक्त ही मुक्तिको ठुकरा सकते हैं । पर हमें अभीतक भजनका रस प्राप्त नहीं हुआ है । इसीसे हम व्यवधानको सहन कर रहे हैं । यदि भजनका रस समझमें आ जाय तो फिर क्षणभरके लिये भी भजन छूटे, यह सम्भव नहीं । अतएव हमारी तो भगवान्‌से यही प्रार्थना है कि प्रभो ! हमें ऐसा बना दीजिये कि हम आपके चिन्तनमें व्यवधान सहन न कर सकें । बस, इतना होनेसे सब काम बन जायगा ।

योगक्षेमका वहन

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ।'

कोई-कोई इस श्लोकका सर्वथा सकाम और निवृत्तिपरक अर्थ करते हैं और संसारयात्राकी कुछ भी चिन्ता न कर केवल भगवान्पर

निर्भर रहते हुए भजन करना ही उचित मानते हैं। इसपर वे निम्नलिखित दृष्टान्त दिया करते हैं।

एक ईश्वरभक्त गीताभ्यासी निवृत्तिप्रिय ब्राह्मण थे। वे अर्थको समझते हुए समस्त गीताका बार-बार पाठ करने एवं भगवान्‌के नामका जप तथा उनके स्वरूपका ध्यान करनेमें ही अपना सारा समय व्यतीत करते थे। वे एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर थे। जीविकाकी कौन कहे, वे अपने खाने-पीनेकी भी परवा नहीं करते थे। उनके माता-पिता परलोक सिधार चुके थे। वे तीन भाई थे। तीनों ही विवाहित थे। वे सबसे बड़े थे, और दो भाई छोटे थे। दोनों छोटे भाई ही पुरोहितवृत्तिके द्वारा सारे गृहस्थका काम चलाया करते थे। एक दिनकी बात है, दोनों छोटे भाइयोंने बड़े भाईसे कहा—'आप कुछ समय जीविकाके लिये भी निकाला करें तो अच्छा रहे।' बड़े भाई बोले—'जब सबका भरण-पोषण करनेवाले विश्वम्भर भगवान् सर्वत्र सब समय मौजूद हैं, तब अपनी जीविकाकी चिन्ता करना तो निरा बालकपन है। भगवान्‌ने गीताके नवम अध्यायके बाईसवें श्लोकमें स्वयं योगक्षेमके वहनका जिम्मा लिया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

इसलिये भाई! हमलोगोंको तो बस, अपने भगवान्‌पर ही निर्भर रहना चाहिये। वे ब्रह्मासे लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र जीव-परमाणु-तक—सबका ही भरण-पोषण करते हैं। फिर जो उनके भरोसे रहकर नित्य-निरन्तर उन्हींका स्मरण-चिन्तन करता है, उसका

योगक्षेम चलानेके लिये तो वे वचनबद्ध ही हैं । हमलोगोंको तो नित्य गीताका अध्ययनाध्यापन और निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन-स्मरण ही करना चाहिये ।'

दोनों भाइयोंने कहा—'भाई साहेब ! आपका कहना तो ठीक है पर जीविकाके लिये कुछ भी चेष्टा किये बिना भगवान् किसीको घर बैठे ही नहीं दे जाते ।' बड़े भाईने विश्वासके साथ उत्तर दिया—'श्रद्धा-विश्वास हो तो घर बैठे भी भगवान् दे सकते हैं ।' दोनों छोटे भाइयोंने कुछ झुँझलाकर कहा—'भाई साहेब ! बातें बनानेमें कुछ नहीं लगता । हमलोग कमाकर लाते हैं, तब घरका काम चलता है । आप केवल पड़े-पड़े श्लोक रटना और बड़ी-बड़ी बातें बनाना जानते हैं । आपको पता ही नहीं, हमलोग कितना परिश्रम करके कुछ जुटा पाते हैं । आप जब हमलोगोंसे अलग होकर घर चलायेंगे, तब पता लगेगा; तब हम देखेंगे कि बिना जीविकाके लिये प्रयत्न किये आपका काम कैसे चलता है ।' बड़े भाईने धीरजके साथ कहा—'भाई ! तुमलोग यही ठीक समझते हो तो बहुत आनन्द । मुझे अलग कर दो । मैं किसीपर भाररूप होकर नहीं रहना चाहता । भगवान् किस प्रकार मेरा निर्वाह करेंगे, इसको वे खूब जानते हैं ।' इसपर दोनों भाई निश्चिन्त-से होकर बोले—'बहुत ठीक है । कल ही हम सबको अपने-अपने हिस्सेके अनुसार बँटवारा कर लेना चाहिये ।' बड़े भाईने कहा—'जिस प्रकार तुमलोग उचित समझो, उसी प्रकार कर सकते हो, मेरी ओरसे कोई आपत्ति नहीं है । मैं तो तुम लोगोंकी राजीमें ही राजी हूँ ।'

दूसरे ही दिन दोनों भाइयोंने, जो कुछ सामान-सम्पत्ति थी,

सबके तीन हिस्से कर दिये। ब्राह्मण भक्तके हिस्सेमें एक छोटा-सा कच्चा मकान, कुछ नकद रुपये और कुछ साधारण गहने-कपड़े तथा रसोईके बर्तन वगैरह आये। तीसरे हिस्सेकी यजमानोंकी वृत्ति भी उनके हिस्सेमें दे दी गयी; पर यजमानोंका यह हाल था कि उनके पास यदि कोई पुरोहित चला जाता तो भले ही उनसे कुछ ले आता; घर बैठे पुरोहित महाराजको कोई याद नहीं करता।

इस प्रकार जब तीनों भाई अलग-अलग हो गये, तब उस ब्राह्मण भक्तने अपनी पत्नीसे कहा—'मेरे भाइयोंने हमलोगोंको जो कुछ भी दिया है, वह बहुत ही सन्तोषजनक है; किंतु अब हमें इस बातका पूरा ध्यान रखना चाहिये कि हम केवल भगवान्‌पर ही निर्भर करें। किसीके भी घर जाकर कभी कुछ भी याचना न करें और न किसीके देनेपर ही कुछ ग्रहण करें। भगवान् स्वयं योगक्षेम वहन करनेवाले हैं, वे ही हमारा योगक्षेम चलायेंगे। भाइयोंने जो कुछ दिया है, अभी तो उसीसे काम चलाना चाहिये।'

ब्राह्मणी भी ईश्वरकी भक्त और पतिव्रता थी। उसने पतिकी बात बड़े आदरके साथ स्वीकार की। उसने सोचा—'अभी तो निर्वाहके लिये कुछ हाथमें है ही। इसके समाप्त होनेके बाद स्वामी जैसा उचित समझेंगे, अपने-आप ही व्यवस्था करेंगे।'

वे भगवद्भक्त ब्राह्मण प्रातःकाल चार बजे ही उठते और शहरसे एक मील दूर एक तालाबपर जाकर शौच-स्नान करते। फिर सन्ध्या-वन्दनके अनन्तर भगवान्‌की मानस-पूजा, जप, ध्यान करके सम्पूर्ण गीताका भावसहित अर्थको समझते हुए पाठ किया करते, इसके बाद दिनमें ग्यारह बजे घर लौटकर भोजनादि करते। भोजन

करनेके बाद पुनः दोपहरमें एक बजे वापस वहीं तालाबपर जाकर जप, ध्यान, स्वाध्याय करते । फिर सायङ्काल चार बजे शौच-स्नान करके सन्ध्या-वन्दन करते । तदनन्तर मानस-पूजा करके सत्-शास्त्रों-का श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करते । सूर्यास्तके बाद भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान किया करते थे । अन्तमें रातको आठ बजेके बाद घर लौटकर भोजन करते और फिर अपनी पत्नीसे सदालाप करके दस बजे शयन किया करते । उनकी साध्वी धर्मपत्नी भी दोनों समय पतिको भोजन कराकर स्वयं भोजन करती और प्रतिदिन पतिको नमस्कार करना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, उनकी आज्ञाका पालन करना तथा ईश्वरका भजन-ध्यान करना अपना परम कर्तव्य समझती थी । इस प्रकार दोनोंका समय बीतता था । प्रति-दिन व्यय तो होता ही था । कुछ दिनोंमें उनके पास जो कुछ रुपये-पैसे थे, सब समाप्त हो गये । पत्नीने स्वामीसे कहा--'रुपये सब पूरे हो गये हैं ।' पतिने पूछा—'क्या गहने-कपड़े भी समाप्त हो गये ?' पत्नीने कहा—'नहीं ।' इसपर ब्राह्मणीने सोचा—अभी गहने-कपड़ोंसे काम चलानेकी स्वामीकी सम्मति है । अतएव वह उन्हें बेचकर घरका काम चलाने लगी । पर वे गहने-कपड़े भी कितने दिनके थे । वे भी समयपर शेष हो गये । फिर एक दिन पत्नीने कहा—'गहने-कपड़े भी सब समाप्त हो गये हैं ।' पतिने कहा—'कोई चिन्ता नहीं, अभी बर्तन-भाँड़े और मकान तो हैं ही । इससे ब्राह्मणीने समझा कि अभी स्वामीकी सम्मति मकान और बर्तनोंसे काम चलानेकी है । उसने प्रसन्नतासे मकानको बेच दिया और वे दूसरे किरायेके मकानमें चले गये । कुछ दिन इससे काम चला ।

इसके बाद बर्तन-भाँड़े भी बेच दिये, पर उनसे क्या होता। अन्तमें ब्राह्मणीके पास तन ढाँकनेके लिये एक साड़ी बची और ब्राह्मण देवताके लिये एक धोती और एक गमछा बचा। एक दिन ब्राह्मण देवता जब चार बजे जंगलकी ओर जाने लगे तो पत्नीने बड़े विनीत भावसे हाथ जोड़कर निवेदन किया—'स्वामिन्! अब सब कुछ शेष हो गया है। घर तो किरायेका है, बर्तन-भाँड़े भी सब समाप्त हो चुके हैं। केवल आपकी यह गीताजीकी पोथी, धोती, गमछा और मेरी एक साड़ी बची है। आज भोजनके लिये घरमें अन्न भी नहीं है। जो कुछ था, कल शेष हो गया।' ब्राह्मणने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वे सदाकी भाँति जंगलकी ओर चल दिये।

सदाकी भाँति ही पण्डितजी तालाबपर गये और शौच-स्नानसे निवृत्त हो उन्होंने सन्ध्या-गायत्रीजप आदि नित्यकर्म किया। उसके अनन्तर जब वे गीताका पाठ करने लगे तो उनके सामने वही अपना इष्ट श्लोक आया—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९।२२)

उस दिन पण्डितजी इस श्लोकको पढ़कर चौंक पड़े और इसे पढ़ते हुए मन-ही-मन विचार करने लगे कि 'मालूम होता है, इस श्लोकमें भगवान्‌के वचन नहीं हैं, शायद क्षेपक होगा। यदि यह भगवान्‌का कथन होता तो भगवान् क्या मेरी सँभाल नहीं करते? मैं तो सर्वथा उन्हींपर निर्भर हूँ। उन्होंने आजतक मेरी सुधि जरा भी नहीं ली।' ऐसा समझकर ब्राह्मणने उस श्लोकपर हरताल लगा दी और वे उस श्लोकको छोड़कर गीताका पाठ करने लगे।

ब्राह्मणदेवताके हृदयके इस भावको देखकर सर्वहृदयेश्वर भक्त-वाञ्छाकल्पतरु भगवान् तुरंत एक विद्यार्थीके रूपमें घोड़ेपर सवार होकर ब्राह्मणके घर उनकी धर्मपत्नीके पास पहुँचे और मिठाईका एक थाल भेंटमें रखकर पूछने लगे—'गुरुजी कहाँ हैं ?' ब्राह्मणपत्नीने कहा—'यहाँसे एक मील दूर एक तालाब है, वे प्रतिदिन वहाँ शौच-स्नान और नित्यकर्मके लिये जाते हैं और लगभग ग्यारह बजे लौटते हैं। अभी दस बजे हैं, उनके आनेमें एक घंटेकी देर है। आप कौन हैं और यह मिठाई किसलिये लाये हैं ?' विद्यार्थीने उत्तर दिया—'मैं पण्डितजीका शिष्य हूँ और गुरुजीकी तथा आपकी सेवाके लिये यह मिठाई लाया हूँ। इसे आप रख लें।' ब्राह्मणपत्नीने कहा—'पण्डितजी न तो किसीको शिष्य ही बनाते हैं और न किसीकी दी हुई कोई वस्तु ही लेते हैं। मुझको भी उन्होंने किसी भी वस्तुको स्वीकार न करनेकी आज्ञा दे रक्खी है। इसलिये मैं किसीकी दी हुई कोई वस्तु नहीं ले सकती। इसको आप वापस ले जाइये।' विद्यार्थीने कहा—'आप जैसा कहती हैं, वैसा ही मैं भी मानता हूँ। वे किसीको भी शिष्य नहीं बनाते, यह बात भी सही है। मुझको छोड़कर उन्होंने न तो किसीको शिष्य बनाया है और न बनावेंगे ही। मुझपर उनकी विशेष कृपा है, इसीसे मुझको उन्होंने शिष्य माना है। केवल मैं एक ही उनका शिष्य हूँ, इसके लिये मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ।' ब्राह्मणपत्नीने कहा—'मैंने तो यह बात कभी नहीं सुनी कि उन्होंने आपको शिष्य बनाया है। मैं तो जानती हूँ कि उन्होंने किसीको शिष्य बनाया ही नहीं है। फिर मैं इस बातको कैसे मान लूँ कि आप उनके शिष्य हैं। जो भी कुछ

हो, मैं इस मिठाईको किसी हालतमें भी स्वीकार नहीं कर सकती। पण्डितजीके लौटनेपर आप उन्हें दे सकते हैं।' विद्यार्थीने कहा—अच्छा, यह थाली यहाँ रक्खी है और मेरा घोड़ा भी यहीं बँधा है। मैं लौटकर पण्डितजीसे मिल लूँगा।' इसपर ब्राह्मणपत्नीने उत्तर दिया—'आप इस थालीको वापस ले जाइये, पण्डितजीके आनेपर आप फिर ला सकते हैं। मैं पण्डितजीकी आज्ञाके बिना इसको किसी भी हालतमें नहीं रख सकती।' किंतु भगवान् तो विचित्र ठहरे। वे थालीको वहीं छोड़कर चल दिये। चलते समय ब्राह्मणपत्नीने पूछा—'अपना नाम-पता तो बतला दीजिये, जिससे पण्डितजीके आनेपर यह मिठाईकी थाली आपके घर वापस पहुँचा दी जाय।' विद्यार्थीने कहा—'वे मुझे जानते हैं। उनकी मुझपर अत्यन्त कृपा है; क्योंकि मैं उनका एक ही शिष्य हूँ। मेरे सिवा दूसरा कोई शिष्य है ही नहीं। आप कह दीजियेगा कि आज प्रातःकाल जिसके मुँहपर आपने हरताल पोती थी, वही शिष्य आया था। इससे वे समझ जायँगे।' इतना कहकर भगवान् चलते बने।

एक घंटेके बाद पण्डितजी जंगलसे वापस लौटे और घरमें प्रवेश करते ही देखा कि एक थाली मिठाईसे भरी रक्खी है। पण्डितजीने कुछ उत्तेजित-से होकर पूछा—'यह मिठाई कहाँसे आयी, किसने दी और क्यों रक्खी गयी?' ब्राह्मणपत्नीने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक उत्तर दिया—'स्वामिन्! मैंने नहीं रक्खी है। एक विद्यार्थी जबरन् इसे रख गया। वह कहता था कि मैं गुरुजीकी सेवाके लिये लाया हूँ। इसपर भी मैंने स्वीकार नहीं किया। परंतु वह जबरन् छोड़कर चला ही गया।' ब्राह्मणने कहा—'तुम तो

इस बातको जानती हो कि मैंने न तो आजतक किसीको शिष्य बनाया है और न बनाता ही हूँ।' पत्नीने कहा—'यह बात सत्य है। मैंने भी उससे यही कहा कि 'न तो पण्डितजीने किसीको शिष्य बनाया है, न बनाते हैं और न बनावेंगे।' इसपर उसने मेरी बातका समर्थन करते हुए कहा कि 'मैं इस बातको जानता हूँ। गुरुजीने मुझको छोड़कर किसीको शिष्य नहीं बनाया और न बनावेंगे। एकमात्र मैं ही उनका शिष्य हूँ। मुझपर उनकी विशेष दया है। इसीलिये मुझको उन्होंने शिष्य स्वीकार किया है। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि यह मेरी बात सच्ची माननी चाहिये। इसपर भी मैंने तो यही कहा कि 'मैंने यह कभी नहीं सुना कि आपको उन्होंने शिष्य बनाया है। जो भी हो, मैं उनकी आज्ञाके बिना यह भेंट नहीं रख सकती; परंतु वह रखकर चल दिया।' पण्डितजीने कहा—'उसका नाम-पता तो पूछना चाहिये था, जिससे उसके घर चीज वापस लौटा दी जाती।' ब्राह्मणपत्नीने कहा—'मैंने पूछा था, तब उसने यह कहा कि मुझको गुरुजी जानते हैं। आज प्रातःकाल ही उन्होंने मेरे मुँहपर हरताल पोती है, मुझे इतनी ही देरमें वे थोड़े ही भूल जायँगे। आप कह दीजियेगा कि जिसके मुँहपर आज प्रातःकाल हरताल पोती थी वही आपका एकमात्र शिष्य भेंट दे गया है। बस, इतना कहकर वह चला गया और कह गया कि मिठाईकी थाली यहीं रक्खी है, मेरा घोड़ा भी यहीं बँधा हुआ है। मैं फिर आकर गुरुजीसे मिल लूँगा।'

यह सुनते ही पण्डितजीके रोमाञ्च हो आया और वे गद्गद होकर बोले—'ब्राह्मणी! तुम धन्य हो। वे तो साक्षात् भगवान्

थे। तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है, जो तुमको उनके साक्षात् दर्शन हुए। मैं अविश्वासी और हतभाग्य हूँ; इसीलिये मुझको उन्होंने दर्शन नहीं दिये। मैंने एक दिन भी भूख नहीं निकाली और अधीर होकर भगवान्‌के वचनोंपर हरताल पोत दी। गीता स्वयं भगवान्‌के मुखसे निकली हुई है, उसपर हरताल पोतना सचमुच भगवान्‌के मुखपर ही हरताल लगाना है। आज गीताका पाठ करते समय जब यह श्लोक आया कि—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(९।२२)

—तब मुझ अविश्वासीके मनमें भगवान्‌के वचनोंपर शङ्का हो गयी कि यदि सचमुच ये भगवान्‌के वाक्य होते तो वे निश्चय ही मेरा योगक्षेम वहन करते; यह क्षेपक है। ऐसा सोचकर मैंने उसपर हरताल पोत दी। मैं बड़ा ही नीच, पापी और अविश्वासी हूँ। मेरे हृदयमें यदि तनिक भी धैर्य होता तो मैं ऐसा नीच कार्य कभी नहीं करता। वे परमदयालु भगवान् तो सदा योगक्षेम चला ही रहे हैं। सब कुछ समाप्त होनेके साथ ही आ ही पहुँचे। हरताल लगानेके अपराधके कारण मैं उनके दर्शनोंसे वञ्चित रहा। तुम शुद्ध और अनन्यभक्त तथा पतिव्रता हो। इसलिये तुम्हें दर्शन दे गये। 'अब तो जबतक वे नहीं आते तबतक मुझे चैन नहीं।' इसके बाद उनकी दृष्टि बाहरकी ओर गयी तो क्या देखते हैं कि घोड़ेपर भार लदा हुआ है। उन्होंने तुरंत जाकर भार उतारा और उसे अंदर लाकर देखने लगे। उसमें

लाखों रुपयोंके रत्न भरे थे। ब्राह्मण यह देखकर अपने कृत्यपर पश्चात्ताप करने लगे। वे पुनः गद्गद हो गये और प्रेममें तन्मय होकर भागवतका यह श्लोक गाने लगे—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥*
(३।२।२३)

मुझे धिक्कार है कि ऐसे दीनबन्धु पतितपावन सबका धारण-पोषण करनेवाले विश्वम्भर प्रभुपर मैंने झूठा दोष लगाकर अपनेको कलङ्कित किया। मैं तो अर्थका दास हूँ। यदि सचमुच मैं प्रभुका दास होता तो मुझे भोजनाच्छादनकी चिन्ता ही क्यों होती और क्यों भगवान् मुझे संतुष्ट करनेके लिये यह रत्न-राशि दे जाते। मैं वास्तवमें यदि भगवान्के तत्त्व-रहस्यको जानता, मेरा उनमें सच्चा प्रेम होता और मेरे मनमें अर्थकी कामना न होती तो वे मुझे ये रत्न देकर क्यों भुलाते। 'यों कहते-कहते ब्राह्मण आनन्दमुग्ध हो गये।'

बहुत देर होते देखकर ब्राह्मणीने कहा—'भगवान्का दिया हुआ प्रसाद तो पा लें।' पण्डितजी बोले—'जब भगवान् यह कह गये हैं कि हम आवेंगे तो अब तो उनके आनेपर ही प्रसाद

* आश्चर्यकी बात है कि पापिनी पूतनाने जिस श्रीकृष्णको मारनेकी इच्छासे उन्हें स्तनोंमें लगाया हुआ हलाहल विष पिलाया था, वह भी माताके योग्य उत्तम गतिको प्राप्त हुई; फिर उन भगवान्को छोड़कर हम और किस दयालुकी शरणमें जायँ ?

पाऊँगा ।' सायङ्काल हो गया, पर भगवान् नहीं आये। तब ब्राह्मणीने फिर कहा—'अब तो प्रसाद पा लें।' पण्डितजी कब माननेवाले थे,उन्होंने फिर वही बात कह दी। जब रात्रिके दस बज गये, शयनका समय हो गया और भगवान् नहीं आये तब ब्राह्मणीने पुनः विनयपूर्वक कहा—'प्रसाद तो पा लीजिये।' ब्राह्मण देवताने फिर भी प्रसाद नहीं पाया और दोनों बिना कुछ खाये ही सो गये।

रातके ग्यारह बजे थे। दरवाजा खटखटाते हुए किसीने बड़े ही मधुर स्वरोंमें पुकारा—'गुरुआनीजी! गुरुआनीजी! दरवाजा खोलिये।' ब्राह्मणदम्पतिको अभी नींद तो आयी ही नहीं थी। सुमधुर स्वर तथा गुरुआनीजी सम्बोधन सुनकर ब्राह्मणी चौंक पड़ी और आनन्दविह्वल होकर बोली—'स्वामिन्! लीजिये, आपके भगवान् आ गये हैं।' ब्राह्मणने तुरंत दौड़कर दरवाजा खोला और वे भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्‌ने उनको उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया। उस समय पण्डितजीकी बड़ी विचित्र दशा थी। उनका शरीर रोमाञ्चित था, नेत्रोंमें आँसुओंकी धारा बह रही थी, हृदय प्रफुल्लित था और वाणी गद्गद थी। फिर भी वे किसी तरह धीरज धरकर बोले—'नाथ! मैं तो एक अर्थका दास हूँ। मुझ-जैसे पामरपर भी जो आपने इतनी कृपा की, इसमें आपका परम कृपालु स्वभाव ही हेतु है। यदि मेरे भाव और आचरणोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो आपके दर्शन तो दूर रहे, मुझे कहीं नरकमें भी ठौर नहीं मिलनी चाहिये। मैंने आप-जैसे सर्वथा निर्दोष महापुरुषपर दोष लगाया। मुझ-जैसा अर्थकामी नीच कोई शायद

ही होगा। मैं तो अर्थके लिये ही आपको भजता था, तभी तो आपने मेरे सन्तोषके लिये ये रत्न दिये हैं। मैं बड़ा भारी सकामी हूँ, इसीलिये तो मैंने आपको सांसारिक योगक्षेम चलानेवाला ही समझा; नहीं तो मैं पारमार्थिक योगक्षेमकी ही कामना करता। और जो निष्कामभावसे केवलमात्र आपपर ही निर्भर हैं, वे तो इस योगक्षेमको भी नहीं चाहते; किंतु आप तो बिना उनके चाहे ही उनका योगक्षेम वहन करते हैं। मुझ-जैसे अभागेमें ऐसी श्रद्धा, प्रेम, विश्वास और निर्भरता कहाँ, जो आप-जैसे महापुरुषके हेतुरहित अनन्य शरण होता।'

भगवान् बोले—'इसमें तुम्हारा कोई दोष ही नहीं है। तुम तो मुझपर ही निर्भर थे। मेरे आनेमें जो विलम्ब हुआ यह मेरे स्वभावका दोष है पर अभीतक तुमने भोजन क्यों नहीं किया?' पण्डितजीने कहा—'जब आप कह गये थे कि मैं फिर आकर मिलूँगा तो बिना आपके आये मैं कैसे भोजन करता। आप भोजन कीजिये, उसके बाद हमलोग भी प्रसाद पायेंगे।' भगवान्ने कहा—'नहीं-नहीं, चलो, हमलोग एक साथ ही भोजन करें।' फिर ब्राह्मणपत्नीने भगवान्का संकेत पाकर दोनोंको भोजन कराया। ब्राह्मण देवताने अत्यन्त प्रेम-विह्वल होकर प्रसाद पाया। भोजनके बाद भगवान् बोले—'तुम्हारी जो इच्छा हो सो माँग लो, तुम्हारे लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है।' ब्राह्मणने कहा—'जब आप स्वयं ही पधार गये तो अब भी माँगना बाकी ही रहा क्या? नाथ! मैं तो यही चाहता हूँ कि अब तो मेरे मनमें योगक्षेमकी भी इच्छा न रहे और केवल आपमें ही मेरा अनन्य विशुद्ध प्रेम हो।' भगवान्

'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये। इसके बाद ब्राह्मणपत्नीने भी प्रसाद पाया।

इधर, जबसे उन छोटे भाइयोंने अपने ज्येष्ठ भ्राता भगवद्भक्त ब्राह्मणको अलग कर दिया था, तबसे वे उत्तरोत्तर नितान्त दरिद्री और दुखी होते चले गये। उनकी इतनी हीन दशा हो गयी कि न तो उनको कहींसे कुछ उधार ही मिलता था और न माँगनेपर ही। जब उन्होंने सुना कि हमारे भाई इतने धनी हो गये हैं कि उनके द्वारपर सदा याचकोंकी भीड़ लगी रहती है तो वे भी अपने भाईके पास गये। परम भक्त पण्डितजीने भाइयोंको आये देखकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और उनकी कुशल-क्षेम पूछी। उन्होंने उत्तरमें कहा—'आप-जैसे सज्जन पुरुषोंसे अलग होकर हमें कुशल कहाँ? हम तो मुँह दिखाने लायक भी नहीं हैं। फिर भी आप हमलोगोंपर दया करके प्रेमसे मिलते हैं, यह आपका सौहार्द है।' बड़े भाईने कहा—'नहीं-नहीं भैया! ऐसा मत कहो। हम तीनों सहोदर भाई हैं। हमलोग कभी अलग थोड़े ही हो सकते हैं। यह तो एक होनहार थी। हमलोग जैसे प्रेमसे पहले रहा करते थे, अब भी हमें वैसे ही रहना चाहिये। संसारमें सहोदर भाईके समान अपना हितैषी और प्रेमी कौन है? तुमलोगोंको लज्जा या पश्चात्ताप न करके पूर्ववत् ही प्रेम करना चाहिये। यह जो कुछ तुम ऐश्वर्य देखते हो, इसमें भैया! मेरा क्या है। यह सब श्रीभगवान्‌की विभूति है। जो कोई भी भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है, भगवान् सब प्रकारसे उसका योगक्षेम वहन करते हैं। जैसे बालक माता-पितापर निर्भर होकर निश्चिन्त विचरता है और माता-पिता ही सब

प्रकारसे उसका पालन-पोषण करते हैं, उसी प्रकार, नहीं-नहीं, उससे भी बढ़कर भगवान् अपने आश्रितका पालन-पोषण और संरक्षण करते हैं। यही क्या, वे तो अपने-आपको ही उसके समर्पण कर देते हैं। अतः तुमलोगोंको—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

—इस श्लोकमें कही हुई बातपर विश्वास करके नित्य-निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करना चाहिये तथा अर्थ और भावको समझकर नित्य श्रीगीताका अध्ययनाध्यापन करना चाहिये।'

इसके बाद वे दोनों भाई बड़े भाईके साथ रहकर उनकी आज्ञाके अनुसार नित्य-निरन्तर जप-ध्यान तथा गीताका पाठ करने लगे एवं थोड़े ही समयमें भगवान्‌की भक्ति करके भगवत्कृपासे भगवान्‌को प्राप्त हो गये।

यह कहानी कहाँतक सच्ची है, इसका पता नहीं है; किंतु हमें इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि भगवान्‌पर निर्भर होनेपर भगवान् योगक्षेमका वहन करते हैं। अतः हम भी इसपर विश्वास करके भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। सबसे उत्तम बात तो यह है कि नित्य-निरन्तर भगवान्‌का निष्कामभावसे चिन्तन करना चाहिये। योगक्षेमकी भी इच्छा न करके भगवान्‌में केवल अहैतुक विशुद्ध प्रेम हो, इसीके लिये प्रयत्न करना चाहिये। किंतु यदि योगक्षेमकी ही इच्छा हो तो सच्चे—पारमार्थिक योगक्षेमकी इच्छा करनी चाहिये। अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्तकी

रक्षाका नाम 'क्षेम' है। पारमार्थिक योगक्षेमका अभिप्राय यह है कि परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें जहाँतक हम आगे बढ़ चुके हैं, उस प्राप्त साधन-सम्पत्तिकी तो भगवान् रक्षा करते हैं और भगवान्की प्राप्तिमें जो कुछ कमी है, उसकी भी पूर्ति भगवान् कर देते हैं। ऐसा भगवान्ने आश्वासन दिया है। इस प्रकार समझकर और इसपर विश्वास करके भगवान्पर निर्भर एवं निर्भय हो जायँ; भगवच्चिन्तनके सिवा और कुछ भी चिन्ता न करें।

जो लोग सांसारिक योग-क्षेमके लिये भगवान्को भजते हैं, वे भी न भजनेवालोंकी अपेक्षा बहुत उत्तम हैं, क्योंकि भगवान्ने अर्थार्थी, आर्त आदि भक्तोंको भी उदार—श्रेष्ठ बतलाया है 'उदाराः सर्व एवैते' (गीता ७। १८); और ज्ञानी निष्काम अनन्य भक्तको तो अपना स्वरूप ही बतलाया है; क्योंकि उस निष्कामी ज्ञानीके एक भगवान्के सिवा अन्य कोई गति है ही नहीं।

अतः हमको उचित है कि हम भगवान्के निष्काम ज्ञानी अनन्य भक्त बनें, क्योंकि ऐसा भक्त भगवान्को अत्यन्त प्रिय है। भगवान्ने कहा है—

> तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
> प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
> (गीता ७। १७)

'उन भक्तोंमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य-प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

भगवन्नामका मूल्य

'गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने मानसमें भगवन्नाम-महिमाका उल्लेख करते हुए यहाँतक कहा है कि कलियुगमें केवल भगवान्‌के नामका ही आधार है। गणिका और अजामिल-सदृश बड़े-से-बड़े पापी केवल नामके प्रभावसे सहजमें ही मुक्त हो गये। श्रीहनुमान्‌जीने इसी नामके प्रभावसे भगवान् श्रीरामको अपने वशमें कर रक्खा है। नामको जीभपर रखनेमात्रसे बाहर और भीतर प्रकाश छा जाता है। नामकी महिमा इतनी अधिक है कि स्वयं भगवान् भी उसका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं—'राम न सकहिं नाम गुन गाई।' यहाँतक कि भगवान् शिव इस नामकी शक्तिसे ही काशीमें समस्त जीवोंको मुक्ति प्रदान किया करते हैं। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि अन्य शास्त्र भी नाम-महिमासे भरे पड़े हैं; परंतु क्या कारण है कि इसके अनुसार नामका प्रत्यक्ष परिणाम देखनेमें नहीं आता?'

इस प्रकारके तर्क उपस्थित करते हुए कई महानुभाव प्रश्न किया करते हैं। इन सबका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष फल न दीखनेका कारण भगवान्‌के नाममें श्रद्धाकी कमी है। वस्तुतः भगवन्नामकी जो महिमा शास्त्रोंने गायी है, वह उससे कहीं अधिक है। नाम-महिमाकी कोई सीमा ही नहीं है। शास्त्र-कथित महिमा तो नामसे लाभ प्राप्त किये हुए महात्माओंके उद्गारमात्र हैं। जिस

प्रकार ईश्वर और सत्सङ्गकी जितनी महिमा कही जाय, उतनी ही थोड़ी है, उसी प्रकार नामकी महिमाका जितना वर्णन हो, उतना ही थोड़ा है। असलमें भगवन्नामके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभाव आदि न जाननेके कारण ही उसके प्रति श्रद्धामें कमी है। श्रद्धाके अभाव-से तथा कहीं-कहीं तो श्रद्धासे सर्वथा विपरीत अश्रद्धाके कारण मनुष्यको यथार्थ लाभसे वञ्चित रहना पड़ता है। नामकी तो अमित महिमा है। संसारके किसी भी पदार्थके साथ भगवन्नामकी तुलना नहीं हो सकती। यहाँके जड एवं नाशवान् पदार्थोंको लेकर भगवान्के नामको तौलने बैठना तो अपनी अज्ञताका ही परिचय देना है।

भगवन्नामके प्रभावपर एक दृष्टान्त

एक बहुत उच्चकोटिके भगवद्भक्त नामनिष्ठ महात्मा थे। उनके समीप उनका एक शिष्य रहता था। एक समयकी बात है कि वे महात्मा कहीं बाहर गये हुए थे; उसी समय उनकी कुटियापर एक व्यक्ति आया और उसने पूछा—'महात्माजी कहाँ हैं?' शिष्यने कहा—'स्वामीजी महाराज तो किसी विशेष कार्यवश बाहर पधारे हैं। आपको कोई काम हो तो कहिये।' आगन्तुकने कहा—'मेरा लड़का अत्यधिक बीमार है, उसे कैसे आरोग्य लाभ हो? महात्मा-जीकी अनुपस्थितिमें आप ही कोई उपाय बतानेकी कृपा करें।'

शिष्यने उत्तर दिया—'एक बहुत सरल उपाय है—'राम' नामको तीन बार लिख लें और उसे धोकर पिला दें; बस, इसीसे आराम हो जायगा।'

आगन्तुक अपने घर चला गया। दूसरे दिन वह

व्यक्ति बड़ी प्रसन्न मुद्रासे महात्माजीकी कुटियापर आया। उस समय महात्माजी वहाँ उपस्थित थे। उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणिपात करके उसने विनम्र शब्दोंमें हाथ जोड़कर निवेदन किया—'स्वामीजी महाराज! आपके शिष्य तो सिद्ध पुरुष हैं। कलकी बात है, मैं यहाँ आया था; उस समय आप कहीं बाहर पधारे हुए थे, केवल ये आपके शिष्य थे। आपकी अनुपस्थितिमें इन्हींसे मैंने अपने प्रिय पुत्रकी रोग-निवृत्तिके लिये उपाय पूछा। तब इन्होंने बतलाया कि तीन बार 'राम' नाम लिख लो और उसे धोकर पिला दो। मैंने घर जाकर ठीक उसी प्रकार किया और महान् आश्चर्य एवं हर्षकी बात है कि इस प्रयोगके करते ही लड़का तुरंत उठ बैठा, मानो उसे कोई रोग था ही नहीं।'

यह सुनकर महात्मा अपने शिष्यपर बड़े रुष्ट हुए और उसके हितके लिये क्रोधका नाट्य करते हुए बोले—'अरे मूर्ख! इस साधारण-सी बीमारीके लिये तूने राम-नामका तीन बार प्रयोग करवाया। तू नामकी महिमा तनिक भी नहीं जानता। अरे, एक बार ही नामका उच्चारण करनेसे अनन्त कोटि पापोंका और भवरोगका नाश हो जाता है और मनुष्य अनामय परमपदको प्राप्त हो जाता है। तू इस आश्रममें रहने योग्य नहीं। अतः जहाँ तेरी इच्छा हो, चला जा।' इसपर शिष्यकी आँखोंमें आँसू आ गये और उसने अपने गुरुदेवसे बहुत अनुनय-विनय की। संत तो नवनीत-हृदय होते ही हैं, ऊपरसे भी पिघल गये और उसके अपराधको क्षमा कर दिया।

इसके पश्चात् महात्माजीने चम-चम करता हुआ एक सुन्दर

चमकीला पत्थर कहींसे निकाला और उसे शिष्यके हाथमें देकर कहा—'तू शहरमें जाकर इसकी कीमत करा ला। सावधान! इसे किसी कीमतपर भी बेचना नहीं है, केवल कीमत भर अँकवानी है। कौन क्या कीमत आँकता है, इसे लिखकर लौट आना।'

शिष्य उसे लेकर बाजार चल दिया। सबसे पहले एक साग बेचनेवाली मालिन मिली। उसने उसे पत्थर निकालकर दिखलाया और पूछा—'तू इसकी अधिक-से-अधिक क्या कीमत दे सकती है?' साग बेचनेवालीने पत्थरकी चमक और सुन्दरता देखकर सोचा 'यह बड़ा अच्छा पत्थर है। बच्चोंके खेलनेके लिये बड़ी सुन्दर वस्तु है।' वह बोली—'इसकी कीमतमें सेर-डेढ़-सेर मूली, आलू या जो साग तुम्हें पसंद हो, ले सकते हो।' 'बेचना नहीं है' कहकर शिष्य आगे बढ़ा तो एक बनियेसे भेंट हुई। उसने पूछा—'सेठजी! इस पत्थरका मूल्य आप क्या दे सकते हैं?' बनियेने विचार किया, पत्थर तो बड़ा ही सुन्दर तथा चमकीला है और खूब वजनदार भी है। अतः सोना-चाँदी तौलनेमें इसका अच्छा उपयोग हो सकता है। उसने कहा—'एक रुपया दे सकता हूँ।' उसे इन्कार करके शिष्य आगे चला तो एक सुनारकी दूकानपर पहुँचा। सुनारने देखकर विचार किया कि यह तो अपने बड़े कामकी चीज है। इसे तोड़कर बहुत-से पुखराज बनाये जा सकते हैं। अतः उसने कहा—'अधिक-से-अधिक एक हजार रुपयेतक मैं दे सकता हूँ।'

'बेचना नहीं है' कहकर शिष्य बड़े उत्साहसे अग्रसर हुआ और एक जौहरीकी दूकानपर पहुँचा। पहले गुरुदेवके पाससे चला था, तब तो उसे किसी जौहरीके पास जानेका साहस ही नहीं था;

पर ज्यों-ज्यों उस पत्थरके मूल्यमें वृद्धि होती गयी, त्यों-ही-त्यों उसका साहस भी बढ़ता गया। अब उसकी दृष्टि भी बदल गयी। उसकी मान्यता, जो एक साधारण चमकीले पत्थरकी थी, नष्ट हो गयी। जौहरीको दिखलाकर उसकी कीमत पूछी। जौहरीने विचार किया तो उसने उसे हीरा समझा और वह उसके मूल्यमें एक लाख रुपये देनेको तैयार हो गया। परंतु बेचना तो था नहीं। अतः शिष्य उसे भी वही उत्तर देकर उच्च कोटिके जौहरियोंके पास पहुँचा। सबने मिलकर उसकी जाँच की और पाँच करोड़ रुपये उसकी कीमत आँकी। तत्पश्चात् वह शिष्य राजाके पास गया। राजा साहबने शिष्यको बड़े आदरसे बिठलाया और मुख्य-मुख्य सभी बड़े जौहरियोंको बुलाकर उस रत्नका मूल्य आँकनेके लिये कहा। सबने विचार-विमर्शके अनन्तर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'महाराज! हमने तो ऐसा रत्न कभी देखा ही नहीं। इसलिये इसकी कीमत आँकना हमलोगोंकी बुद्धिसे परेकी बात है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि यदि आप अपना सम्पूर्ण राज्य भी दे दें तो वह भी इसके मूल्यमें पर्याप्त नहीं।'

महाराजने शिष्यसे पूछा—'ऐसा अनुपम रत्न तुम्हें कैसे मिला?' शिष्यने उत्तर देते हुए कहा—'इसे मेरे गुरुदेवने मुझे देकर केवल मूल्य अँकवानेके लिये ही भेजा है, पर बेचनेकी आज्ञा नहीं है।' राजा साहबने बड़े विनम्र शब्दोंमें कहा—'इसका मूल्य मेरे राज्यसे भी अधिक है। यदि तुम्हारे गुरुजी इसे बेचना चाहें तो इसके बदलेमें मैं अपना सारा राज्य सहर्ष दे सकता हूँ। तुम पूज्य स्वामीजीसे पूछ लेना।' स्वामीजी उच्च कोटिके महात्मा हैं,

इस बातको सभी जानते थे। अतः सबने बड़े आदर-सत्कारके साथ उस शिष्यको वहाँसे विदा किया।

शिष्यने महात्माजीके पास लौटकर सारी कहानी उन्हें सुना दी और अन्तमें कहा—'गुरुदेव! मेरी तुच्छ सम्मति तो यह है कि जब राजा साहब इसके मूल्यमें अपना सारा राज्य ही दे रहे हैं, तब तो इसे बेच ही डालना चाहिये।' महात्माजी बोले—'इसके मूल्यमें राज्य भी कोई वस्तु नहीं। अभीतक इसके अनुरूप इसकी कीमत नहीं आँकी गयी।' शिष्यने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'राज्यसे बढ़कर और कीमत हो ही क्या सकती है?' महात्माजीने कहा—'यहाँ कोई लोहेकी बनी वस्तु मिल सकेगी क्या?' शिष्यने उत्तर दिया—'जी हाँ, आश्रममें कुछ यात्री आये हुए हैं; उनके पास तवा, चिमटा, सँडसी आदि लोहेके पर्याप्त बर्तन हैं। आज्ञा हो तो उनमेंसे कुछ ले आऊँ?' महात्माजीने कहा—'हाँ, ले आओ।'

शिष्य कई लौह-निर्मित वस्तुएँ ले आया। महात्माजीने ज्यों ही उनसे पत्थरका स्पर्श कराया, त्यों ही वे सारे लौह-पात्र देखते-ही-देखते शुद्ध सोनेके बन गये। यह देखकर शिष्यको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने चकित होकर पूछा—'यह तो बड़ी विलक्षण वस्तु है; यह क्या है, गुरुदेव?' महात्माजीने उत्तर दिया—'यह वह स्पर्शमणि (पारस पत्थर) है, जिसके स्पर्शमात्रसे ही लोहा सोना बन जाया करता है। भला, अब तू ही बता कि इसकी कीमत कितनी होनी चाहिये।' शिष्य बोला—'संसारमें अधिक-से-अधिक कीमत सोनेकी ठहरायी जाती है और वह कीमत इससे उत्पन्न होती है फिर इसका मूल्य कैसे आँका जाय।'

महात्माजी—'भगवन्नामका मूल्य तो इससे भी बढ़कर है। क्योंकि यह पारस तो जड पदार्थ है; इससे केवल जड पदार्थोंकी ही प्राप्ति हो सकती है, सच्चिदानन्द परमात्माकी नहीं। अत: किसी भी सांसारिक पदार्थके साथ भगवान्‌के नामकी तुलना करना सर्वथा अनुचित है। इनकी तुलना करनेवाला पारसको सेर-डेढ़ सेर मूली, आलूके शाकमें बेचनेकी मूर्खता करनेवालेसे कम मूर्ख नहीं। जिस प्रकार पारसको न पहचाननेवाला व्यक्ति उससे तुच्छ पदार्थ लेकर सदा कंगाल बना रहता है, उसी प्रकार राम-नामके महत्त्वको न जाननेवाला भी प्रेम और भक्तिकी दृष्टिसे सदैव दरिद्र ही रहता है। तू भगवन्नामके प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको नहीं जानता, इसीलिये एक साधारण-से रोगके लिये तूने राम-नामका तीन बार प्रयोग करवाया। जिस नामके प्रभावसे भयङ्कर भवरोग मिट जाता है, उसे मामूली रोगनाशके लिये उपयोगमें लाना सर्वथा अज्ञता है। तेरी इस अज्ञताको मिटानेके लिये ही तुझे पारस देकर भेजा था।' यह सुनकर शिष्य भगवन्नामका प्रभाव समझ गया और अपनी भूलके लिये बार-बार क्षमा-याचना करने लगा।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा मिलती है कि पारसके प्रभावसे अनभिज्ञ व्यक्तिको यदि पारस मिल जाय तो वह उसे अज्ञतावश दो-ही-चार रुपयेमें बेच सकता है। यदि वे महात्मा शिष्यको ठीक मूल्यपर पारस बेचनेको कह देते तो वह अधिक-से-अधिक पाँच-सात सेर आलू या एक-दो रुपयेमें अवश्य बेच आता और इसे ही वह अधिक मूल्य समझता। इसी प्रकार जो मनुष्य

भगवन्नामके प्रभावको नहीं जानते, वे उसे स्त्री, पुत्र, धन आदिके बदलेमें बेच डालते हैं।

भगवन्नामका रहस्य

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भगवान्‌के नाममें पापोंको नाश करनेकी बड़ी भारी शक्ति है। 'नाम अखिल अघ पुंज नसावन' यह उक्ति सर्वथा सत्य है; परंतु लोग इसका रहस्य नहीं जाननेके कारण इसका दुरुपयोग कर बैठते हैं। वे सोचते हैं कि नाममें पाप-नाशकी महान् शक्ति है ही; अभी पाप कर लें, फिर नाम लेकर उसे धो डालेंगे। यह सोचकर वे अधिकाधिक पाप-पङ्कमें फँसते ही चले जाते हैं। वे यह नहीं विचारते कि यदि वास्तवमें उनकी यह मान्यता ठीक हो तब तो नामका जप पापोंका विनाशक नहीं, प्रत्युत वृद्धि करनेवाला ही सिद्ध हुआ। क्योंकि फिर तो सभी लोग नामका आश्रय लेकर मनचाहा पाप करने लगेंगे और इससे वर्तमान कालकी अपेक्षा भविष्यमें पापोंकी संख्या बहुत अधिक बढ़ जायगी। जिस प्रकार पुलिसकी पोशाक पहनकर चोरी करनेवाला अन्य चोरकी अपेक्षा अधिक दण्डनीय होता है, उसी प्रकार भगवन्नामकी ओट लेकर पाप करनेवाला व्यक्ति अधिक दण्डका पात्र हो जाता है, क्योंकि उसके पाप वज्रलेप हो जाते हैं, बिना भोगे उनका विनाश नहीं होता। नामकी आड़ लेकर पाप करना तो नामके दस अपराधोंमेंसे एक नामापराध है। नामके दस अपराध ये हैं—

सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।

नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ हि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश ॥

१—सत्पुरुष—ईश्वरके भजन-ध्यान करनेवालोंकी निन्दा, २—अश्रद्धालुओंमें नामकी महिमा कहना, ३—विष्णु और शिवके नाम रूपमें भेद-बुद्धि, ४-५-६—वेद-शास्त्र और गुरुके द्वारा कहे हुए नाम-माहात्म्यमें अविश्वास, ७—हरिनाममें अर्थवादका भ्रम अर्थात् केवल स्तुतिमात्र है ऐसी मान्यता, ८-९—नामके बलपर विहितका त्याग और निषिद्धका आचरण और १०—अन्य धर्मोंसे नामकी तुलना यानी शास्त्रविहित कर्मोंसे नामकी तुलना—'ये सब भगवान् शिव और विष्णुके नाम-जपमें नामके दस अपराध हैं।'

इन दस अपराधोंसे अपनेको न बचाते हुए जो नामका जप करते हैं, वे नामके रहस्यको ही नहीं समझते।

तथा वाणीके द्वारा नाम जपनेकी अपेक्षा मनसे जपना सौ-गुना अधिक फलदायक है और वह मानसिक जप भी श्रद्धा-प्रेमसे किया जाय तो उसका अनन्त फल है; तथा वही गुप्त और निष्काम भावसे किया जाय तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। अतः इस रहस्यको भलीभाँति समझकर भगवन्नामका आश्रय लेना चाहिये।

भगवन्नामका तत्त्व

असलमें नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। वे भिन्न होते हुए भी सर्वथा अभिन्न हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (१०।२५)। 'सब यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ'—अर्थात्

अन्य समस्त यज्ञ तो मेरी प्राप्तिके साधन हैं, पर जपयज्ञ (नाम-जप) तो स्वयं मैं ही हूँ। जो इस तत्त्वको हृदयङ्गम कर लेता है—ठीक-ठीक समझ लेता है वह नामको कभी भूल नहीं सकता।

भगवन्नामके गुण

जो नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका जप करता रहता है, वह सद्गुणोंका समुद्र बन जाता है। जिस प्रकार सागरमें अनन्त जल-राशि होती है, उसी प्रकार उसमें अनन्त सद्गुण आ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि नाम बीजकी तरह है। जैसे बीजके बो देनेपर उसमेंसे फूटकर अङ्कुर उत्पन्न होता है एवं वही पुष्पित और पल्लवित होकर विशाल वृक्ष बन जाता है, वैसे ही नाम जपनेवालेमें अनायास ही सारे सद्गुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है।

इसके लिये मनुष्यको भगवन्नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझना चाहिये। इस प्रकार समझनेसे ही उसकी नाममें परम श्रद्धा होती है और श्रद्धासहित किया हुआ जप ही तत्काल पूर्ण फल देता है। अतः भगवान्‌के नाममें अतिशय श्रद्धा उत्पन्न हो, इसके लिये हमलोगोंको सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। सत्पुरुषोंका सङ्ग न मिलनेपर हमें सत्-शास्त्रोंका—जिनमें भगवान् और उनके नामके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभाव, श्रद्धा और प्रेमकी बातें बतायी गयी हों—अनुशीलन करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे भगवन्नाममें श्रद्धा-प्रेम उत्पन्न हो जाता है; और किये हुए जपका फल भी, जिसका शास्त्रोंमें वर्णन है, तत्काल प्रत्यक्ष देखनेमें आ सकता है।

श्रीमद्भागवतमें विशुद्ध भक्ति

श्रीमद्भागवत अलौकिक ग्रन्थ है । इसमें वर्णाश्रमधर्म, मानव-धर्म, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि भगवत्प्राप्ति-के सभी साधनोंका बड़ा विशद वर्णन है; परंतु ध्यानसे देखा जाय तो इसमें भगवान्‌की भक्तिका ही विशेषरूपसे निरूपण किया गया है । साधन और साध्य दोनों प्रकारकी भक्तिका वर्णन है । ग्रन्थका आदि, मध्य और अन्त भक्तिसे ही ओतप्रोत है । पहले ही स्कन्धमें कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा संप्रसीदति ॥

(१ । २ । ६)

'मनुष्योंका सबसे उत्तम धर्म—परमधर्म वही है, जिससे

श्रीहरिमें निष्काम और अव्यभिचारिणी भक्ति हो। भक्तिसे आनन्द-स्वरूप भगवान्‌को प्राप्त करके ही हृदय प्रफुल्लित होता है।'

इसी प्रकार १२ वें स्कन्धके अन्तमें कहा गया है—

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो॥
नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥
(१२। २२–२३)

'हे देवदेव! हे प्रभो! आप ही हमारे स्वामी हैं। ऐसी कृपा कीजिये, जिससे जन्म-जन्ममें आपके चरणकमलोंमें हमारी भक्ति होवे। जिनका नाम-सङ्कीर्तन सारे पापोंका नाश करनेवाला है और जिन्हें किया हुआ प्रणाम समस्त दुःखोंको शान्त कर देता है, उन परमेश्वर श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ।'

भक्तिकी महिमा कहते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे यहाँतक कह दिया है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥
(११ । १४ । २०–२५)

'उद्धव ! मेरी बढ़ी हुई भक्ति जिस प्रकार मुझको सहज ही प्राप्त करा सकती है उस प्रकार न तो योग, न ज्ञान, न धर्म, न वेदोंका स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है । मैं संतोंका प्रिय आत्मा हूँ । एकमात्र श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही मेरी प्राप्ति सुलभ है । दूसरोंकी तो बात ही क्या, जातिसे चाण्डालादिको भी मेरी भक्ति पवित्र कर देती है । मनुष्योंमें सत्य और दयासे युक्त धर्म हो तथा तपस्यासे युक्त विद्या भी हो; परन्तु मेरी भक्ति न हो तो वे धर्म और विद्या उनके अन्तःकरणको पूर्णरूपसे पवित्र नहीं कर सकते । मेरे प्रेमसे जबतक शरीर पुलकित नहीं हो जाता, हृदय द्रवित नहीं हो उठता, आनन्दके आँसुओंकी झड़ी नहीं लग जाती, तबतक मेरी ऐसी भक्तिके बिना अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकता है । भक्तिके आवेशमें जिसकी वाणी गद्गद हो गयी है, चित्त द्रवित हो गया है, जो कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी सङ्कोच छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी नाच उठता है—ऐसा मेरा भक्त

स्वयं पवित्र हो इसमें तो कहना ही क्या; वह समस्त लोकोंको पवित्र कर देता है। जिस प्रकार अग्निसे तपाये जानेपर सोना मैलको त्याग देता है और पुनः तपाये जानेपर अपने स्वच्छ स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी मेरे भक्तियोगके द्वारा कर्मवासनासे मुक्त होकर फिर मुझ भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।'

भक्तिसे भगवान् वशमें हो जाते हैं। वे कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(९।४।६३–६६, ६८)

'मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ और अस्वतन्त्रकी तरह हूँ। मेरे साधुहृदय भक्तोंने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रक्खा है। मैं उन भक्तोंका सदा ही प्यारा हूँ। ब्रह्मन्! अपने भक्तोंका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। उनको और किसीका आश्रय है ही नहीं। इसलिये अपने उन साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर न तो मैं अपने आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धाङ्गिनी विनाशरहिता लक्ष्मीको ही। जो

मेरे भक्त अपने स्त्री, पुत्र, घर, कुटुम्बी, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, भला उन भक्तोंको मैं छोड़नेका विचार भी कैसे कर सकता हूँ। जिस प्रकार सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही अपने हृदयको मुझमें प्रेम-बन्धनसे बाँध रखनेवाले वे समदर्शी साधु पुरुष भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। अधिक क्या कहूँ—वे मेरे प्रेमी साधु पुरुष मेरे हृदय हैं और मैं उन प्रेमी साधुओंका हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता।'

एक जगह तो भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया है—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(११। १४। १६)

'मैं उन भक्तोंके पीछे-पीछे सदा इसलिये फिरा करता हूँ कि उनकी चरणरजसे पवित्र हो जाऊँ।'

सचमुच भक्तिकी ऐसी ही महिमा है। भक्ति ऐसी अनुपम वस्तु है कि यह जिसके पास होती है, वह जो कुछ चाहता है, वही उसे मिल जाता है। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११। ५४)

'परन्तु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये

तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

भगवान्‌की प्रेमलक्षणा भक्ति ऐसी ही है। श्रीमद्भागवतमें इसी प्रेमलक्षणा भक्तिका तथा इसे प्राप्त करानेवाली वैधी भक्तिका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है।

श्रीमद्भागवतका दशम स्कन्ध तो भक्तिसे भरपूर है। भगवान्‌की विविध लीलाओंका अत्यन्त सुमधुर वर्णन होनेसे उसके पढ़ने-सुननेमें बड़ा ही रस आता है। इस दशम स्कन्धमें भगवान्‌की कुछ ऐसी लीलाओंका वर्णन है, जिन्हें पढ़कर अज्ञलोग भगवान्‌पर लाञ्छन लगानेसे नहीं चूकते। वे कहते हैं, भगवान्‌का तो प्रत्येक कार्य आदर्शरूप है; फिर उनके लिये चोरी, कपट, काम, रमण आदिके प्रसङ्ग कैसे आते हैं। वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। झूठ-कपट और चोरी-जारी आदि दोष तो उन मनुष्योंमें भी नहीं रह सकते, जो अनन्य मनसे भगवान्‌का स्मरण करने लगते हैं। फिर साक्षात् भगवान्‌में तो ऐसे दोषोंकी कल्पना ही क्योंकर की जा सकती है। भगवान्‌का तो अवतार ही हुआ था—साधुओंका उद्धार, दुष्टोंके लिये दण्ड-विधान और धर्मकी संस्थापना करनेके लिये। वे ऐसा कोई काम करते ही कैसे जिससे साधुओंके बदले दुष्टोंके दुराचारको प्रोत्साहन मिलता तथा धर्मकी जड़ उखड़ती? भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे घोषणा की है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

(गीता ३। २१-२५)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है। हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है तथा न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ; क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं सङ्करताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ। हे भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोक-संग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।

इस प्रकार कहनेवाले स्वयं भगवान् कोई भी ऐसा काम करें जिससे लोकशिक्षामें बाधा आती हो—यह सम्भव नहीं है। अतएव

श्रीमद्भागवतमें जहाँ काम, रमण, रति आदि शब्द आते हैं, वहाँ उनका कुत्सित अर्थ न करके दूसरा ही अर्थ करना चाहिये और वही है भी। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(१०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर 'रमण' करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मुझे भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यह साधनावस्थाका वर्णन है, यहाँ अभी साधकको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हुई है। इन श्लोकोंमें भक्तकी उस मानसिक स्थितिका वर्णन है, जिसके फलस्वरूप उसे भगवान्‌की प्राप्ति होगी। यहाँ मानसिक इन्द्रियोंसे ही वह भगवान्‌को देखता, सुनता और रमण करता है। भक्तका यह भगवान्‌में रमण करना कदापि कुत्सित इन्द्रियोंका कार्य नहीं है। यह परम पवित्र मानसिक भाव है। इसी मानसिक भावसे वह भगवान्‌का चिन्तन करता है, उनका संस्पर्श पाता है और उनके साथ भाषण करता है। भागवतमें वर्णित रमण, काम आदि शब्दोंका भी कुछ ऐसा ही तात्पर्य समझना चाहिये,

भगवान्‌पर किसी भी कुत्सित क्रियाका आरोप करना तो अपनी कुत्सित वृत्तिका ही परिचय देना है।

यह जो कहा जाता है कि भक्तिके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इस पाँच भावोंमें माधुर्य ही सबसे श्रेष्ठ है, सो भावविकासकी दृष्टिसे ऐसा कहना भी एक प्रकारसे ठीक ही है; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सभी भक्तोंमें इन सारे भावोंका क्रमशः उत्तरोत्तर प्रादुर्भाव हो या भक्तका कोई-सा भाव किसी दूसरेसे ऊँचा-नीचा हो। अपने-अपने क्षेत्रमें सभी भाव उत्तम हैं और जिस भक्तको जो भाव प्रिय है, उसके लिये वही भाव सर्वोत्तम है। श्रीहनूमान्‌जीके लिये दास्यभाव ही सर्वोत्तम है। वे किसी भी दूसरे भावके लिये क्या इस दास्यभावका कभी परित्याग कर सकते हैं? श्रीवसुदेव-देवकी या श्रीनन्द-यशोदाके लिये वात्सल्यभाव ही सर्वप्रधान है इसी प्रकार अन्य भावोंके लिये भी समझना चाहिये। फिर यह बात तो किसी भी हालतमें न समझनी चाहिये कि 'मधुर' भावका अर्थ लौकिक स्त्री-पुरुषोंकी तरह कामजनित अङ्ग-सङ्ग या कोई कुत्सित क्रिया हो। वह तो परम पवित्र भाव है जिसमें भक्त अपने भगवान्‌को सर्वथा आत्मनिवेदन करके उन्हींके मधुर चिन्तन, मधुर भाषण और मधुर मिलनमें डूबा रहता है।

श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। वे सारे दोषोंसे सर्वथा रहित और समस्त कल्याणमय गुण-गणोंसे सर्वदा सम्पन्न हैं। उनके नाम-गुण-लीला आदिके श्रवण, कथन, मनन और चिन्तनमात्रसे ही मनुष्य परम पवित्र होकर दुर्लभ परम पदको प्राप्त हो जाते हैं; फिर साक्षात् उनमें किसी दोषकी कल्पना ही कैसे हो सकती है?

अतएव भगवान्‌की लीलाओंमें जहाँ-कहीं ऐसे प्रसङ्ग या वाक्य आये हैं, वहाँ परम शुद्ध भावमें ही उनका अर्थ लेना चाहिये, कुत्सित भावमें कदापि नहीं। पूर्वापरका प्रसङ्ग न समझमें आये, तो उसे अपनी अल्प बुद्धिके बाहरकी बात समझकर उसकी आलोचनासे हट जाना चाहिये। न तो यही मानना चाहिये कि ये प्रसङ्ग क्षेपक हैं, न उन्हें कोरे आध्यात्मिक रूपक ही समझना चाहिये और न भूलकर भी ऐसी छूट ही देनी चाहिये कि भगवान्‌में ऐसी बातें हों, तो भी क्या हर्ज है उन्हें श्रद्धाकी दृष्टिसे सर्वथा परम पवित्र समझना चाहिये। परन्तु अपनी बुद्धि काम नहीं देती—उनके स्वरूपको नहीं खोल पाती, इसलिये उनकी आलोचना न करनी चाहिये।

गोपियोंके प्रेमकी भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे प्रशंसा की है। उद्धव आदि मनीषियोंने उसको मुक्तकण्ठसे सराहा है। यदि गोपियाँ वास्तवमें व्यभिचारदुष्टा होतीं, तो भगवान् उनकी प्रशंसा कैसे करते और क्यों उद्धवादि ही उनकी चरणरज चाहते? गोपियोंकी भक्ति सर्वथा अव्यभिचारिणी और अहैतुकी थी। उनका भाव पवित्र था और उसीके अनुसार उनकी रासलीला भी पवित्र थी। उनका चलना, बोलना, मिलना, नाचना और गाना—सभी कुछ पवित्र था, आनन्द और प्रेमसे परिपूर्ण था। उसमें किसी कुत्सित भावकी कल्पनाको भी गुंजाइश नहीं है। भक्तिके साधनसे काम-क्रोधादि दोषोंकी जड़ उखड़ जाती है। फिर गोपियों-जैसी भक्तिमती स्त्रियोंमें कामादि दोष कैसे रह सकते हैं। उनका 'रास' भगवान्‌के प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप था। वह ऐसा नहीं था, जैसा आजकल लोग धनके लोभसे स्वाँग बना-बनाकर करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें कई जगह प्रसंगवश मदिरा, मांस, हिंसा, व्यभिचार, चोरी, असत्यभाषण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहङ्कार, असत्य, कपट आदिके प्रकरण आये हैं। उन्हें न तो सिद्धान्त समझना चाहिये और न अनुकरणीय ही। उन्हें सर्वथा हेय समझकर उनका त्याग ही करना चाहिये। असलमें श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर जो इन दोषों-दुर्गुणों और दुराचारके त्यागका आदेश दिया गया है, उसीका पालन करना चाहिये। अच्छे पुरुषोंमें कहीं किसी दोषकी बात आयी है—जैसे ब्रह्माजीके काम, मोह आदि तो वहाँ यही समझना चाहिये कि काम, मोहकी प्रबलता दिखलाकर बड़ी सावधानीसे उनका सर्वथा त्याग कर देनेके अभिप्रायसे ही वे बातें लिखी गयी हैं। उन्हें न तो विधि मानना चाहिये और न यही मानना चाहिये कि ब्रह्मादि देवताओं, महात्माओंमें ये दोष रहते हैं। कहीं अपवाद या छूटके रूपमें भी उन्हें स्वीकार न करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें जहाँ-तहाँ काम-व्यभिचारकी निन्दा है, क्रोध और असत्यका विरोध है, चोरी-बरजोरी, हत्या, शिकार और मांस-सेवन आदिका निषेध है—कुछ थोड़े-से उदाहरण देखिये—

यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियमगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया सूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियं च पुरुषरूपया सूर्म्या।

(५। २६। २०)

'इस लोकमें यदि कोई पुरुष परस्त्रीसे अथवा कोई स्त्री पर-पुरुषसे व्यभिचार करती है तो यमदूत उन्हें 'तप्तसूर्मि' नामक नरकमें

ले जाकर कोड़ोंसे पीटते हुए पुरुषको तपाये हुए लोहेकी स्त्री-मूर्तिसे और स्त्रीको तपायी हुई पुरुष-मूर्तिसे आलिङ्गन कराते हैं ।'

बलि राजाने कहा है—

'नह्यसत्यात्परोऽधर्मः' (८।२०।४)

'असत्यसे बढ़कर कोई अधर्म नहीं है ।'

यस्त्विह वै स्तेयेन बलाद् वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्य वापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन् यमपुरुषा अयस्मयैरग्निपिण्डैः सन्दंशैस्त्वचि निष्कुषन्ति ।

(५।२६।१९)

'यहाँ जो व्यक्ति चोरी या बरजोरीसे ब्राह्मणके या आपत्तिकाल-के बिना ही किसी दूसरे पुरुषके सुवर्ण-रत्नादि पदार्थोंका हरण करता है, उसे मरनेपर यमदूत 'सन्दंश' नामक नरकमें ले जाकर तपाये हुए लोहेके गोलोंसे दागते हैं और सँडासीसे उसकी खाल नोचते हैं ।'

स्वयं भगवान्‌ने राजा मुचुकुन्दसे कहा है—

क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः ।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः ॥

(१०।५१।६३)

'तुमने क्षत्रियवर्णमें शिकार आदिके द्वारा बहुत-से पशुओंकी हत्या की थी; अब एकाग्रचित्तसे मेरी उपासना करते हुए तपस्याके द्वारा उस पापको धो डालो ।'

कपिलदेवजी कहते हैं—

अर्थैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान्।
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग् यात्यधः स्वयम्॥
(३।३०।१०)

'मनुष्य जहाँ-तहाँसे भयङ्कर हिंसा आदिके द्वारा धन बटोरकर स्त्री-पुत्रादिके पालन-पोषणमें लगा रहता है और शेष बचे हुए भागको खाकर पापका फल भोगनेके लिये स्वयं नरकमें जाता है।'

ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून् विशसन्ति तानमुष्मिँल्लोके वैशसे नरके पतितान् निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति। (५।२६।२५)

'जो पाखण्डपूर्वक यज्ञोंमें पशुओंका वध करते हैं, वे निश्चय ही दाम्भिक हैं, उन पतितोंको परलोकमें 'वैशस' नरकमें डालकर वहाँके अधिकारी बहुत पीड़ा देकर काटते हैं।'

देवर्षि नारदजीने मरे पशुओंको आकाशमें दिखलाकर राजा प्राचीनबर्हिसे कहा है—

भो भोः प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे।
संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान् निर्घृणेन सहस्रशः॥
एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।
सम्परेतमयःकूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः॥
(४।२५।७-८)

'प्रजापालक नरेश! देखो देखो, तुमने यज्ञमें निर्दयताके साथ जिन हजारों पशुओंकी बलि दी है, उन्हें आकाशमें देखो। ये सब तुम्हारे द्वारा दी हुई पीड़ाओंको याद करते हुए तुमसे बदला लेनेके

लिये तुम्हारी बाट देख रहे हैं। जब तुम मरकर परलोकमें जाओगे, तब ये अत्यन्त क्रोधमें भरकर तुम्हें अपने लोहेके-से सींगोंसे छेद डालेंगे।'

सभी दोषोंको भागवतमें त्याज्य और महान् अशुभ फलदायक बतलाया गया है। लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये यहाँ थोड़े ही उदाहरण दिये गये हैं।

दूसरी बात यह है कि इतिहासोंमें—कथाओंमें वर्णित सभी बातें आचरणीय नहीं होतीं। शास्त्रोंके विधिवाक्य ही आचरणीय होते हैं। निषेधवाक्य उनसे भी अधिक बलवान् होते हैं। शास्त्रोंमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, व्यभिचारादिके लिये कहीं भी विधि नहीं है—निषेध ही है। कहीं प्रासङ्गिक कोई बात हो तो भी उसे किसी भी अंशमें—किञ्चिन्मात्र भी, कभी, किसी प्रकार भी उपादेय या अवलम्बन करने योग्य न मानना चाहिये।

असलमें जहाँ भगवान्‌की भक्ति होती है, वहाँ तो काम-क्रोधादि दोष रह ही नहीं पाते। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥

(६। १२। २२)

'जो मोक्षके स्वामी भगवान् श्रीहरिकी भक्ति करता है, वह तो अमृतके समुद्रमें खेलता है। क्षुद्र गढ़ैयामें भरे हुए मामूली गंदे जलके सदृश किसी भी भोगमें या स्वर्गादिमें उसका मन कभी चलायमान नहीं होता।' जब किसी भी भोगकी आसक्ति और कामना

ही नहीं होती, तब निषिद्ध कर्म, दुर्गुण, दुराचार तो हो ही कैसे सकते हैं। गोसाईंजीने कहा है—

बसइ भगति मनि जेहि उर माहीं।
खल कामादि निकट नहिं जाहीं॥

अतएव यह निश्चय कर लेना चाहिये कि जो यथार्थमें भक्त, साधु या महापुरुष हैं, उनका हृदय, उनकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टा, उनके उपदेश या भाव, उनके दर्शन और भाषण—सभी पवित्र होते हैं, पवित्र करनेवाले होते हैं। उनके सारे आचरण आदर्श और सब लोगोंके लिये कल्याणकारी होते हैं। यह सोचना चाहिये कि भक्त, संत और महापुरुषोंसे ही यदि जगत्को सदाचार और सद्गुणोंकी समुचित शिक्षा न मिलेगी तो फिर संसारमें सदाचारका आदर्श कौन होगा। अतएव श्रीमद्भागवतमें आये हुए प्रासङ्गिक काम, रमण, रति आदि शब्दोंका और वैसे प्रकरणोंका यदि कोई पुरुष लौकिक गंदे काम, रमण आदि अर्थ करे तो उसे किसी भी अंशमें न मानना चाहिये। समय बड़ा विकट है, आजकल भक्त या साधुका वेष बनाकर न जाने कितने कपटी लोग अपनी दुर्वासनाओंकी पूर्तिके लिये लोगोंको ठग रहे हैं। ऐसे ही लोग प्रायः सद्ग्रन्थोंके इस प्रकारके प्रकरणोंका और शब्दोंका आश्रय लेकर—उन्हें महापुरुषोंमें अपवाद बतलाकर लोगोंको अपने चंगुलमें फँसाते हैं। संसारके भोले-भाले नर-नारी, जो महापुरुषोंके लक्षण और आचरणोंसे पूरे परिचित नहीं हैं, जिन्हें शास्त्रोंमें आये हुए ऐसे प्रकरणों या शब्दोंके अर्थका ठीक-ठीक पता नहीं है, वे लोग उन कामिनी-काञ्चन, इन्द्रियोंके नाना प्रकारके भोग और मान-बड़ाई तथा

पूजा-प्रतिष्ठा चाहनेवाले, वाचाल दम्भियोंकी बातोंमें फँस जाते हैं अतएव सभी भाई-बहिनोंसे निवेदन है कि वे सावधान हो जायँ और जिनके आचरणमें ये बुरी बातें दिखलायी दें अथवा जो शास्त्रोंके प्रमाण दे-देकर दुर्गुण, दुराचार, व्यभिचार, चोरी, कपट और असत्य आदिका समर्थन करें, उनको महात्मा कभी न मानें। यथार्थ श्रेष्ठ पुरुषमें दुर्गुण दुराचार होते ही नहीं। वे परस्त्री-परद्रव्यकी तो बात ही क्या, शास्त्रानुकूल मान-बड़ाईके प्राप्त होनेपर भी सकुचाते हैं।

इसपर यदि कोई कहे कि इतिहासोंमें ज्ञानी पुरुषोंमें भी काम-क्रोध आदिके उदाहरण मिलते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी पुरुषोंमें काम-क्रोध आदि नहीं होते। वे लोकसंग्रहार्थ नाट्य करते हों तो दूसरी बात है। और यदि वास्तवमें काम-क्रोध हों तो शास्त्रके अनुसार उन्हें भगवत्प्राप्त सिद्ध, महात्मा या यथार्थ ज्ञानवान् न मानना चाहिये।

हाँ, पापी और दुराचारी भी भगवान्की भक्ति अवश्य कर सकते हैं और भक्तिमें लग जानेपर वे भी परम पवित्र बन सकते हैं। श्रीभगवान्ने स्वयं कहा है—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
> कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
> (गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है

कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

भगवान्की भक्तिके सभी अधिकारी हैं। कोई किसी भी जातिका हो, उसके अबतक कितने ही नीच आचरण हों, भगवान्के शरण होकर उनकी भक्ति करनेसे वह शीघ्र ही पवित्र हो जाता है और अन्तमें पापोंसे सर्वथा मुक्त होकर भगवान्को प्राप्त कर लेता है।

इन सब बातोंपर ध्यान देकर प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने जीवनको भजनमय बनानेकी चेष्टा करे। भगवान्में अनन्य प्रेम हो—इसके लिये भगवान्के नामका जप, उनके गुण-प्रभाव-रहस्य-तत्त्वके ज्ञानसहित उनके स्वरूपका ध्यान और उनकी लीलाओंका श्रवण-कथन-मनन करे। यही मनुष्यका परम कर्तव्य है। जो ऐसा करता है, वह भगवान्की भक्तिके प्रभावसे पूर्णमनोरथ हो जाता है। और यदि वह कुछ भी नहीं चाहता, तो भगवान् अपने आपको ही उसके अर्पण कर देते हैं।

जीवन थोड़ा है और नाना प्रकारके विघ्नोंसे भरा है। जो समय बीत गया, वह तो गया ही। अब शेष बचे हुए जीवनके प्रत्येक क्षणको भगवान्की सेवामें—उनके भजनमें लगा देना चाहिये। इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है। भगवत्प्राप्तिरूप परमकल्याणकी प्राप्ति मनुष्य-जीवनमें ही सम्भव है। उसीको प्राप्त करना चाहिये। दूसरे भोग तो और योनियोंमें भी मिल सकते हैं, परन्तु भगवान्की प्राप्ति तो इस मनुष्य-जन्ममें ही हो सकती है।

श्रीभगवान् कहते हैं—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २० । १७)

'यह मनुष्य-शरीर समस्त फलोंकी प्राप्तिका आदि कारण है । यह (पुण्यवान्के लिये) सुलभ और (पापात्माके लिये) अत्यन्त दुर्लभ है । (भवसागरसे पार होनेके लिये) सुदृढ़ नौका-रूप है । गुरु ही इसके कर्णधार हैं । अनुकूल वायुरूप मेरी सहायता पाकर यह पार लग जाती है । (यह सब सुयोग पाकर भी) जो पुरुष संसार-समुद्रसे पार नहीं होता, वह आत्मघाती ही है ।'

यही बात भगवान् श्रीरघुनाथजीने अपनी प्रजासे कही है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो । सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा । दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

कलियुगमें भगवत्प्राप्तिके साधन बहुत सुलभ हैं—भगवान्के नाम-संकीर्तनसे ही सारा काम बन सकता है । सत्सङ्ग मिल जाय, फिर तो कहना ही क्या है ! श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥
(१।१८।१३)

'भगवत्सङ्गी अर्थात् नित्य भगवान्‌के साथ रहनेवाले अनन्य प्रेमी भक्तोंके निमेषमात्रके भी सङ्गके साथ हम स्वर्ग तथा मोक्षकी भी समानता नहीं कर सकते, फिर मनुष्योंके इच्छित पदार्थोंकी तो बात ही क्या है ?'

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(१२।३।५१-५२)

'हे राजन् ! दोषोंके खजाने कलियुगमें एक ही यह महान् गुण है कि भगवान् श्रीकृष्णके कीर्तनसे ही मनुष्य आसक्तिरहित होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है । सत्ययुगमें ध्यानयोगसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंसे और द्वापरमें विधिपूर्वक पूजा-अर्चाके द्वारा भगवान्‌की आराधना करनेवालेको जो फल मिलता है, वही कलियुगमें केवल श्रीहरिके नाम-सङ्कीर्तनसे ही मिल जाता है ।'

अतएव भक्ति-श्रद्धापूर्वक श्रीभगवान्‌के नाम-गुणोंका जप-कीर्तन, महापुरुषोंका सङ्ग और श्रीमद्भागवत, गीता एवं रामायण-जैसे सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करके मनुष्य-जीवनको सफल बनानेकी चेष्टा प्राणपणसे करनी चाहिये ।

गीताकी सर्वप्रियता

कुछ सज्जनोंने गीताके सम्बन्धमें कई प्रश्न किये हैं, उनके जो उत्तर उन्हें दिये गये हैं, वे सर्वोपयोगी होनेसे यहाँ लिखे जाते हैं।

प्रश्न—गीतापर अनेक आचार्योंकी टीकाएँ हैं, उनमेंसे आप किस आचार्यकी टीकाको उत्तम और यथार्थ मानते हैं?

उत्तर—जो भगवत्प्राप्त महापुरुष हैं, उन सभी आचार्योंकी टीकाओंको मैं उत्तम और यथार्थ मानता हूँ।

प्रश्न—आचार्य तो अनेक हुए हैं, उनमें परस्पर बहुत ही मतभेद है, यहाँतक कि आकाश-पातालका अन्तर है। स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी अद्वैतवादका प्रतिपादन करते हैं तो स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजी विशिष्टाद्वैतका। इसी प्रकार अन्यान्य आचार्य विभिन्न तरहसे प्रतिपादन करते हुए ही टीका लिखते हैं तो सभी टीकाएँ यथार्थ कैसे हो सकती हैं? सत्य तो एक ही हुआ करता है।

उत्तर—तर्ककी दृष्टिसे जैसे आप कहते हैं, वह ठीक है। मान लें कि गीतापर एक सौ टीकाएँ हैं और सभी टीकाएँ एक-दूसरीसे भिन्न हैं तो उनमें प्रत्येक टीका शेष ९९ टीकाओंके विरुद्ध हो जाती है। इस न्यायसे तो इत्थम्भूत एक भी नहीं ठहरती।

किन्तु किसी भी आचार्यकी टीकाके अनुसार उसका अनुयायी अच्छी प्रकार अनुष्ठान करे तो उससे उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है—इस न्यायसे सभी टीकाएँ ठीक हैं।

प्रश्न—आप कौन-सी टीकाको सर्वोपरि मानते हैं और किसके अनुयायी हैं?

उत्तर—मैं तो सभीको उत्तम मानता हूँ और मैं अनुयायी किसी एकका नहीं, सभीका अनुयायी हूँ। क्योंकि मैं प्रायः सभीसे अच्छी बातें ग्रहण करता रहता हूँ और मैंने बहुत-सी टीकाओंसे मदद ली है तथा ले रहा हूँ। सभी हमारे पूज्य हैं, अतः मैं सभीको आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ एवं किसी भी आचार्यकी की हुई टीकाके अनुसार अनुष्ठान करनेसे परमात्माकी प्राप्ति मानता हूँ। किन्तु टीकाओंकी अपेक्षा मूलको ही सर्वोत्तम मानता हूँ; क्योंकि कोई भी आचार्य मूलका विरोध नहीं करते, बल्कि भगवद्वाक्य होनेसे सब मूलका ही आदर और प्रशंसा करते हैं तथा मूलको आधार मानकर ही सब चलते हैं एवं उसीके अनुसार अन्य सभीको वे चलाना चाहते हैं। इसलिये आचार्योंकी टीकाओंकी अपेक्षा मूल ही सर्वोत्तम है।

प्रश्न—स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी गीताका अद्वैतपरक अर्थ करते हैं और भक्तिमार्गवाले द्वैतपरक तथा कर्ममार्गवाले कर्मयोगपरक, तो गीताका प्रतिपाद्य विषय ज्ञानयोग है या भक्तियोग अथवा कर्मयोग? एवं वे ऐसी खींचातानी करके प्रतिपादन ही करते हैं या उनकी ऐसी ही मान्यता है?

उत्तर—उनकी अपनी-अपनी खींचातानी बतलाना तो उनकी नीयतपर दोष लगाना है सो ऐसा कहना उचित नहीं। उनको

गीताका जो अर्थ प्रतीत हुआ, वैसा ही उन्होंने लिखा है। यह गीताके लिये गौरव है कि सभी मत-मतान्तरवाले उसे अपनाते हैं। गीता ऐसा ही रहस्यमय ग्रन्थ है जो कि सभीको अपने ही भाव उसमें ओतप्रोत दीखते हैं; क्योंकि वास्तवमें गीतामें ज्ञानयोग (अद्वैतवाद), भक्तियोग (द्वैतवाद) और कर्मयोग (निष्काम कर्म)—सभीका साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन किया गया है।

प्रश्न—सभी भगवत्प्राप्त पुरुषोंकी प्रापणीय वस्तु, गीतावक्ता तथा गीताग्रन्थके एक होनेपर भी भगवत्प्राप्त आचार्योंको गीताके अर्थकी प्रतीति भिन्न-भिन्न होनेमें क्या कारण है ?

उत्तर—सबकी प्रापणीय वस्तु एक होनेपर भी सबके पूर्वके संस्कार, सङ्ग, साधन, स्वभाव और बुद्धि भिन्न-भिन्न होनेके कारण उनके कहने-समझानेकी शैली और पद्धति भिन्न-भिन्न हुआ करती है। तथा भगवान्को जिस समय जिस पुरुषके द्वारा जैसे भावोंका प्रचार कराना होता है, वही भाव उस आचार्यके हृदयमें उस समय प्रकट हो जाते हैं और उन्हें गीताका अर्थ और भाव वैसे ही प्रतीत होने लग जाता है।

प्रश्न—जब सबका कहना भिन्न-भिन्न है तो सभीका कथन यथार्थ कैसे हो सकता है ?

उत्तर—एक दृष्टिसे सभीका कथन यथार्थ है और दूसरी दृष्टिसे किसीका कहना भी यथार्थ नहीं। भगवत्प्राप्तिरूप अन्तिम परिणाम सबका एक होनेपर भी सबका कथन अलग-अलग हो सकता है। जैसे द्वितीयाके चन्द्रमाका दर्शन करनेवाले व्यक्तियोंमेंसे कोई एक तो

ऐसा बतलाते हैं कि चन्द्रमा उस वृक्षकी टहनीसे ठीक एक बित्ता ऊपर है। दूसरा व्यक्ति कहता है कि चन्द्रमा इस मकानके कोनेसे सटा हुआ है। तीसरा आदमी खड़ियामिट्टीसे लकीर खींचकर बतलाता है कि ऐसी ही आकृतिका चन्द्रमा है और उस उड़ते हुए पक्षीके दोनों पंजोंके ठीक बीचमें दीख रहा है और चौथा व्यक्ति सिरकीके आकारका बतलाता हुआ इस प्रकार संकेत करता है कि चन्द्रमा मेरी अंगुलीके ठीक सामने दीख रहा है। जैसे इन सभी व्यक्तियोंका लक्ष्य चन्द्रमाका दर्शन करानेका है और वे अपनी शुभ नीयतसे ही अपनी-अपनी प्रक्रिया बतलाते हैं; पर एक दूसरेके कथनमें परस्पर आकाश-पातालका अन्तर है। इसी प्रकार सभी आचार्योंका उद्देश्य एक है, सभी साधकोंको भगवत्प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे कहते हैं; परन्तु उनके कथनमें परस्पर अत्यन्त भेद है। हाँ, अन्तिम परिणाम सबका एक होनेसे सभीका कहना ठीक है अर्थात् किसी भी आचार्यके कथनानुसार चलनेसे वास्तविक परमात्म-प्राप्ति हो जाती है, इस न्यायसे सभीका कहना यथार्थ है। किन्तु शब्दोंका अर्थ लगाकर तर्क करें तो किसीका भी कहना ठीक नहीं ठहरता, क्योंकि वास्तवमें चन्द्रमा न तो वृक्षसे एक बित्ता ऊँचा है, न मकानसे ही सटा हुआ है, न पक्षीके पंजोंके बीचमें ही है और न अंगुलीके ठीक सामने ही है। तथा न चन्द्रमाकी आकृति ही उन लोगोंके कहनेके अनुसार ही है। शब्दोंपर तर्क करनेसे तो कोई-सी भी बात कायम रह नहीं सकती।

प्रश्न—भगवद्वाक्यरूप गीताके मूलपर श्रद्धा रखनेवाला व्यक्ति गीताका यथार्थ अर्थ जानना चाहता है; किन्तु वह अनेकों टीकाओंको

पढ़नेसे संशय-भ्रममें पड़ जाता है, तो उसे यथार्थतः गीताका ज्ञान हो, इसके लिये वह क्या उपाय करे ?

उत्तर—जो भगवद्वाक्योंको इत्थम्भूत मानकर उनके अनुसार अपना जीवन बनानेके उद्देश्यसे भगवान्‌के ऊपर निर्भर होकर अपनी बुद्धिके अनुसार विशुद्ध नीयतसे मूल शब्दोंके अर्थका खयाल रखता हुआ उनमें प्रवेश होकर उनका स्वाध्याय और अनुशीलन करता रहता है तो भगवत्कृपासे उसके संशय-भ्रम आदि सबका नाश होकर गीताका इत्थम्भूत यथार्थ ज्ञान उसे स्वयमेव हो जाता है।

प्रश्न—जो भगवत्प्राप्त पुरुष नहीं हैं, ऐसे पुरुषोंके द्वारा भी गीतापर बहुत-सी टीकाएँ देखनेमें आती हैं, उन टीकाओंका अनुशीलन करके तदनुसार साधन करनेसे भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है क्या ?

उत्तर—जो गीताको इष्ट मानकर भगवद्वाक्योंको यथार्थ समझता हुआ अपना जीवन गीतामय बनानेके लिये गीतापर निर्भर होकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक अर्थसहित मूलका अथवा केवल टीकाओंका अनुशीलन करता रहता है, उसको गीता स्वयं उन टीकाओंके द्वारा हुई भ्रमित धारणाका निवारण करके यथार्थ बोध करा देती है।

प्रश्न—भगवत्प्राप्त महापुरुषकी ही यह टीका है अथवा किसी साधारण पुरुषकी की हुई है, इसका निर्णय कैसे हो ?

उत्तर—जिस टीकाके अध्ययनसे परमात्माकी स्मृति हो, हृदयमें परमात्मा और गीतापर श्रद्धा-प्रेम बढ़े, सद्गुण-सद्भावोंकी जागृति हो और उस टीकाकी ओर आकर्षण हो, उसी टीकाको भगवत्प्राप्त महापुरुषके द्वारा की हुई मानना चाहिये।

प्रश्न—सभी मत-मतान्तरवाले, सभी सम्प्रदायके लोग गीताको अपनाते हैं और उनको अपने ही भाव उसमें दीखते हैं तो भगवान्‌ने भविष्यमें होनेवाले उन सब भावोंको ध्यानमें रखकर ही उस समय गीता कही थी क्या ?

उत्तर—भगवान् भूत, भविष्य और वर्तमानमें होनेवाले सर्व भूतोंके सभी भावोंको तो जानते ही हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(७।२६)

'हे अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ; परन्तु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता।'

इसलिये भगवान्‌ने उन सब भावोंका ध्यान रखकर ही यदि गीता कही हो तो भी कोई असम्भव बात नहीं है। तथा गीताका सिद्धान्त ही ऐसा अलौकिक और यथार्थ है कि अच्छी नीयतसे त्यागपूर्वक प्रचार करनेवाले आचार्योंके हृदयमें स्वाभाविक गीताके ही यथार्थ भाव उत्पन्न हुआ करते हैं। इसलिये श्रद्धा और प्रेमसे देखनेपर उनको अपने-अपने भावोंके अनुसार ही गीता प्रतीत होने लगती है।

प्रश्न—गीतामें ऐसी क्या विलक्षण वस्तु है जिससे सनातनधर्मके अतिरिक्त दूसरे मतको माननेवाले भी गीताकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं ?

उत्तर—गीतामें किसी व्यक्तिकी या किसी मतकी निन्दा नहीं

की गयी । जो बात कही गयी वह युक्तियुक्त और न्यायसंगत कही गयी है । अच्छे-बुरे आदमीका निर्णय भाव और आचरणोंसे किया गया है, किसी जाति या बाहरी चिह्नविशेषसे नहीं । मनुष्यमात्रका आत्मकल्याणमें अधिकार बतलाया गया है, सर्वप्रिय समताको ही विशेषता दी गयी एवं समताको ही साधक और सिद्धकी कसौटी माना गया है । अथ च गीताके सुनने-समझनेसे भी शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है; फिर उसके अनुसार अनुष्ठान करनेवालेकी तो बात ही क्या है । गीताकी भाषा, भाव, अर्थ, ज्ञान, उसकी पद्यरचना और उसका गायन बहुत ही सुमधुर, सुन्दर, सुगम और सुरुचिकर है । इसलिये सभी वर्गके लोग उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं ।

प्रश्न—गीताका पाठ करना उत्तम है या उसे गाना एवं अर्थ समझना उत्तम है या उसका भाव समझना ?

उत्तर—पाठ करनेकी अपेक्षा प्रेमपूर्वक मधुर स्वरसे गायन करना उत्तम है । गायनके साथ-साथ अर्थका ज्ञान रहे तो वह और भी उत्तम है । गीताके भावोंको हृदयमें धारण करना उससे भी उत्तम है एवं उन भावोंके अनुसार अपना जीवन बनाना सर्वोत्तम है ।

प्रश्न—गीतामें प्रथम कर्म, फिर उपासना और तदनन्तर ज्ञानके साधनसे मुक्ति होती है —इस प्रकार साधनकी प्रणाली है अथवा कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—ये तीनों स्वतन्त्र मुक्तिदायक हैं ?

उत्तर—प्रथम कर्म, फिर उपासना और उसके बाद ज्ञानके साधनसे मुक्ति होती है—यह क्रम भी है और इसके अतिरिक्त परस्पर स्वतन्त्र केवल कर्मयोगसे, केवल भक्तियोगसे अथवा केवल ज्ञानयोगसे भी मुक्ति बतलायी गयी है । जैसे—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥
(गीता १३ । २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं ।' यदि कहें कि बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती—(ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः) तो ठीक ही है; किन्तु निष्कामकर्मसे अन्तःकरण शुद्ध होकर साधकको अपने-आप तत्त्वज्ञान हो जाता है ।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
(गीता ४ । ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है । उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है ।' इसी प्रकार भेदोपासनासे भी भगवत्कृपाद्वारा तत्त्वज्ञान हो जाता है ।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
(गीता १० । ९-११)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। और हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इसी प्रकार ज्ञानयोगके साधनसे भी तत्त्वज्ञान हो जाता है तथा ज्ञान होनेपर मुक्ति अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो ही जाती है।

प्रश्न—कर्मयोगके साथ भक्तियोग और ज्ञानयोग, भक्तियोगके साथ कर्मयोग और ज्ञानयोग तथा ज्ञानयोगके साथ कर्मयोग और भक्तियोग एक साथ रह सकते हैं या नहीं?

उत्तर—कर्मयोगके साथ भक्तियोग और परमात्माके स्वरूपका ज्ञान रह सकता है; किन्तु अभेदोपासनारूप ज्ञानयोग उसके साथ एक कालमें नहीं रह सकता; क्योंकि कर्मयोगमें भेद-बुद्धि और संसारकी सत्ता रहती है तथा ज्ञानयोगमें इससे विपरीत अभेदबुद्धि और संसारका अभाव रहता है। इसलिये कर्मयोग और ज्ञानयोग परस्परविरुद्ध भावयुक्त साधन होनेसे एक कालमें एक साथ नहीं रह सकते।

भक्तियोग (भेदोपासना) के साथ कर्मयोग और परमात्माके स्वरूपका ज्ञान रह सकता है; किंतु अभेदोपासनारूप ज्ञानयोग नहीं रह सकता; क्योंकि एक ही पुरुषके द्वारा एक कालमें परस्पर-विरुद्ध भाव होनेसे भेदोपासना और अभेदोपासना एक साथ नहीं की जा सकती ।

ज्ञानयोगके साथ शास्त्रविहित कर्म रह सकते हैं ; परन्तु कर्मयोग और भक्तियोग नहीं रह सकते । क्योंकि ज्ञानयोगमें अद्वैतभाव है तथा कर्मयोग और भक्तियोगमें द्वैतभाव है—अतः एक पुरुषमें एक कालमें दो प्रकारके भावोंका अस्तित्व सम्भव नहीं । अर्थात् अभेद-ज्ञानके साथ भक्तियोग और कर्मयोग एक साथ नहीं हो सकते; परन्तु भक्तियोग और कर्मयोग—दोनोंमें द्वैतभाव और संसारकी सत्ता समान होनेके कारण ये दोनों एक साथ रह सकते हैं ।

प्रश्न—भगवत्प्राप्त आचार्योंमेंसे किन-किन आचार्योंका सिद्धान्त निर्दोष है ?

उत्तर—भगवत्प्राप्त सभी आचार्योंकी जो मान्यता है, उसीको उनके अनुयायी सिद्धान्त कहते हैं; किन्तु वास्तवमें सिद्धान्त तो जो अन्तिम प्रापणीय वस्तु है, वही है और वह सबका एक है । उनकी मान्यताको सिद्धान्त इसलिये मानते हैं कि उसे सिद्धान्त माननेसे साधनमें तत्परता होती है । इसलिये उनकी मान्यताको सिद्धान्तका रूप देना उचित ही है और भगवत्प्राप्त आचार्योंके द्वारा चलाये हुए सभी मार्ग श्रद्धालुके लिये मुक्तिदायक होनेसे निर्दोष हैं; किन्तु तर्ककी कसौटीपर कसनेसे कोई भी निर्दोष नहीं ठहर सकता ।

प्रश्न—आप द्वैत (भेदोपासना) और अद्वैत (अभेदोपासना) इनमेंसे किसको उत्तम मानते हैं तथा साधकोंके लिये किसको उत्तम बतलाते हैं ?

उत्तर—दोनोंको ही उत्तम मानता हूँ और जो जैसा अधिकारी होता है, उसके लिये उसीको उत्तम बतलाता हूँ।

प्रश्न—कौन किसका अधिकारी है—इसका आप किस प्रकार निर्णय करते हैं ?

उत्तर—जिसकी श्रद्धा और रुचि भेदोपासनामें होती है, वह भेदोपासनाका और जिसकी अभेदोपासनामें होती है, वह अभेदोपासनाका अधिकारी है; किन्तु जबतक श्रद्धा और रुचिका निर्णय नहीं होता, तबतक परमात्माके नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान, सत्पुरुषोंका सङ्ग, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय—इनको मैं सभी साधकोंके लिये उत्तम समझता हूँ।

प्रश्न—आप साधकके लिये किस नामका जप और किस रूपका ध्यान बतलाते हैं ?

उत्तर—वह सदासे ॐ, शिव, राम, कृष्ण, नारायण, हरि आदिमेंसे जिस नामका जप तथा जिस साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण रूपका ध्यान करता आया है अथवा जिस नाम और जिस रूपमें उसकी श्रद्धा-रुचि होती है, उसीको करनेके लिये कहा जाता है या पूछनेके समय उसके भावोंके अनुसार मेरे हृदयमें जैसा भाव उत्पन्न होता है, उसके अनुसार भी बतलाया जाता है।

परमानन्दकी खेती

'भैया, इतनी दूर कैसे आये ?' स्वागत करनेके बाद पंजावमें रहनेवाले मित्रने पूछा । राजपूतानासे पंजाब आनेका कोई कारण विशेष अवश्य होगा, उसने समझ लिया था ।

'मेरे यहाँ अकाल पड़ा हुआ है । लोग दाने-दानेके लिये तरस रहे हैं और कितने ही क्षुधासे तड़प-तड़पकर प्राण छोड़ रहे हैं । व्याकुल होकर मैं परिवारसहित आपके पास आ गया ।' राजपूताना-के वैश्यने अपने मित्रसे सच्ची बात बता दी । अपने मित्रके पास अन्नका ढेर देखकर वह मन ही-मन प्रसन्न भी हो रहा था ।

'आप यहाँ आ गये, बड़ा अच्छा किया । आपहीका घर है, आनन्दपूर्वक रहिये ।' वैश्यके मित्रने बड़े प्रेमसे उत्तरमें कहा ।

'आपके यहाँ तो अन्नराशिके ढेर-के-ढेर लगे हैं, पर हमारे देशमें तो अन्न किसी भाग्यशालीको ही मिलता है; वहाँ तो एक-एक दानेके लिये चील्ह-कौओंकी तरह छीना-झपटी हो रही है । आपके यहाँ सहस्रों मन एकत्र गल्लेको देखकर मेरे जी-में-जी आ गया ।' वैश्यने स्थिति स्पष्ट की ।

यहाँ तो भगवत्कृपासे अन्नका अभाव नहीं है । इसमें आश्चर्यकी कोई बात भी नहीं है । यहाँ तो कोई भी आवे, उसके लिये अन्नकी कमी नहीं है । आप तो हमारे मित्र हैं, यहाँ तो सब कुछ आपही-

का है । यहाँ आकर आपने बड़ा अच्छा किया ।' मित्र बोला । वह चतुर और अनुभवी किसान था ।

'आपकी सभी वस्तुएँ हमारी हैं, इसमें तो सन्देह नहीं है, पर मैं जानना चाहता हूँ कि इतनी अन्नराशि आपके पास आयी कहाँसे ?' वैश्यने चकित होकर पूछा ।

'हमारे यहाँ बराबर खेती होती रहती है । उसीका यह प्रताप है ।' किसान मित्रने वैश्य-बन्धुका समाधान करना चाहा । 'आप भी खेती करने लगें तो आपके पास भी अन्नके ढेर लग जायँगे ।'

'बड़ी सुन्दर बात है, कृषिके कार्यमें मैं भी जुट जाऊँगा, पर इसका अनुभव मुझे नहीं है । मेरे पास एक सहस्र रुपये हैं । इतने-से खेती आरम्भ हो सकती है क्या ?' वैश्यने पूछा ।

'एक हजारकी पूँजी कम नहीं है । इतने रुपयेसे खेतीका काम आप बड़ी सुन्दरतासे आरम्भ कर सकते हैं । मेरा पूरा सहयोग रहेगा ही ।' किसानने सहानुभूतिपूर्ण शब्दोंमें अपने वैश्य मित्रसे कहा ।

'मुझे तो इसका कोई ज्ञान नहीं है । आप जैसा उचित समझें, करें ।' अपनी समस्त पूँजी किसानके हाथमें समर्पित करते हुए वैश्यने जवाब दिया ।

× × × ×

'देखिये, ये सब गेहूँ तो मिट्टीमें मिल गये । गेहूँका एक-एक दाना फूटकर नष्ट हो गया'—अत्यन्त निराश होकर वैश्यने कहा । उसने अपने पंजाबी किसान मित्रके किसी काममें बाधा नहीं दी थी । किसानने मित्रकी पूँजीसे बीजादिका प्रबन्ध करवाकर हल

चलवा दिया था। बीज बो दिये गये थे। पर, अनुभवहीन वैश्य यह सब देखकर चिन्तित हो रहा था। दो-तीन दिन भी नहीं बीतने पाये कि वह खेतमें जाकर खोदकर गेहूँके दाने देखने लगा। उसे बहुत-से बीज अङ्कुरित दीखे, इसपर उसने समझा कि मेरे सारे रुपये मिट्टीमें मिल गये। अत्यन्त दुखी होकर उसने अपने मित्रसे उपर्युक्त बात कही।

'आपके खेतमें अङ्कुर निकलने शुरू हो गये हैं। आप कोई चिन्ता न करें। बीजके लक्षण अच्छे हैं। आपको पता नहीं है।' किसान मित्रने वैश्यको आश्वासन दिया।

'मुझे तो धन और श्रमका व्यय करनेपर भी कोई लाभ होता नहीं दीखता। मैं तो बहुत चिन्तित हो गया हूँ।' वैश्यने मनकी व्यथा-कथा स्पष्टतः व्यक्त कर दी।

'प्रारम्भमें ऐसा ही होता है। आप निश्चिन्त रहें। आपकी खेती बड़ी सुन्दर हो रही है।' किसान मित्रने बड़े प्रेमसे उत्तर दिया।

वैश्य चुप था। इसके अतिरिक्त उसका वश ही क्या था!

× × × ×

'मेरे खेतमें तो सर्वत्र घास-ही-घास दीख रही है। मुझे तो बड़ी हानि हुई। मेरा सारा रुपया व्यर्थ गया।' वैश्यने थोड़े ही दिनोंमें फिर किसानसे कहा। एक-एक बित्तेके गेहूँके पौधोंको उसने घास समझ लिया था।

घबराया हुआ किसान स्वयं खेतपर गया, पर वहाँ खेती देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई।

'अरे ! आपका खेत तो आसपासके सभी खेतोंसे बढ़कर है' किसानने हतोत्साह मित्रका भ्रम निवारण किया, 'आप समझ लें कि अब गेहूँका विशाल ढेर आपके पास एकत्र होनेहीवाला है। पर इस बातका ध्यान अवश्य रक्खें कि ये पौधे सूखने न पावें। इन सुकुमार पौधोंका जीवन पानी है। इसकी व्यवस्था आप शीघ्र कर लें। इनकी सिंचाईके लिये आप शीघ्र ही एक कुँआ खुदा लें। साथ ही खेतको चारों ओर काँटोंकी बाड़ लगाकर रूँध दें, नहीं तो पशु आकर इसे चर जायँगे। खेतकी रखवाली आपको सावधानीसे करनी होगी।'

'आपकी प्रत्येक आज्ञाका मैं शब्दशः पालन करूँगा।' वैश्यने कहा और वैसा ही किया। कुँआ खुदवाकर खूब सिंचाई की। भगवत्कृपासे बीच-बीचमें बादल-दलने भी जल-वर्षण किया। पौधे बढ़ने लगे।

× × × ×

'पौधोंके बीच-बीचमें जो घासें उग आयी हैं, उन एक-एक घासोंका निरान कर डालिये। ये गेहूँकी वृद्धिके बाधक हैं'—एक दिन खेतपर आकर किसानने वैश्यको प्रेमभरे शब्दोंमें आदेश दिया।

'एक घास भी खेतमें नहीं रह पायेगी' वैश्यने तुरंत उत्साह-पूर्ण शब्दोंमें उत्तर दिया।

× × × ×

'गेहूँके दाने तो हो गये, पर ये तो सब-के-सब कच्चे ही हुए हैं'—माथेका पसीना पोंछते हुए वैश्यने किसान बन्धुसे कहा। वह खेतसे दौड़ता आया था और जोरोंसे हाँफ रहा था। उसने

अपने किसान मित्रके आदेशानुसार अपने खेतमें घासका कोई चिह्न भी अवशिष्ट नहीं रहने दिया था। उसका परिश्रम अतुलनीय था। गेहूँमें फल भी लगे थे, पर इतने दिनोंके बाद उसने देखा तो सब-के-सब फल कच्चे ही थे। खेतीके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण वह गरीब घबरा गया था। उसने समझा रुपयेके साथ-साथ मेरी एँड़ी-चोटीका पसीना भी व्यर्थ सिद्ध हो रहा है। उसने दो-तीन फलियाँ भी किसानके सामने रख दीं, जिन्हें वह साथ ही लेता आया था।

'आपके गेहूँके दाने तो बड़े पुष्ट हैं। ये अब जल्दी ही पक जायँगे। अब इसमें विलम्ब नहीं होगा। आप घबरायें नहीं। किसी प्रकारका विचार भी न करें। आपके घरमें गेहूँ और भूसेके पहाड़ लग जायँगे।' प्रसन्नताभरे शब्दोंमें किसानने वैश्यसे कहा। 'पर ऐसे समय पक्षी आ-आकर काकली—मीठी-मीठी बोली सुनाते हैं और सब दाने खा जाया करते हैं, अतः खेतीकी खूब रक्षा करनी होगी। पक्षियोंसे रक्षा किये बिना पक्षी सारे खेतका नाश कर डालेंगे।'

× × × ×

'मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मेरे आनन्दकी सीमा नहीं है। मेरे पास गेहूँका विशाल ढेर लग गया है'—वैश्यने आनन्दभरे शब्दोंमें किसान मित्रके प्रति आभार प्रदर्शित किया।

'यह सब भगवान्‌की कृपा और आपके श्रमका फल है। आप पक्षियोंके कलरवपर ध्यान न देकर उन्हें उड़ानेमें ही लगे रहते थे। आपने बड़ी तत्परतासे कृषि की थी।' किसानने वैश्य-बन्धुको ही यश दिया।

वैश्य नतमस्तक हो गया । उसकी आकृतिपर आनन्द हँस रहा था ।

× × × ×

यह कहानी एक दृष्टान्तरूपसे कही गयी है । इसे परमार्थ-विषयमें इस प्रकार घटाना चाहिये कि सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले जिज्ञासुको यहाँ अकालपीड़ित वैश्य समझना चाहिये । साधककी सांसारिक कष्टोंकी ज्वालासे उत्पन्न सच्चे सुखकी अभिलाषाको अकालपीड़ित वैश्यके भूखकी ज्वालाके कारण अन्नकी आवश्यकता समझनी चाहिये । महात्माको पंजाबमें रहनेवाला वैश्यका किसान मित्र समझना चाहिये । वैश्यका जो राजपूतानासे अपने मित्रके पास पंजाब जाना है, यही साधकका अपने घरसे महात्माके आश्रममें महात्माके पास जाना है । मित्रके पास जाकर वैश्यका जो अपने कष्टकी बात कहना है, यही जिज्ञासु साधकका महात्माको अपना दुःख निवेदन करना है । वैश्य भाईका जो अपनी सम्पूर्ण पूँजी मित्रको सौंप देना है, यही साधकका अपने मानव-जीवनका अवशेष समय महात्माके चरणोंमें समर्पित करना है । मित्रके कहे अनुसार जो धनका खर्च करना है, यही महात्माके आज्ञानुसार समयका सदुपयोग करना है । किसान मित्रका जो जमीन और बीजका प्रबन्ध करवा देना है, इसको महात्माका समय-को सदुपयोगमें लानेकी शिक्षा देना समझना चाहिये । खेतीके लिये जो अपने सुखका त्याग करना है, इसको परम आनन्दकी प्राप्तिके लिये वर्तमान सांसारिक सुखका त्याग करना समझना चाहिये । बीज-का जो खेतमें बो देना है, इसको महात्माके द्वारा प्राप्त साधनके

बीजमन्त्रका हृदयमें धारण करना समझना चाहिये । खेती करनेसे खेतमें बीजोंका अङ्कुर फूटनेपर बेसमझीके कारण दुःख और निराशा-का अनुभव होनेको साधनकालमें होनेवाली निराशा और तज्जनित क्लेश समझना चाहिये । वैश्यका भ्रमसे गेहूँके छोटे पौधोंको जो घास समझना है; यही साधनकालमें साधनकी उन्नति होनेपर भी साधनमें परिश्रम अधिक होनेके कारण उसे भ्रमसे साधन न समझ-कर व्यर्थ समझना है । मन और इन्द्रियोंके संयमको बाड़ समझनी चाहिये । अध्यात्मविषयको सांसारिक स्वार्थी मनुष्योंके सम्पर्कमें खर्च नहीं करना ही पशुओंसे खेतको बचाना है । भगवान्‌के गुण-प्रभाव-सहित रूपकी स्मृति और सत्सङ्ग-स्वाध्यायको खेतको कुँआ खोदकर सींचते रहना चाहिये । अपने-आप सत्सङ्ग प्राप्त होने और ध्यानका अभ्यास चलनेको ईश्वर-कृपासे समयपर स्वतः वर्षा हो जाना समझना चाहिये । दुर्गुणों और दुराचारोंको अपने हृदयसे हटाते रहना यहाँ गेहूँके अतिरिक्त अन्य घास-फूसका निरान करना है । परमात्माके ध्यानकी जमावटको यहाँ गेहूँका फलना तथा स्वार्थी मनुष्योंके द्वारा की जानेवाली साधककी स्तुति-कीर्तिको यहाँ गेहूँको खानेके लिये आनेवाले पक्षियोंकी काकली समझना चाहिये । साधन परिपक्व होनेके लिये स्तुति-कीर्तिकी तथा स्तुति कीर्ति करनेवालोंकी अवहेलना करनेको यहाँ खेतीकी रक्षाके लिये पक्षियोंको हटा देना समझना चाहिये एवं सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जानेको गेहूँके पक जानेपर उसका ढेर लग जाना समझना चाहिये ।

वैराग्य और उपरामता

वैराग्यकी बात वैराग्यवान् पुरुष ही कह सकता है और उसीका कहना सार्थक भी है; क्योंकि वैराग्यवान् पुरुषोंके साथ वैराग्य मूर्तिमान् होकर चलता है । वे जिस मार्गसे जाते हैं, उस मार्गमें वैराग्यकी बाढ़ आ जाती है । वैराग्यवान् पुरुषोंके नेत्रोंसे वैराग्यकी लहरें निकल-निकलकर चारों ओर फैलती रहती हैं । सभी भाव अपने सजातीय भावोंको जाग्रत् करते हैं—यह नियम है । अतः वैराग्यकी ये लहरें जिन-जिन मनुष्योंके हृदयमें प्रवेश करती हैं, उन-उन मनुष्योंके अन्तःकरणमें स्थित वैराग्यके भावोंको जाग्रत् करती हैं, उन्हें तीव्र करती हैं ।

वैराग्यके साथ उपरामता एवं ध्यानका अविच्छिन्न सम्बन्ध है । आगे-आगे वैराग्य रहता है, उसके पीछे उपरामता तथा इन दोनोंके पीछे परमात्माका ध्यान । इस प्रकार वैराग्य, उपरामता और ध्यानका पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही है जैसा राम, सीता एवं लक्ष्मणका पथिक रूपमें मिलता है । रामके साथ सीताजी रहती हैं, सीताजीके साथ राम । रामके विना लक्ष्मणको चैन नहीं और लक्ष्मणके विना रामको । राम और लक्ष्मण सीताजीको अपने बीचमें रखते हैं । ठीक इसी प्रकार जहाँ वैराग्य और ध्यान है, वहाँ उपरामता उनके बीचमें अवश्य विद्यमान रहती है । अर्थात् वैराग्यसे उपरामता और उपरामता-से परमात्माका ध्यान स्वतःसिद्ध है ।

वैराग्यवान् पुरुषके दर्शनमात्रसे वैराग्य उत्पन्न हो सकता है । फिर उसके इशारेसे, व्याख्यानसे वैराग्य उत्पन्न हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है । सच्चे वैराग्यवान् पुरुषके प्रवचनसे वैश्यातकको

भी वैराग्य हो जाता है। दत्तात्रेयजीके दर्शनसे वेश्याको वैराग्य हो गया था। यवनभक्त हरिदासजीकी क्रियाओंसे उनके विरोधियोंद्वारा भेजी हुई अत्यन्त पटु वेश्या भी अपनी वेश्या-वृत्तिको छोड़ संसारसे विरक्त होकर हरिनामपरायण हो गयी। जिसको फँसाने गयी थी उसके सर्वबन्धनसे मुक्त करनेवाले जालमें स्वयं फँस गयी। सच्चे वैरागियोंका यही तो लक्षण है—कामी-से-कामी पुरुषमें भी वैराग्यकी ज्वाला उत्पन्न कर देना।

श्रीपातञ्जलयोगदर्शनमें आया है—'वीतरागविषयं वा चित्तम्' (१ । ३७) 'वीतराग पुरुषोंको विषय करनेवाला (स्मरण करनेवाला) चित्त समाधिस्थ हो जाता है।' अर्थात् जो वीतराग पुरुष हैं, उनका ध्यान करनेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है। अतः चित्तवृत्तियोंके निरोधके लिये—श्रीशुकदेवजी-जैसे वीतराग पुरुषोंका ध्यान करना चाहिये। श्रीशुकदेवजीकी उपरामता, उनके वैराग्य आदिके विषयमें क्या कहा जाय? एक बार वे किसी सरोवरके पाससे होकर निकले। सरोवरमें बहुत-सी स्त्रियाँ विवस्त्र होकर स्नान कर रही थीं। कुछ ही क्षण बाद उसी मार्गसे श्रीवेदव्यासजी निकले। उन्हें देखते ही सब स्त्रियाँ सकुचा गयीं और जलसे बाहर निकलकर जल्दी-जल्दी अपने कपड़े पहन अतिविनीत भावसे प्रार्थना करने लगीं। वेदव्यासजी आश्चर्यमें डूब गये कि मेरा युवक पुत्र शुकदेव अभी-अभी यहाँसे निकला है। उसको देखकर तो इन स्त्रियोंने कुछ भी लज्जा न की; किन्तु मुझ वृद्धको देखकर इन्होंने झट लज्जासे कपड़े पहन लिये। इसका क्या रहस्य है? उन्होंने उन स्त्रियोंसे ही इसका कारण पूछा। स्त्रियोंने उत्तर दिया—'स्वामिन्! शुकदेवजीके मनमें यह स्त्री

है, यह पुरुष है, यह वृक्ष है, यह पशु है, यह पक्षी है—ऐसा भेद-भाव नहीं है। उनको कुछ पता ही नहीं कि ये स्त्रियाँ हैं या वृक्ष। परन्तु आपके मनमें अभीतक यह भेद विद्यमान है। इसीसे हमलोगों-ने सकुचाकर कपड़े पहन लिये। इससे शुकदेवजीकी उपरामताका पता लगता है।

श्रीमद्भागवतमें जडभरतजीका वर्णन आता है। उनपर भी वैराग्यका नशा चढ़ा था और वह भी इतना अधिक कि ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्होंने शराब पी ली हो। शराबका नशा तामसी होता है, अन्नका राजसी और वैराग्यका सात्त्विक। जडभरतजी वैराग्य एवं उपरामताके नशेमें चूर रहते थे। उनकी इस मस्तीको संसारके लोग भला क्या समझें? जिसको जिस वस्तुका कुछ ज्ञान नहीं, कुछ अनुभव नहीं, उसका महत्त्व वह कैसे आँक सकता है? अतः घरवालों और बाहरवालोंने उन्हें मूर्ख समझ लिया था। एक बार भद्रकालीकी बलिके लिये कुछ डाकू उन्हें पकड़कर ले गये। जिस समय डाकुओंने जडभरतजीको मारनेके लिये तलवार निकाली, उसी क्षण देवी प्रकट हो गयीं और मारनेवालोंका संहार करने लगीं। जडभरतजीसे देवीने वरदान माँगनेके लिये कहा। देवीका आग्रह देख उन्होंने यही वरदान माँगा कि इन सबको जिला दो। कितना त्याग है! अपने प्राण लेनेका प्रयत्न करनेवालोंके प्रति भी कितनी दया है!

एक बार जडभरतजी राजा रहूगणजीकी पालकीमें जोड़ दिये गये। कोई जीव पैरोंतले न दब जाय—इस डरसे वे देख-देखकर पैर रखते थे। अतएव दूसरे कहारोंसे उनकी चालका मेल न होनेसे पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी। राजाको यह बात बहुत बुरी लगी।

उन्होंने क्रोधसे लाल होकर जडभरतजीको बहुत बुरा-भला कहा, मारनेकी बात कही। ऊपर-नीचेकी बात कही। जडभरतजीने उत्तर दिया—'राजन्! कौन ऊपर है, कौन नीचे। मुझपर पालकी है, पालकीपर आप, आपपर छत एवं छतपर आकाश। मारेंगे किसको? आत्मा अमर है, शरीर नाशवान्।' राजा इन रहस्यमय शब्दोंको सुन पालकीसे कूद पड़े। उनको मालूम हुआ ये तो महात्मा हैं। झट उनके चरणोंमें गिर पड़े। दयालु जडभरतजीने उपदेश दिया, जिससे राजाको वैराग्य होकर परमात्माकी प्राप्ति हो गयी। ध्यान लगनेके लिये सौ युक्तियोंकी एक युक्ति वैराग्य है। ध्यान करनेवाले योगी महात्मा तो वैराग्यका आश्रय लेते हैं। और युक्तियाँ फिर अपने आप पैदा होती रहती हैं।

संसारके पदार्थोंमें आसक्ति न होनेका नाम वैराग्य है। संसारके भोगोंमें आसक्ति—प्रीति नहीं, ब्रह्मलोकतकके भोग काक-विष्ठाके समान अत्यन्त हेय प्रतीत हों, यह वैराग्य है। इन पदार्थोंकी ओर वृत्तियाँ जायँ ही नहीं, यह उपरामता है। वैराग्ययुक्त उपरामता ही श्रेष्ठ है। बिना वैराग्यकी उपरामता तो कच्ची है, मनको धोखा देनेवाली है। ऋषभदेवजीमें बड़ी उच्च कोटिकी उपरामता थी, गौतम बुद्धजीसे भी बढ़कर। उनके समान उपरामताका और कोई उदाहरण नहीं मिलता। संसारमें विचरते हुए भी उनको संसारका ज्ञान नहीं था। वनमें आग लगी है, उनको पता नहीं। शरीरमें आग लगी और वह शान्त भी हो गया। पर उनको आगका पता ही नहीं चला। यह उपरामताकी सीमा है। वे ऐसी मस्तीमें स्थित हैं कि कुछ पता ही नहीं। देहाध्यास ही नहीं। किसी भी संन्यासीमें, किसी भी गृहस्थमें ऐसी उपरामता हो तो वह बड़ी प्रशंसनीय है।

उपरामताके दो भेद हैं—भीतरी और बाहरी। दोनों ही श्रेष्ठ हैं, किन्तु आत्माके वास्तविक कल्याणके लिये भीतरीका ही अधिक महत्त्व है। राजा जनकमें बाहरी उपरामता नहीं थी। वास्तवमें तो उनके लिये जगत्‌का अभाव ही था। शुकदेवजीमें दोनों उपरामताएँ थीं—भीतरी भी और बाहरी भी। राजा जनकने उनको इस बातका बोध कराया। उन्होंने शुकदेवजीको बतलाया कि 'महाराज! आपमें भीतरकी एवं बाहरकी दोनों उपरामताएँ हैं। आप मुझसे श्रेष्ठ हैं। आपको कुछ सीखना नहीं है, जाकर ध्यान लगाइये।'

शुकदेवजीने जाकर ध्यान लगाया। उनकी समाधि लग गयी और उन्हें परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो गयी।

समुद्रमें चारों ओरसे नदियोंका जल गिरता है, परन्तु वह गम्भीर है, परिपूर्ण है, अचलप्रतिष्ठ है, वह निरन्तर नदियोंके गिरते रहनेसे तनिक भी चलायमान नहीं होता, अपनी मर्यादाको नहीं छोड़ता। इसी प्रकार ज्ञानी, महात्मा, विरक्त, निष्काम पुरुष सदैव अपनी महिमामें परिपूर्ण हैं। संसारके नाना प्रकारके कोई भी भोग उनके मनको विचलित नहीं कर सकते (गीता २। ७०)। संसारके भोग आकर उनको प्राप्त होते हैं और वे उनका यथायोग्य व्यवहार भी करते हैं, पर उनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। उलटे उन्हें तो शान्ति प्राप्त होती है।

ज्ञानी महात्माकी दृष्टिमें संसारका आत्यन्तिक अभाव है और संसारी पुरुषोंकी दृष्टिमें परमात्माका। विषयीके मनमें यह शङ्का तो रहती है कि परमात्मा है कि नहीं, परन्तु नास्तिक तो कहता है, है ही नहीं। इसी प्रकार ज्ञानीके लिये संसार है ही नहीं।

गीतामें दूसरे अध्यायके ६८ वेंसे ७१ वें श्लोकतक ब्राह्मी स्थितिका वर्णन किया गया है। जिसको यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वह फिर मोहको प्राप्त नहीं होता। यदि अन्तकालमें भी यह निष्ठा प्राप्त हो जाय तो निश्चय ही उसे ब्रह्मानन्दकी, निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥
(गीता २। ७२)

गीताके दूसरे अध्यायके ६८ वेंसे ७१ वेंतकके श्लोकोंमें ब्राह्मी स्थितिका वर्णन है। ६८ वें और ६९ वेंमें सिद्ध पुरुषोंकी उपरामताका वर्णन किया गया है और ७०-७१ में उनके वैराग्यका।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥*
(गीता २। ६८—७१)

---

*'इसलिये हे अर्जुन! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे

सिद्ध पुरुषोंकी तो यह स्थिति है और साधकके लिये यही साधन है। रागी और वैराग्यवान्‌में रात-दिनका अन्तर है। एकको अन्धकार कहें तो दूसरा प्रकाश है। वैराग्यवान् पुरुषकी पहचान होनी बड़ी कठिन है। हम अपनी मोहग्रसित बुद्धिके द्वारा वैराग्यवान् पुरुषके बाहरी आचरणोंको देखकर उसका महत्त्व समझना चाहें तो कभी नहीं समझ सकते। कपूरकी गन्धको कुत्ता क्या समझे? कस्तूरीकी पहचान गधा क्या कर सकता है? बस, यही बात वैराग्यवान् पुरुषके विषयमें है। वह स्वयं ही अपनेको जानता है या थोड़ा-बहुत अनुमान कोई दूसरा वैराग्यवान् पुरुष कर सकता है। जो पदार्थ रागी पुरुषको प्रिय होते हैं, उसको सुख पहुँचानेवाले होते हैं, वे ही पदार्थ सच्चे भक्तको (वैराग्यवान् पुरुषको) उलटी (वमन) के समान हेय प्रतीत होते हैं—

सब प्रकार निग्रह की हुई हैं उसीकी बुद्धि स्थिर है। सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है उस नित्य-ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थित-प्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है। जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले, समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं। जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्याग कर ममतारहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है।

रमाबिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥
(रामचरित० अयोध्या०)

वैराग्यवान् साधकको विषय विषके समान लगते हैं। रागीको इत्र-फुलेल, लवेंडर आदि चीजें अत्यन्त प्रिय लगती हैं, पर वैराग्यवान् साधकको ये चीजें ऐसी लगती हैं मानो मल-मूत्र हों। उसके शरीर-से कहीं इनका स्पर्श हो जाता है तो उसको ऐसी घृणा होती है मानो पेशाबका छींटा उसपर गिर गया हो। एकदम उलटी बात है। मखमलका गद्दा रागीको अच्छा माऌम होता है पर वैराग्यवान् साधकको वह दुःखरूप प्रतीत होता है। पर कहीं उसका पैर हेसियन (Hessian) की चट्टीपर पड़ जाता है तो वैराग्यके नशेमें वह अत्यन्त प्रिय लगती है। यहाँ बहुत-से लोग सो गये। रातको ठंड पड़नेकी सम्भावनासे उनके पास ही बहुत-से कम्बल, दुशाले, हेसियनकी चट्टी आदि रख दी गयी। रातको रागीका हाथ दुशालेपर ही पड़ेगा। कम्बल-पर भी पड़ सकता है, पर तभी जब कि दुशालेसे सर्दी दूर न हो। वैराग्यवान् साधकका हाथ स्वाभाविकरूपसे हेसियनकी चट्टीपर ही जायगा। चाहे जान-बूझकर दोनों ऐसा न करें, परन्तु स्वाभाविक रूपसे उनके द्वारा ये ही क्रियाएँ होंगी। दोनोंका अपना-अपना स्वभाव बन गया है और वह जाने-अनजाने स्वतः ही अपनी रुचिके अनुकूल क्रियाओंमें प्रवृत्त हो जाता है।

वैराग्यवान्‌को जो सुख मिलता है, वह रागीके भाग्यमें कहाँ। वैराग्यवान्‌का सुख शुद्ध सात्त्विक है। यदि कहीं फूलोंकी वर्षा होती हो तो वहाँ वैराग्यवान् पुरुष जायगा ही नहीं; क्योंकि वह वस्तु उसे हृदयसे बुरी लगती है। देवतागण उसके लिये विमान लेकर आते

हैं पर वह आँख खोलकर उनकी ओर देखता ही नहीं, वह विमानसे घबराता है। वह तो अपने आत्म-सुखमें मस्त रहता है। उसे कितना सुख मिलता है! दधीचिके पास इन्द्र जाता है। ऋषि ध्यानमें मस्त हैं। आँख खुलनेपर इन्द्र उपदेश करनेके लिये प्रार्थना करता है। ऋषि कहते हैं—'तुम्हारा सुख कुत्तेका-सा है। स्वर्गके अपार वैभवके बीच जो सुख तुम अपनी पत्नी शचीके साथ भोगते हो, वही सुख एक कुत्ता अपनी कुतियाके साथ घूरेपर अनुभव करता है।' वास्तवमें यदि ध्यानपूर्वक सोचें तो बात भी ऐसी ही है। विषय-सुखका क्या महत्त्व है! कुछ भी नहीं।

छोटे बच्चे मखमलके कोट पहनते हैं, जरीकी टोपियाँ ओढ़ते हैं, खिलौनोंको लेकर खूब आमोद-प्रमोद करते हैं। कभी-कभी अपने पितासे भी कह बैठते हैं—'पिताजी! आप भी खेलें।' पिता उनकी बात सुनकर हँसता है; क्योंकि वैसे चमकीले कपड़ोंसे, वैसे खिलौनों-से उसकी स्वाभाविक अरुचि है। उसको वे अच्छे नहीं लगते। ऐसे ही वैराग्यवान् पुरुषको भोगोंकी वस्तुएँ अच्छी नहीं लगतीं। वे इनको देखकर हँसते हैं। वैराग्यमें उन्हें इतना आनन्द मिलता है कि उसके साथ अमृतकी भी क्या बात कही जाय। उनके हृदयमें क्षण-क्षणमें आनन्दकी लहरें उठती रहती हैं। इस स्थितिको कैसे समझा या समझाया जाय। जिसमें वैराग्य हो, वही इसको समझ सकता है। यह स्वयं अनुभव करनेकी वस्तु है, कहने-सुननेसे इसका अनुभव नहीं हो सकता। साँप काटनेपर जैसे दुःखकी पीड़ाकी लहरें आती हैं, समुद्रमें जैसे जलकी लहरें उठती हैं तथा बिजलीके करेंटको छूनेसे जिस प्रकार तमाम शरीरमें एक लहर दौड़ जाती

है, वैसे ही वैराग्यमें आनन्दकी लहरें उठती हैं, क्षण-क्षणमें उठती हैं और बहुत ही मधुर एवं सरसरूपमें उठती हैं। आनन्दकी इन लहरों-को कैसे समझावें, कोई उदाहरण नहीं मिलता। कामी पुरुषका दृष्टान्त दें तो उस बेचारेको शान्ति, आनन्दका क्या पता! लोभीको पारस मिलनेपर आनन्दकी लहरें उठती हैं, पर उसके साथ भय है—'कहीं कोई पारस छीन न ले।' उसे अपने नाशका भय है; पारसके नाशका भय है। उसका उदाहरण भी वैराग्यवान् पुरुषकी स्थितिको ठीक रूपसे समझा नहीं सकता। यह तो गूँगेका गुड़ है। जो जानता है, वह कह नहीं सकता; जो कहता है, वह वास्तविक रूपसे जानता नहीं।

रागीको संसारके विषय-भोगोंके भोगनेमें जितना सुख प्रतीत होता है, उससे बहुत अधिक आनन्द वैराग्यवान् साधकको वैराग्यमें होता है। उसे वैराग्यका ऐसा नशा रहता है कि वह भोगोंकी तरफ दृष्टि ही नहीं डालता। उसे इनमें रस ही नहीं प्रतीत होता। उपरामता होनेपर जो आनन्द मिलता है, वह वैराग्यसे भी बहुत अधिक है। ध्यान होनेपर तो और भी विशेष आनन्द मिलता है (गीता ५।२१)। उस आनन्दको कैसे समझाया जाय! उस आनन्दरूपी अमृतसागरकी एक बूँदके आभासमात्रसे सारा संसार आनन्दित हो रहा है, मुग्ध हो रहा है, परन्तु उस भाग्यवान् पुरुष-को तो वह सागर ही प्राप्त हो जाता है। हमारी अल्पबुद्धि उसका अनुभव करनेमें असमर्थ है। इस आनन्दका अनुभव हमलोगोंको तभी होगा जब भगवत्कृपासे हम उसे प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे।

ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन

श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस प्रकार योगनिष्ठाकी दृष्टिसे स्थान-स्थानपर कर्म और उपासनाका उल्लेख है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे भी उनका वर्णन है। यद्यपि ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे किये गये साधनोंकी कर्मसंज्ञा नहीं है, फिर भी उन्हें क्रिया अथवा चेष्टामात्र तो कह ही सकते हैं। उनको कर्म कहना केवल समझानेके लिये ही है।

ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक फलरूप ज्ञान और दूसरा साधनरूप ज्ञान। यहाँ ज्ञाननिष्ठा कहनेका अभिप्राय योगनिष्ठाके समान ही साधनरूप ज्ञान है। योगनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दोनोंसे ही फलरूप ज्ञानकी प्राप्ति होती है। उसको चाहे परमात्माका यथार्थ ज्ञान कहा जाय अथवा तत्त्वज्ञान; वह सभी साधनोंका फल है और सभी साधकोंको प्राप्त होता है (गीता अध्याय ५, श्लोक ४-५)। फलरूप ज्ञानसे जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसे श्रीमद्भगवद्गीता-में निर्वाण ब्रह्म, परम पद, परमगति, अमृत और माम् आदि नाम-से कहा गया है। यही परमात्माकी प्राप्ति है और यही समस्त साधनोंका अन्तिम फल है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस परम पदकी प्राप्ति-के लिये सांख्य अर्थात् ज्ञानयोगकी दृष्टिसे भी अनेकों साधन बतलाये गये हैं। उनका उल्लेख मुख्यरूपसे चार भागोंमें विभक्त करके किया जाता है। इनके अवान्तर भेद भी बहुत-से हो सकते हैं। वे अपनी-अपनी समझ और साधककी दृष्टिपर निर्भर करते हैं। उनके

सम्बन्धमें भी थोड़ा प्रकाश डाला जाता है। अभेदनिष्ठाकी दृष्टिसे साधनके निम्नलिखित चार मुख्य भेद हैं —

(१) जड, चेतन, चर और अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्म ही है।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह क्षणभङ्गुर, नाशवान् और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें कुछ नहीं है। इन सबका बाध अर्थात् अत्यन्ताभाव होनेपर जो कुछ अबाध और अखण्ड सत्यके रूपमें शेष रह जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है।

(३) जड-चेतनके रूपमें जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब आत्मा ही है, आत्मासे भिन्न और कोई भी वस्तु नहीं है।

(४) शरीर आदि सम्पूर्ण दृश्य नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें हैं ही नहीं—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते जब सबका अभाव हो जाता है, तब जो अविनाशी, नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन सत्य वस्तु शेष रह जाती है, वही आत्मा है। इस आत्माको ही देहके सम्बन्धसे देही, शरीरी आदि नामसे व्यवहारमें कहा जाता है। यह आत्मा ही सबका द्रष्टा और साक्षी है।

जैसे भेदभावसे उपासना करनेवाले भक्तको भेदरूपसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है, क्योंकि उसकी धारणा ही वैसी होती है, ठीक वैसे ही पूर्वोक्त ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको भी उनके अपने निश्चयके अनुसार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति अभेदरूपसे ही होती है। इस सम्बन्धमें यह ध्यान रखनेकी बात है कि दोनों निष्ठाओंका

अन्तिम फल एक ही है। मन और बुद्धिके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। इसीसे उसका शब्दोंके द्वारा वर्णन नहीं होता। वह अनिर्वचनीय है। वह स्थिति भेद-अभेद, व्यक्त-अव्यक्त, ज्ञान-अज्ञान, सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार आदि शब्दोंके वाच्यार्थसे सर्वदा विलक्षण है। मन और बुद्धिसे परे होनेके कारण उसे समझना-समझाना अथवा बतलाना सम्भव नहीं है। जिसे वह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वही उसे जानता है—यह कहना भी नहीं बनता। यह बात केवल दूसरोंको समझानेके लिये कही जाती है। भला शब्दोंके द्वारा भी कहीं उसका वर्णन सम्भव है ?

ज्ञाननिष्ठाको गीताजीमें कहीं सांख्य और कहीं संन्यासके नामसे बतलाया है।

(१) अब ज्ञाननिष्ठाको लक्ष्यमें रखते हुए उपर्युक्त चार साधनोंमेंसे पहले साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं।

(क) जितने भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार शास्त्र-विहित कर्म हैं, उन्हें यज्ञका रूप देकर कर्ता, कर्म, करण, क्रिया आदि समस्त कारकोंमें ब्रह्मबुद्धि करना। गीताजीमें इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें किया गया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
(४ । २४)

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित

रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है।'

यह साधन व्यवहारकालकी दृष्टिसे है। साधक व्यवहारके समस्त उचित कर्मोंको करता हुआ इस प्रकारका भाव रक्खे और जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय—जो-जो सामने आवे, उसमें ब्रह्मदृष्टि करे, इससे बहुत ही शीघ्र ब्रह्मभावकी जागृति हो जाती है।

(ख) व्यवहारमें कभी प्रिय विषयोंकी प्राप्ति होती है तो कभी अप्रियकी। अनुकूलमें प्रियता और प्रतिकूलमें अप्रियता होती ही है। ज्ञाननिष्ठाके साधकको उनमें प्रिय अथवा अप्रिय बुद्धि न करके ब्रह्मभाव करना चाहिये, और परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित होकर विचरण करना चाहिये। कहीं भी राग-द्वेष नहीं होना चाहिये। यह साधन प्रारब्धानुसार प्राप्त भोगमें राग-द्वेषका अभाव करके ब्रह्ममें स्थित होनेकी दृष्टिसे है। यह गीताके निम्न श्लोकके अनुसार है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
(५। २०)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

(ग) छान्दोग्योपनिषद् (३। १४। १) के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब कुछ ब्रह्म ही है—इस वचनके अनुसार सम्पूर्ण चराचर भूतोंके बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दूर-निकट एवं उन भूत-प्राणियोंको भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म समझकर उपासना करना।

तात्पर्य यह है कि ध्यानके समय केवल एक अखण्ड ब्रह्म ही सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा परिपूर्ण है—इस भावमें स्थित हो जाना। गीता-में इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
(१३।१५)

'वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है।'

(२) 'जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत हो रहा है, वह मायामय है—इस प्रकार सबका बाध करके जो शेष बच जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है'—इस द्वितीय साधनके अवान्तर भेदोंका उल्लेख नीचे किया जाता है।

(क) यह जो जीवात्मा और परमात्माका भेद प्रतीत हो रहा है, वह अज्ञानके कारण प्रतीत होनेवाली शरीरकी उपाधिसे ही है। ज्ञानके अभ्यासद्वारा उस भेदप्रतीतिका बाध करके नित्य विज्ञानानन्दघन गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको विलीन करनेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करते-करते एक निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी किञ्चिन्मात्र सत्ता नहीं रहती। उपासनाका यह प्रकार जीव और ब्रह्मकी एकताको लक्ष्यमें रखकर है। गीतामें इसका वर्णन इस प्रकार आया है—

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।
(४ । २५)

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं ।'

(ख) साधारणतया ध्यानका अभ्यास प्रारम्भ करनेपर साधकको चार वस्तुएँ जान पड़ती हैं—मन, बुद्धि, जीव और ब्रह्म । साधन प्रारम्भ करते ही जो कुछ स्थूल दृश्य प्रतीत होता है, वह सब भुलाकर मन, बुद्धि और अपने-आपको सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप करनेका अभ्यास करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । जैसे विशाल समुद्रमें बर्फकी चट्टानके ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, सब ओर जल-ही-जल होता है और वह चट्टान स्वयं भी जलमय ही है—वैसे ही सबको ब्रह्ममय अनुभव करना चाहिये; ऐसा करनेसे क्रमशः मन, बुद्धि और जीव परब्रह्म परमात्मामें लीन हो जाते हैं, और केवल परमात्मा-ही-परमात्मा रह जाता है । गीतामें इस साधनका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(५ । १७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं ।'

(ग) ब्रह्म अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं विलक्षण वस्तु है। वह चराचर जड़-चेतन संसारमें है भी और नहीं भी है। यह संसार परमात्माका संकल्पमात्र है—इसलिये वह इसमें अधिष्ठानरूपसे विराजमान है। इस दृष्टिसे कह सकते हैं कि वह सर्वत्र परिपूर्ण है। वास्तवमें यह संसार संकल्पमात्र ही है, इसलिये कोई वस्तु नहीं है; तब व्यापक-व्याप्य भाव कैसे बनेगा। इस दृष्टिसे देखें तो एकमात्र परमात्मा ही है। वह किसीमें व्यापक नहीं है। यह संसार भी उस परमात्मामें है और नहीं भी है। इसका कारण यह है कि वह अपने-आपमें ही स्थित है और यह संसार उसीमें प्रतीत हो रहा है। प्रतीतिकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि यह संसार उसीमें है। परन्तु वास्तवमें यह जगत्, स्वप्नवत् कल्पनामात्र होनेके कारण परमात्मामें सर्वथा है ही नहीं। गीताके निम्न श्लोक इस बातका भी संकेत करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
(९।४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बर्फके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
(९।५)

'वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं, मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको

देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है ।

यद्यपि इन दोनों श्लोकोंमें वर्णन तो सगुण-निराकार परमात्माके स्वरूपका है, परन्तु ज्ञानयोगका साधक निर्गुण निराकारकी दृष्टिसे भी यह उपासना कर सकता है । * इस प्रकारका अभ्यास करते-करते सारे संसारका अभाव हो जाता है, और एक परमात्मा ही शेष रह जाता है । यह साधन तो ब्रह्मकी अलौकिकताकी दृष्टिसे है । अब आगेका साधन ब्रह्म सत् और असत्से विलक्षण है, इस दृष्टिसे लिखा जाता है ।

(घ) ब्रह्मका स्वरूप ऐसा विलक्षण है कि उसे न सत् कह सकते हैं और न असत् । वह सत् और असत् दोनों ही शब्दोंसे अनिर्वचनीय है । वह सत् तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि मनुष्यकी बुद्धिके द्वारा जिस अस्तित्वका ग्रहण होता है, वह जड़का ही होता है । चेतन वस्तु जड़ बुद्धिका विषय नहीं है । इस दृष्टिसे वह सत्से विलक्षण है । परन्तु उसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वास्तवमें उसका अस्तित्व है । जो इस प्रकार सत् और असत्से विलक्षण अचिन्त्य, अनादि, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वको समझकर उसका पुनः-पुनः चिन्तन करता है, उसके लिये सारे संसारका बाध हो जाता है और उस अमृतमय परब्रह्म परमात्माकी सदाके लिये अभेदरूपसे प्राप्ति हो जाती है । वह स्थिति मन-बुद्धिसे परे और वाणीसे अतीत है । उसका कहना-सुनना नहीं हो सकता ।

* इसका विस्तार श्रीगीतातत्त्व-विवेचनी पृष्ठ ३३२ और ३३४में देखना चाहिये ।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
(१३ । १२)

'जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही ।'

(ङ) ब्रह्मके अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं सत्, असत्से विलक्षण होनेपर भी सच्चिदानन्दस्वरूप होनेके कारण केवल सत्ताको प्रधानता देकर भी उसकी उपासना की जा सकती है । जगत्में जितने भी विनाशी पदार्थ देखनेमें आते हैं, उन सबमें अविनाशी परमात्माको समभावसे देखना चाहिये । जैसे एक ही आकाश घड़ोंकी उपाधिके भेदसे अनेकों रूपमें प्रतीत होता है, वास्तवमें अनेक नहीं है, घड़ोंकी उपाधि नष्ट हो जानेपर वह एक ही दीखने लगता है, और वास्तवमें वह एक ही है । घड़ोंकी उपाधि रहनेपर भी आकाश-में भिन्नता नहीं आती । वैसे ही एक ही परमात्मा शरीरोंके भेदसे अनेक-सा दीखता है, परन्तु वास्तवमें एक ही है । इस प्रकार समझकर जो इस नाशवान् जगत्में एक नित्य विज्ञानानन्दघन अविनाशी परमात्माको सदा-सर्वदा समभावसे देखता है, वह इस जड संसारका बाध करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इसका उल्लेख यों हुआ है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
(१३ । २७)

'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

(१८ । २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

(च) जिस प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी सत्ताको प्रधानता देकर उपासना हो सकती है, वैसे ही केवल चेतनभावको प्रधानता देकर भी हो सकती है। उसका प्रकार यह है कि ब्रह्म अज्ञानरूप अन्धकारसे परे सबका प्रकाशक और विज्ञानमय है। उसका स्वरूप परम चैतन्य एवं अखण्ड अनन्त ज्योतिर्मय है। जो ब्रह्मके इस रूपके ध्यानमें तन्मय हो जाता है, वह भी इस जड़ संसारका बाध करके अभेदरूपसे सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इस स्वरूपकी उपासना निम्नलिखित श्लोकमें वर्णित है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

(१३ । १७)

'वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्व-ज्ञानसे प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।'

(छ) सत् और चेतनभावके समान ही आनन्दभावकी

प्रधानतासे भी उपासना होती है। साधकको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि परिपूर्ण, अनन्त, विज्ञानानन्दघन परमात्मा आनन्द-का एक महान् समुद्र है और मैं उसमें बर्फकी डलीकी तरह डूब-उतरा रहा हूँ। मेरे नीचे-ऊपर, भीतर-बाहर सर्वत्र आनन्दकी ही धारा प्रवाहित हो रही है—आनन्दकी ही तरङ्गें उठ रही हैं और सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्दकी बहार मची हुई है। यह आनन्द कैसा है? पूर्ण है, अपार है, शान्त है, घन है, अचल है, यह ध्रुव, नित्य तथा सत्य है, यही बोधस्वरूप है, यही ज्ञानस्वरूप है—यह आनन्द अचिन्त्य है, सर्वश्रेष्ठ है, सम है, यह आनन्द ही सत्ता है, यह आनन्द ही चेतन है, यह आनन्द ही सब कुछ है। जब साधक इस प्रकार ब्रह्मके आनन्दभावकी भावना करते-करते उसीमें मग्न हो जाता है, तब उसकी स्थिति निम्नलिखित हो जाती है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(६।२१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।'

यहाँतक जिन उपासनाओंका उल्लेख किया गया है, वे तत्पदार्थको लक्ष्यमें रखकर 'इदम्' रूपसे की जानेवाली हैं। वास्तव-में ब्रह्म 'इदम्' अथवा 'अहम्' किसी भी वृत्तिका विषय नहीं है।

साधककी उपासनाके लिये ही उसका वृत्त्यारूढ रूपसे वर्णन किया जाता है। जैसे ऊपर 'इदम्' वृत्तिके द्वारा होनेवाली उपासनाका वर्णन हुआ, वैसे ही 'त्वम्' पदके लक्ष्यार्थको दृष्टिमें रखकर 'अहम्' बुद्धिसे होनेवाली उपासनाकी पद्धति नीचे बतलायी जाती है।

(३) 'सर्वं यदयमात्मा' (बृ० उ० २ । ४ । ६) इस श्रुतिके अनुसार जो कुछ है, वह सब आत्मा ही है अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस तृतीय साधनके अवान्तर-भेद लिखे जाते हैं। इसके केवल तीन प्रकार ही बतलाये जाते हैं। प्रथममें यह दृष्टि रक्खी गयी है कि समस्त भूत-प्राणी आत्माके अन्तर्गत हैं। दूसरे-में यह दृष्टि रक्खी गयी है कि भूत और आत्मा ओतप्रोत हैं। तीसरे-में सबके सुख-दुःखको आत्मसदृश अनुभव करनेकी बात है। उनका विवरण निम्नलिखित है—

(क) साधकको चाहिये कि तत्त्वदर्शी महात्मा पुरुषोंकी सेवामें उपस्थित होकर ज्ञाननिष्ठाके तत्त्वको सरलतासे समझे, और अज्ञानजनित देहात्मबुद्धिको हटाकर नित्यविज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और अपने अनन्त चेतन आत्म-स्वरूपके अन्तर्गत सारे चराचर भूत-प्राणियोंको एक अंशमें स्थित समझे। वह ऐसा अभ्यास करे कि जैसे आकाशसे उत्पन्न वायु, जल, तेज और पृथ्वी उसके एक अंशमें स्थित हैं, वैसे ही मुझ अनन्त नित्य-विज्ञानानन्दघन आत्माके एक अंशमें यह सारा संसार स्थित है। इस प्रकार पुनः-पुनः अभ्यास करनेसे साधक सच्चिदा-नन्दघन परमात्माको अभेदरूपसे प्राप्त कर लेता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

(४ । ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्व-को भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

(४ । ३५)

'जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा ।'

(ख) जो कुछ जड़-चेतन, चराचर प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है । ब्रह्म ही आत्मा है, इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है । जैसे सर्वव्यापी आकाश सम्पूर्ण बादलोंमें सर्वत्र समानभावसे व्यापक रहता है, वैसे ही इन समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें आत्मा समानभावसे व्यापक रहता है । जिस प्रकार आकाशसे ही झुंड-के-झुंड बादल पैदा होते हैं और उसीमें स्थित रहते हैं, इसलिये सारे बादलोंका कारण और आधार आकाश ही है, ठीक वैसे ही समस्त भूत-प्राणियोंका कारण और आधार आत्मा है । इस प्रकार समझकर चराचर भूत-प्राणियोंको अपना स्वरूप ही समझना चाहिये और

सबको अपनी आत्मामें तथा आत्माको सारे भूत-प्राणियोंमें समभावसे देखना चाहिये। इस प्रकारके अभ्याससे मनुष्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६।२९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।'

(ग) जैसे देहाभिमानी मनुष्य अपने देहके हाथ-पैर आदि सारे अङ्गोंमें अपने आपको और सुख-दुःखोंकी प्राप्तिको समभावसे देखता है, वैसे ही साधकको चाहिये कि सम्पूर्ण विश्वको आत्मा समझकर समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें अपने आपको और उनके सुख-दुःखोंको समभावसे देखनेका अभ्यास करे। अभिप्राय यह है कि जैसे मनुष्य अपने आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये अथक प्रयत्न करता है, वैसे ही साधक विश्वके किसी भी व्यक्तिको कभी किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी दुःख न पहुँचाकर सदा तत्परताके साथ उसके सुखके लिये चेष्टा करे। इस प्रकार समस्त भूतोंको आत्मा समझकर उनके हितकी चेष्टा करनेसे मनुष्य सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इस भावको इस प्रकार प्रकट किया गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(६ । ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।'

(४) शरीर आदि जितने भी दृश्यपदार्थ हैं, वे सब नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें नहीं हैं । 'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा अविनाशी नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन होनेसे सत्य वस्तु है । ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस चतुर्थ साधनके कुछ अवान्तर-भेद बतलाये जाते हैं ।

(क) आत्मा अर्थात् 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ अजन्मा, अचिन्त्य, अचल, अक्रिय, सर्वव्यापी और अव्यक्त है । वह शाश्वत, अव्यय, अक्षर और नित्य होनेके कारण सत्य है । उस अविनाशीके ये प्रतीत होनेवाले विनाशशील, अनित्य और क्षणभङ्गुर देह आदि असत्य हैं, क्योंकि उस अधिष्ठानरूप, सत्यस्वरूप आत्माके स्वप्नवत् संकल्पके आधारपर ही ये टिके हुए हैं । इस प्रकार समझकर आत्माके सिवा सब विनाशशील जड़वर्गका अत्यन्त अभाव करके अपने अविनाशी सत्यस्वरूप आत्मामें ही नित्य-निरन्तर बुद्धिको लगाना चाहिये । जब इस प्रकारके अभ्याससे वृत्ति आत्माकार हो जाती है, तब शेषमें एक आत्मा ही बच रहता है और वही अपना स्वरूप है । इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे इस क्षणभङ्गुर

एवं जड़ दृश्यवर्गका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥

(२। १७-१८)

'नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग—व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।'

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

(२। १९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते, क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(२।२०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

(ख) जिस प्रकार विनाशी पदार्थोंमें विद्यमान अविनाशी वस्तुकी सत्ताको प्रधानता देकर उपर्युक्त उपासना होती है, वैसे ही इन जड पदार्थोंका अभाव करके साक्षी और द्रष्टाके रूपमें चेतनको प्रधानता देकर भी होती है। यह संसार क्षणभङ्गुर, नाशवान्, अनित्य एवं जड है। इससे इन्द्रियोंको हटाकर अहंता, ममता, कामना और आसक्तिका त्यागकर विवेक एवं वैराग्ययुक्त बुद्धिसे निःसङ्कल्पताका अभ्यास करना चाहिये—अर्थात् जो कुछ दृश्य सामने आवे, उसको अनित्य और नाशवान् समझकर उसके अभावका अभ्यास करना चाहिये। उनकी विनाशिता और अनित्यताका विचार इसमें सहायक होता है। इस प्रकार पुनः-पुनः सबके अभाव तथा निःसङ्कल्पताका अभ्यास करते-करते अन्तमें केवल चेतन पुरुष ही बच रहता है। वही ब्रह्म है। यह बात समझकर अभ्यास करनेसे अचिन्त्य विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। गीतामें यह बात इस प्रकार कही गयी है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥
(६ । २५)

'क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको आत्मामें स्थित करके आत्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे ।'

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥
(१३ । ३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिके अभावको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्मा-जन परमब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ।'

(ग) जिस प्रकार सत्की प्रधानता और चेतनकी प्रधानतासे अहम् (त्वम्) पद लक्ष्यार्थ ब्रह्मकी उपासना होती है, वैसे ही आनन्दकी प्रधानतासे भी ब्रह्मकी उपासना होती है । साधकको चाहिये कि दृश्यमात्र-को नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर सबको मनसे त्याग दे और एकमात्र आत्मानन्दका ही चिन्तन करे । आनन्द ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है । ऐसा समझकर यह अनुभव करे कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, सत्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, परम आनन्द, अत्यन्त आनन्द, सम आनन्द, चेतन आनन्द, एक आनन्दके सिवा और कुछ नहीं है । वह आनन्द ही आत्मा है । आनन्द ही मेरा

स्वरूप है । मुझ आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है— इस प्रकारका अभ्यास करते-करते अपनेको उस आनन्दसागर आत्मस्वरूपमें इस प्रकार विलीन कर दे जैसे जलमें बर्फकी डली । इस प्रकारके अभ्याससे साधक संसारसे मुक्त होकर विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है । गीताजीमें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥
(५ । २१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है ।'

(घ) जिस प्रकार सत्, चित् और आनन्दको अलग-अलग प्रधानता देकर उपासना की जाती है, वैसे ही उनको एक साथ मिलाकर भी चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द दोनोंकी प्रधानतासे इस प्रकार उपासना करनी चाहिये । सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाओंको मायामय समझकर सारे सङ्कल्पोंसे रहित हो जाय और 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदा० १ । ४ । १०) इस श्रुतिके अनुसार एक नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको ही आत्मा समझकर अर्थात् वह सच्चिदानन्दघन मेरा स्वरूप ही है—इस ज्ञानपूर्वक दृढ निश्चयके साथ उसमें अभेदरूपसे स्थित होना चाहिये । उसमें स्थित होकर विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपका इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये । आत्मस्वरूप वास्तवमें परिपूर्ण चेतन, अपार अचल, ध्रुव नित्य, परम सम, अनन्त पूर्णानन्द एवं परम शान्तिमय है ।

आत्मामें अज्ञानान्धकाररूपिणी माया नहीं है। वह उससे अत्यन्त विलक्षण, परम देदीप्यमान प्रकाश और परम विज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार समझकर उसका निरन्तर चिन्तन करते हुए उसीमें रमते हुए तन्मय होकर आनन्दमग्न रहना चाहिये। ऐसे अभ्याससे उस परमपद, अचिन्त्यस्वरूप, परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
(गीता ५। २४)

'जो पुरुष निश्चयपूर्वक अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'*

(ङ) अहंता, ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, प्रमाद-आलस्य, निद्रा और पाप आदिसे रहित होकर अपने विज्ञानानन्दघन अनन्त आत्मस्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और इस शरीर तथा संसारको अपने आत्माके एक अंशमें संकल्पके आधारपर स्थित समझकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मनके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली समस्त क्रियाओंके होते समय यह समझे कि यह सब मायामय गुणोंके कार्यरूप मन, प्राण, इन्द्रिय आदि अपने-अपने मायामय गुणोंके कार्यरूप विषयोंमें विचर रहे हैं—

* यह साधन ध्यानकी दृष्टिसे है—अब आगेका साधन व्यवहारकी दृष्टिसे बतलाया जाता है।

वास्तवमें न तो कुछ हो ही रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है अर्थात् नेत्रेन्द्रिय रूप देख रही है—श्रवणेन्द्रिय शब्द सुन रही है, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श कर रही है—घ्राणेन्द्रिय सूँघ रही है—रसना रस ले रही है—वागिन्द्रिय बोल रही है—इसी प्रकार सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं—इन सबके साथ मुझ चेतन द्रष्टा साक्षी आत्माका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार कर्तापनके अभिमानसे रहित हो नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपको लक्ष्यमें रखते हुए सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाओंको मायामय समझकर द्रष्टा साक्षी होकर विचरे—तात्पर्य यह है कि मन, इन्द्रियाँ और उनके विषय जो कुछ भी देखने और समझनेमें आते हैं, वे सब सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप होनेके कारण गुण ही हैं—इसलिये जो कुछ भी क्रिया अर्थात् चेष्टा होती है, वह गुणोंमें ही होती है। यह सब क्षणभङ्गुर, जड और मायामय होनेके कारण अनित्य हैं। 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा द्रष्टा, साक्षी और चेतन होनेके कारण नित्य, सत्य और उनसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-सोते, सब समय इन मायामय पदार्थों और कर्मोंका अभाव समझकर चिन्मय, साक्षी आत्माको उन सबसे अलग और निर्लेप अनुभव करना चाहिये और अचल तथा नित्यरूपसे स्थित रहना चाहिये। जो कुछ दृश्यमान पदार्थ हैं, वे मायामरीचिकाकी भाँति बिना हुए ही प्रतीत होते हैं—वास्तवमें एक द्रष्टा साक्षी चेतन, निर्लेप आत्मा ही है। इस प्रकार अभ्यास करते-करते दृश्यमान संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

(गीता ५ । ८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

(गीता १४ । १९)

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ।'

यह साधन सब प्रकारके विहित कर्मोंको करते हुए भी चलता रहता है ।

(च) यह साधना विचारकालकी है । इसके द्वारा आत्माके परत्वका विचार होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । इसकी पद्धति यह है कि यह दृश्यमान शरीर पृथ्वीपर स्थित है, इसलिये पृथ्वी

इससे परे है। पृथ्वीसे तेज, वायु, आकाश, समष्टि मन और महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) उत्तरोत्तर पर हैं। महत्तत्त्वसे भी पर अव्याकृत माया है और उससे भी परे परम पुरुष परमात्मा है। परमात्मासे परे और कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि वह सबकी सीमा है। इस प्रकार बाह्यदृष्टिसे नित्य विज्ञानानन्दघन तत्त्वको पर-से-पर विचार करके आभ्यन्तर दृष्टिसे पर-से-पर आत्माका चिन्तन करना चाहिये। स्थूल शरीरसे परे सूक्ष्म और आभ्यन्तर प्राण हैं। प्राणोंसे इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उत्तरोत्तर पर, सूक्ष्म एवं आभ्यन्तर हैं। तदनन्तर स्वभाव अर्थात् अव्याकृत मायाका अंश है। उससे पर और आभ्यन्तर आत्मा है। वही अपना स्वरूप है। उससे सूक्ष्म और आभ्यन्तर कुछ भी नहीं है। वह स्वयं ही अपने आप है, और सबकी सीमा है। आत्मासे लेकर परमात्मातक जो कुछ भी दृश्यवर्ग है वह मायामय है—मायाका कार्य है। इसीके कारण आत्मा और परमात्मामें घटाकाश और महाकाशकी भाँति भेद-सा प्रतीत होता है। वास्तवमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जिस प्रकार घटके नाशसे घटाकाश और महाकाशकी एकता प्रत्यक्ष दीखने लगती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानके द्वारा मायामय अज्ञानका नाश होनेपर आत्मा और परमात्माकी एकताका साक्षात्कार हो जाता है अतएव मायाके कार्यरूप दृश्यमान जड जगत्को कल्पित अथवा प्रतीतिमात्र समझकर इसके चिन्तनसे रहित हो जाना चाहिये, और एक नित्य विज्ञानानन्दघन आत्माके स्वयंसिद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये; इस प्रकारके अभ्याससे मनुष्य परमगतिस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यही बात गीता और कठोपनिषद् भी कहती है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
(३ । ४२)

'इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है, वह आत्मा है ।'

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥
(कठोपनिषद् १ । ३ । १०-११)

'इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय पर हैं, विषयोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) पर है । महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूलप्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है । पुरुषसे पर और कुछ नहीं है । वही [सूक्ष्मत्वकी] पराकाष्ठा (हद) है, वही परा गति है ।'

(छ) परमात्माको प्राप्त पुरुषकी जैसी स्वाभाविक स्थिति होती है, उसको लक्ष्य करके वैसी ही स्थिति प्राप्त करनेके लिये साधक साधन करता है । इस दृष्टिसे साधकको चाहिये कि स्वप्नसे जगनेके बाद जैसे स्वप्नकी सृष्टिमें सत्ता, ममता और प्रीति लेशमात्र भी नहीं रहती, वैसे ही इस संसारको स्वप्नवत् समझे, एवं ममता और आसक्तिसे रहित होकर संसारके बड़े-से-बड़े प्रलोभनोंमें भी न फँसे

और किसी भी घटनासे किञ्चिन्मात्र भी विचलित न हो। साथ ही किसीके साथ अपना कोई सम्बन्ध न समझे। राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंसे रहित होकर सदा-सर्वदा निर्विकार अवस्थामें स्थित रहे और अपने नित्य-विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपका नित्य निरन्तर चिन्तन करे। इस प्रकार अपने आत्मामें ही रमण करता हुआ आत्मानन्दमें ही तन्मय और मग्न रहे। यह अभ्यास करनेसे मनुष्य क्लेश, कर्म और सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त होकर परमशान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। गीतामें परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन इस प्रकार है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(३।१७)

'जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

इस प्रकार ज्ञाननिष्ठाकी साधनाके अनेक अवान्तर भेद शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। यहाँ केवल श्रीमद्भगवद्गीताकी दृष्टिसे कुछ बातें लिखी गयी हैं। साधकोंकी श्रद्धा, रुचि, धारणा, पद्धति और अधिकारभेदसे और भी बहुत-से भेद हो सकते हैं। पूर्वोक्त साधनोंमेंसे किसी भी एक साधनका लगन और तत्परताके साथ अनुष्ठान करनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। सभी साधनोंका फल एक ही है। अतएव ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको पूर्वोक्त साधनोंमेंसे किसी एकको अपनाकर तत्परताके साथ लग जाना चाहिये।

निर्गुण-निराकारका ध्यान

दृश्यका बाध

जो कुछ भी दृश्यमात्र है, वह सब मायामय है, स्वप्नवत् है। जैसे स्वप्नसे जगनेके बाद स्वप्नके संसारका नाम-निशान नहीं है, उससे भी बढ़कर इसका अत्यन्त अभाव है। स्वप्नका संसार स्वप्नसे जगनेके बाद काल्पनिक सत्ताको लिये हुए है अर्थात् कल्पनामात्र है। किन्तु परमात्माके स्वरूपमें जगनेके बाद अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार होनेके बाद यह संसार कल्पनामात्र भी नहीं है। क्योंकि स्वप्नमें जो संसार जिन मन-बुद्धिमें प्रतीत हुआ था, जगनेके बाद वही मन-बुद्धि हैं, पर उन मन-बुद्धिमें स्वप्नके संसारकी कोई सत्ता कायम नहीं है। इसलिये वह सत्ता कल्पना मानी गयी है। परमात्माकी प्राप्ति होनेके उत्तरकालमें तो ये मन, बुद्धि मायिक होनेके कारण यहीं इस मायामय शरीरमें ही रह जाते हैं। इसलिये परमात्माके स्वरूपमें इस संसारका अत्यन्त अभाव है। परन्तु जिस व्यक्तिको लोग परमात्माकी प्राप्ति हुई मानते हैं, उस व्यक्तिके अन्तःकरणमें यह संसार स्वप्नवत् है—ऐसा शास्त्र कहते हैं। अतः साधक पुरुषको उचित है कि संसारको मायामात्र, स्वप्नवत्, आकाशमें प्रतीत होनेवाले तिरवरोंकी भाँति अथवा मरुमरीचिकाकी तरह, वास्तवमें कोई पदार्थ है नहीं, केवल प्रतीति

होती है—ऐसा समझकर उसका मनसे कतई त्याग कर दे अथवा यों कहिये कि सङ्कल्परहित हो जाय, स्फुरणारहित हो जाय, संसारको भुला दे।

किसी कविने कहा है—

मन फुरनासे रहित कर, जौनहि विधिसे होय।
चाहे भक्ति चाहे ज्ञानसे, चाहे योगसे खोय॥

अद्वैत-सिद्धान्तका सार यह है कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा कुछ भी न हुआ है, न है। तीनों कालोंमें इस दृश्यका तथा उन तीनों कालोंका भी अत्यन्त अभाव समझकर एक, नित्य विज्ञान-आनन्दघन परमात्मामें तन्मय हो रहना चाहिये।

परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन

परमात्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं। ये तीनों परमात्माके स्वरूप हैं। ये विशेषण नहीं हैं; क्योंकि यहाँ विशेषण और विशेष्य-का भेद नहीं है। ये उनके गुण भी नहीं हैं; क्योंकि परमात्मामें गुण और गुणीका भेद नहीं है और न ये उनके धर्म ही हैं; क्योंकि उनमें धर्म और धर्मीका भी भेद नहीं है।

सत्—

हमलोगोंको सत् एक दूसरी वस्तु प्रतीत होती है, चित् एक दूसरी वस्तु प्रतीत होती है और आनन्द एक और ही वस्तु प्रतीत होती है; पर बात ऐसी नहीं है। जो सत् है, वही चेतन है और जो चेतन है, वही आनन्द है। या यों कहिये कि जो चेतन है, वही सत् है और जो सत् है, वही आनन्द है। अथवा यों कहिये कि जो आनन्द है, वही चेतन है और जो चेतन है वही सत्

है। जिस सत्‌को हमलोग सत् मानते हैं, वह सत् वास्तवमें परमात्माका स्वरूप नहीं है; क्योंकि परमात्माका स्वरूप उस सत्‌से विलक्षण है।

गीतामें कहा है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(१३। १२)

'जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।'

बुद्धिके द्वारा समक्षमें आनेवाली सत्ता मायिक सत्ता है। इसलिये वह मायाका ही कार्य है। साधक पुरुषको उसमें परमात्म-बुद्धि करनेसे परमात्माकी प्राप्ति तो हो जाती है, किन्तु वास्तवमें वह सत् परमात्माका स्वरूप नहीं है; क्योंकि यह बुद्धि मायाका कार्य होनेसे मायातीत परमात्माका लक्ष्य नहीं कर सकती। उस सत्‌को बुद्धिविशिष्ट परमात्माका स्वरूप कहा जा सकता है, केवल निर्विशेष परमात्माका स्वरूप नहीं।

चेतन—

जिस चेतनको हमलोग चेतन समझते हैं, वह चेतन भी वास्तवमें परमात्माका स्वरूप नहीं है। उससे भी परमात्माका स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। इसलिये गीतामें कहा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(१३। १७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्व-ज्ञानसे प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।'

नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा जो ज्योतियाँ प्रतीत होती हैं इनसे तो बुद्धिके द्वारा समझमें आनेवाली ज्योतियाँ विलक्षण हैं अर्थात् प्रकाश आदिकी अपेक्षा विवेक और ज्ञान श्रेष्ठ हैं। उससे भी विलक्षण वह है जो चेतन आत्माके द्वारा चिन्मय वस्तु समझमें आती है; क्योंकि बुद्धि नेत्र और नेत्रोंके विषयको जानती है पर नेत्र बुद्धि या बुद्धिके विषयको नहीं समझ सकते। इसी प्रकार आत्मा बुद्धि और बुद्धिके विषयको जानता है, पर बुद्धि आत्माको नहीं जान सकती। यद्यपि आत्मा भी, जो अपने स्वरूपको जानता है, वह शुद्ध एवं सूक्ष्म हुई बुद्धिके द्वारा जानता है।

कठोपनिषद्में कहा है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(१।३।१२)

'सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें छिपा हुआ यह आत्मा सबको प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह सूक्ष्म बुद्धिवाले महात्मा पुरुषोंसे तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ही देखा जाता है।'

किन्तु बुद्धिके द्वारा भी जो आत्माका स्वरूप जाननेमें आता है, वह बुद्धिविशिष्ट परमात्माका स्वरूप है, केवल निर्विशेष स्वरूप तो

उससे भी विलक्षण है, जो किसी प्रकार बुद्धिके द्वारा भी जाना नहीं जा सकता ।

उपनिषद्में कहा है—

'···येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयात्··· ।'

(बृह० ४ । ५ । १५)

'जिससे इन सबको जानता है, उसको किससे जाना जाय ? वह ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है; आत्मा है; अगृह्य है, ग्रहण नहीं किया जाता; अशीर्य है, घिसता नहीं है; असंग है, आसक्त नहीं होता; असित है, व्यथाको प्राप्त नहीं होता; उसका विनाश नहीं होता । अरे, उस जाननेवालेको किसके द्वारा जाना जाय ?'

जाननेमें आनेवाले सारे (ज्ञेय) पदार्थ बुद्धिके ही कार्य हैं । उससे ज्ञान सूक्ष्म और महान् है तथा बुद्धिका कार्य होते हुए भी बुद्धिका स्वरूप ही है । उस ज्ञानसे भी ज्ञाता अनन्त है और वह बुद्धिसे अत्यन्त विलक्षण है । अभिप्राय यह कि ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान व्यापक, श्रेष्ठ, उत्तम, सूक्ष्म, चेतन और अनन्त है । पातञ्जलयोग-दर्शनमें भी कहा है—

'तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ।'

(४ । ३१)

'क्लेश और कर्मकी निवृत्ति होनेपर सम्पूर्ण आवरणरूप मलके दूर होनेसे ज्ञानकी अनन्ततामें ज्ञेय अल्प है ।'

तथा ज्ञानकी अपेक्षा आत्मा (ज्ञाता) सूक्ष्म, चेतन, आनन्द-रूप, महान् और विलक्षण है । यह जो आत्माका स्वरूप वर्णन किया गया है, इससे भी वह परमात्माका निर्विशेष स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है । वह जाननेमें नहीं आ सकता, क्योंकि वहाँ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूप त्रिपुटी नहीं है । वह प्रापणीय वस्तु है ।

आनन्द—

जिस आनन्दको हमलोग आनन्द समझते हैं, वह आनन्द भी वास्तवमें परमात्माका स्वरूप नहीं है; क्योंकि उससे परमात्माका आनन्द-स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है ।

गीतामें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।
(५ । २१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है ।'

निद्रा, आलस्य आदिसे उत्पन्न सुख तो तामसी है । उससे तो इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे होनेवाला सुख राजसी होनेसे श्रेष्ठ है । एवं आध्यात्मविषयसे प्राप्त हुआ ध्यानजनित सात्त्विक सुख उससे भी श्रेष्ठ है;किन्तु परमात्माका जो आनन्दमय स्वरूप बतलाया गया है, वह इन सबसे विलक्षण है । निद्रा, आलस्यसे होनेवाले सुखसे तो वह राजसी सुख इसलिये श्रेष्ठ है कि उसमें तो ज्ञान नहीं

रहता और इसमें ज्ञान रहता है। तथा विषय और इन्द्रियोंके संयोग-से उत्पन्न जो राजस सुख है, वह क्षणिक, नाशवान् एवं परिणाममें दुःखका हेतु है तथा सात्त्विक सुख उसकी अपेक्षा स्थायी और परिणाममें अमृततुल्य है। इसलिये अध्यात्मविषयक सात्त्विक सुखकी दृष्टिसे राजस सुख भी हेय—त्याज्य है। किन्तु परमात्माके स्वरूप-की दृष्टिसे तो ध्यानजनित अध्यात्मविषयक सात्त्विक सुख भी अपेक्षा-कृत निम्न श्रेणीका है। इसलिये उसकी दृष्टिसे यह भी त्याज्य है। गीतामें बतलाया है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥
(१४।६)

'हे निष्पाप! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् अभिमानसे बाँधता है।'

ध्यानजनित सुख भी देश-कालसे सीमित होने और बुद्धिका विषय होनेके कारण जड, अल्प और अनित्य है।

जाननेवाला चेतन होता है, जाननेमें आनेवाली वस्तु जड होती है। जाननेमें अल्प चीज ही आती है और जो अल्प होती है, वह देश-कालसे सीमित ही होती है; किन्तु वह परमात्मा देश-कालसे रहित है। इसलिये परमात्माका आनन्दस्वरूप इन सबसे विलक्षण है।

उस लौकिक आनन्दका भान उस आनन्दको नहीं होता,

उसका जाननेवाला कोई दूसरा ही होता है, किन्तु परमात्माका स्वरूपभूत जो आनन्द है, उसे स्वयं अपने आपका ज्ञान है, वह दूसरेका विषय नहीं हो सकता, इसलिये वह चेतन है; और वह देश-कालसे अतीत है, इसलिये नित्य है। किन्तु इस प्रकारसे समझे हुए परमात्माके स्वरूपसे भी वह परमात्माका निर्विशेष स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। जिसका वर्णन किया गया है, यह भी बुद्धिविशिष्ट परमात्माका ही स्वरूप है। बुद्धिविशिष्ट परमात्माके स्वरूपको भी सूक्ष्म और शुद्ध हुई बुद्धिद्वारा समझा जा सकता है। इसीको बुद्धिग्राह्य, अतीन्द्रिय कहा है—

भगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(गीता ६। २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित वह कभी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।'

वह जो परमात्माका निर्विशेष स्वरूप है, उसका तो वर्णन विधि या निषेध—किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकता, किन्तु फिर भी वेद और शास्त्र जिसे लक्ष्यकर जिसकी व्याख्या करते हैं, उसे ध्येय बनाकर मनुष्य साधन करता है तो शाखाचन्द्रन्यायकी भाँति वह उस परमात्माको प्राप्त हो जाता है। शाखाचन्द्रन्यायका अभिप्राय

यह है कि द्वितीयाका चन्द्रमा किसी एकको दीख गया और दूसरे आदमीको दीखा नहीं। जिसको दीखता है, वह पुरुष दूसरेको एक वृक्षकी शाखाको लक्ष्य बनाकर यों समझाता है कि चन्द्रमा उस वृक्षकी शाखासे ठीक चार अंगुल ऊपर है। एक तीसरे आदमीको समझाता है कि चन्द्रमा उस मकानके कोनेसे सटा हुआ है। असलमें विचार किया जाय तो दोनों ही बातें गलत हैं, किन्तु इस प्रणालीसे उन्हें चन्द्रदर्शन हो जाता है। इसी प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये जितने साधन बतलाये गये हैं और परमात्माका जो स्वरूप बतलाया गया है, उसको लक्ष्य बनाकर साधक पुरुष परमात्माकी प्राप्तिका साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है।

परमात्माका जो साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, व्यक्त-अव्यक्त स्वरूप बतलाया गया है, वह सब ठीक भी है, वेठीक भी। क्योंकि साधु-महात्माओंने, वेद-शास्त्रोंने परमात्माके स्वरूपके विषयमें जो वर्णन किया है, उसको लक्ष्य बनाकर साधन करनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये तो वह बतलाना ठीक है। और वास्तवमें शब्दोंके द्वारा जो परमात्माके स्वरूपकी व्याख्या की गयी है, उससे परमात्मा अत्यन्त विलक्षण है; क्योंकि परमात्माके स्वरूपका वर्णन वाणीद्वारा हो ही नहीं सकता।

अतएव निराकारका ध्यान करनेवाले पुरुषोंको शास्त्रोंमें वर्णित परमात्माके स्वरूपको लक्ष्यकर किसी भी विधिसे तत्परतापूर्वक साधन करना चाहिये, इससे स्वतः वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो सकती है।

श्रीहरिः

'प्रत्येक मनुष्य अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्यका निष्काम-भावसे पालन करके इस परम गतिको प्राप्त कर सकता है। निःश्रेयसकी प्राप्तिमें छोटे-बड़े सबका समान अधिकार है; जो जहाँ है वह उसी स्थितिमें रहकर स्वधर्मका पालन करता हुआ भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। भगवान्‌की प्राप्तिके लिये किसीको भी अपना धर्म छोड़ने अथवा दूसरेका धर्म स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है। शम-दमादि-सम्पन्न वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन आदि रूप स्वधर्मके अनुष्ठानसे जिस पदको प्राप्त कर सकता है, नीचे-से-नीचा कर्म करनेवाला शूद्र अपने सेवारूप कर्मसे उसी गतिको पा सकता है। शूद्रके लिये यह उचित नहीं कि वह ब्राह्मणका कर्म करे। आवश्यकता है केवल कर्तव्यबुद्धिसे अथवा भगवत्प्रीत्यर्थ अपने विहित कर्मका अनुष्ठान करनेकी।'

—(इसी पुस्तकसे)